उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

DCB.Com.-101
प्रबन्ध सिद्धान्त

खण्ड 01 प्रबन्धः परिचय एवं समीक्षा

इकाई –01 प्रबन्ध की प्रकृति एवं क्षेत्र 7–26
इकाई –02 प्रबन्ध के स्तर 27–34
इकाई –03 प्रबन्ध के अध्ययन की अवधारणाएं 35–48
इकाई –04 प्रबन्ध के सिद्धान्त और प्रक्रिया 49–66

खण्ड 02 योजना और संगठन

इकाई –5 नियोजन के आधार तत्व 71–87
इकाई –6 योजना, नीतियाँ, अनुसूचियाँ और कार्यविधियाँ 89–108
इकाई –7 संगठन–I 109–120
इकाई –8 संगठन– II 121–136

खण्ड 03 संगठन

इकाई –09 विभागीकरण 141–152
इकाई –10 अधिकार सम्बन्ध 153–166
इकाई –11 प्रतिनिधायन 167–178
इकाई –12 विकेन्द्रीकरण 179–184

खण्ड 04 नियुक्तिकरण एवं निर्देशन

इकाई –13 नियुक्तिकरण / स्टाफिंग 189–200
इकाई –14 निर्देषन 201–211
इकाई –15 अभिप्रेरणा 213–236
इकाई –16 नेतृत्व 237–266

खण्ड 05 समन्वय एवं नियंत्रण

इकाई –17 समन्वय	271–283
इकाई –18 सम्प्रेषण	285–309
इकाई –19 नियंत्रण	311–322
इकाई –20 नियंत्रण की तकनीकें	323–336

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

DCB.Com.-101
प्रबन्ध सिद्धान्त

खण्ड

1

प्रबन्धः परिचय एवं समीक्षा

इकाई–1 प्रबन्ध की प्रकृति एवं क्षेत्र	7–26
इकाई–2 प्रबन्ध के स्तर	27–34
इकाई–3 प्रबन्ध के अध्ययन की अवधारणाएँ	35–48
इकाई–4 प्रबन्ध के सिद्धान्त और प्रक्रिया	49–66

ETH-138 / PLONE-031

विशेषज्ञ समिति

डॉ. ओमजी गुप्ता,	निदेशक, प्रबन्धन अध्ययन विद्याशाखा, उ.प्र. राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।
डॉ देवश रंजन त्रिपाठी,	सहायक आचार्य, व्यापार प्रबन्धन, प्रबन्धन अध्ययन विद्याशाखा, उ.प्र. राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।
प्रो. आर.सी. मिश्रा	निदेशक, प्रबन्धन अध्ययन एवं वाणिज्य विद्याशाखा, उत्तराखण्उ मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।
प्रो. लवकुश मिश्रा	निदेशक, इंस्टीट्यूट ऑफ टूरिज्म एण्ड होटल मैनेजमेंट, श्री भीमराव अम्बेडकर विश्वविद्यालय, आगरा।
प्रो. सोमेश शुक्ला,	विभागाध्यक्ष, वाणिज्य विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।
प्रो. राधेश्याम सिंह,	आचार्य, मोनिरबा, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

लेखक

प्रो. एच.के. सिंह	वाणिज्य संकाय, बी.एच.यू. वाराणसी

सम्पादक

प्रो. सुधीर कुमार शुक्ला	वाणिज्य एवं प्रबन्धन संकाय, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी उ.प्र.

संयोजकः

डॉ देवेश रंजन त्रिपाठी,	सह.आचार्य, व्यापार प्रबन्धन, प्रबन्धन अध्ययन विद्याशाखा, उ. प्र. राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

Printed year-2021

ISBN:978-93-83328-78-9

(c) उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस पाठयसामग्री का कोई भी अंश उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

नोट : पाठ्य सामग्री में मुद्रित सामग्री के विचारों एवं आमड़ों आदि के प्रति विश्वविद्यालय, उत्तरदायीं नहीं है।

प्रकाशन – उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की ओर से कर्नल विनय कुमार, कुलसचिव द्वारा पुनः मुद्रित एवं प्रकाशित २०२४.

मुद्रकः सिग्नस इन्फार्मेशन सल्यूशन प्रा० लि०, लोढ़ा सुप्रीमस साकी विहार रोड, अन्धेरी ईस्ट, मुम्बई।

ETH-138 / PLONE-031

खण्ड 01 प्रबन्धः परिचय एवं समीक्षा

प्रस्तुत खण्ड स्नातक वाणिज्य के अति महत्त्वपूर्ण पाठ्यक्रम वित्तीय लेखांकन का प्रथम सोपान है। इस खण्ड प्रबन्ध परिचय एवं समीक्षा पर आधारित है। इस खण्ड मे प्रबन्ध सम्बन्धी विभिन्न आधारभूत संकल्पनाओं को विस्तार से बिन्दुवार प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। इस खण्ड के अन्तर्गत प्रबन्ध के लक्षण, प्रकृति, प्रबन्ध बनाम प्रशासन, सामाजिक उत्तरदायित्व, संगठन के सम्बन्ध पछकार, वैज्ञानिक प्रबन्ध, व्यवहारवादी उपागम, प्रबन्ध प्रक्रिया उपागम, प्रबन्धकीय कार्य, प्रबन्ध सिद्धान्त की आवश्यकता, प्रबन्धकीय सिद्धान्तों की परिसीमाओं आदि प्रमुख संकल्पनाओं पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है, प्रमुख रुप इस खण्ड के अन्तर्गत कुल चार इकाइयों को सम्मिलित करते हुए इस खण्ड को अध्ययनोपयोगी बनाने का प्रयास किया गया है। आइये क्रमशः इन इकाईयों के अन्तर्गत समाहित की गयी विषय वस्तु को समझने का प्रयास करेंः–

इकाई–01 में प्रबन्ध की आवश्यकताएँ, प्रबन्ध का तात्पर्य एवं परिभाषाएँ प्रबन्ध का लक्षण, प्रबन्ध के लक्षण, प्रबन्ध की प्रकृति एक पेशे के रुप में तथा कला अथवा विज्ञान अथवा दोनों के रुप में, प्रबन्ध बनाम प्रशासन, प्रबन्ध का क्षेत्र।

इकाई–02 में प्रबन्धकीय कार्य, प्रबन्ध का सामाजिक उत्तरदायित्व, सामाजिक उत्तरदायित्वों के कारण, संगठन के सम्बन्ध का सामाजिक उत्तरदायित्व, सामाजिक उत्तरदायितवों के कारण, संगठन के सम्बन्ध पक्षकार।

इकई–03 में वैज्ञानिक प्रबन्ध, प्रशासनिक सिद्धान्त, प्रबन्ध का प्रणलीगत उपागत, मानवीय सम्बन्ध उपागम, निर्णयन सिद्धान्त उपागम, संयोगित या आकस्मिकता उपागम, व्यवहारवादी उपागम।

इकाई–04 में प्रबन्ध प्रक्रिया उपागम, प्रबन्धकीय कार्य, प्रबन्ध के सिद्धान्त प्रबन्ध के सिद्धान्त की आवश्यकता, प्रबन्धकीय सिद्धान्तों की परिसीमाएँ प्रबन्धः एक सार्वभौमिक प्रक्रिया के रुप में।

इकाई 01 प्रबन्ध की प्रकृति एवं क्षेत्र

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 प्रबन्ध के विविध अवधारणाएँ

1.3 प्रबन्ध का तात्पर्य एवं परिभाषाएँ

1.4 प्रबन्ध के लक्षण

1.5 प्रबन्ध की प्रकृति

1.5.1 प्रबन्ध : एक पेशे के रूप में

1.5.2 प्रबन्ध : कला अथवा विज्ञान अथवा दोनों के रूप में

1.6 प्रबन्ध बनाम प्रशासन

1.7 प्रबन्ध का क्षेत्र

1.8 सारांश

1.9 महत्वपूर्ण शब्दावली

1.10 आवश्यक प्रश्न

1.0 उद्देश्य

इस अध्याय के अध्ययन के उपरान्त आप निम्न प्रश्नों का उत्तर समझ पायेंगे–

- ❖ प्रबन्ध की अवधारणा क्या है?
- ❖ प्रबन्ध किस प्रकार विज्ञान और कला दोनों है?
- ❖ प्रबन्ध और प्रशासन में क्या सम्बन्ध है?
- ❖ प्रबन्ध एक प्रक्रिया और विषय है।
- ❖ ''प्रबन्ध एक पेशा है।'' कैसे?
- ❖ प्रबन्ध किस प्रकार एक सार्वभौकि प्रक्रिया है?
- ❖ प्रबन्ध के अर्थ और लक्षण क्या होते हैं?

1.1 प्रस्तावना

प्रबन्ध एक ऐसा शब्द है जिससे लगभग समाज का प्रत्येक व्यक्ति यहाँ तक कि अशिक्षित व्यक्ति भी सुपरिचित है। हम जब सिनेमाघर जाते हैं, तो देखते हैं कि वहाँ पर एक कमरे के बाहर प्रबन्धक की नाम पट्टी लगी हुई है, जब हम किसी भी बैंक में जाते हैं तो देखते हैं कि यघपि बैंक के सभी कर्मचारी एक साथ पास–पास बैठकर अपना–अपना कार्य कर रहे हैं, परन्तु एक कक्ष में अलग से एक व्यक्ति बैठा है एवं उसके कक्ष के बाहर 'शाखा प्रबंधक' की नाम पट्टी लगी हुई है। जब हम किसी महाविद्यालय में जाते हैं, तो पता चलता है कि उसकी प्रबन्ध समिति में अमुक वयक्ति प्रबन्धक है। किसी होटल में जाते हैं तो वहाँ भी प्रबन्धक नाम का व्यक्ति देखने को मिलता है। किसी कारखाने या अन्य किसी संस्था में जाते हैं, तो वहाँ भी प्रबन्धक होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि हम अपने व्यावहारिक जीवन में प्रबन्धक शब्द से भली–भाँति परिचित हैं। परन्तु, किसी व्यक्ति से यह पूछा जाय कि प्रबन्धक किसे कहते हैं, वह निरूत्तर सा हो जाता है, जबकि व्यावहारिक जीवन में वह इस शब्द से भली–भाँति परिचित होता है। वास्तव में, प्रबन्ध के अर्थ के प्रश्न पर उसकी स्थिति बिल्कुल वैसी ही हो जाती है जैसे कोई गूंगा व्यक्ति मिठाई खाता है तो वह मिठाई के स्वाद को अनुभव करता है, परन्तु स्वाद को अभिव्यक्त नहीं कर पाता। इसी प्रकार आम व्यक्ति प्रबन्धक शब्द से परिचित तो है, परन्तु शब्दो के परिधि में व्याख्या करना उसके लिए सम्भव नहीं होता है। वस्तुतः प्रबन्ध एक नवीन विषय, है फिर भी अति प्राचीन जीवन शैली है। **पीटर एफ० ड्रकर** के अनुसार ''प्रबन्धक एवं प्रबन्ध पकड़ में न आने वाले शब्द हैं।''

1.2 प्रबन्ध की अवधारणाएँ

प्रबन्ध की अवधारणाओं के सम्बन्ध में विद्वान एकमत नहीं हैं। प्रबन्ध के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के अपने अलग–अलग दृष्टिकोण हैं। कुछ विद्वान प्रबन्ध को 'प्रबन्ध प्रक्रिया' दृष्टिकोण से देखते हैं तो कुछ का विचार है कि प्रबन्ध अन्य लोगों के द्वारा तथा उनके साथ मिलकर काम करने करने की तकनीक है। कुछ लेखकों का कहना है कि प्रबन्ध लोगों का विकास है न कि वस्तुओं का निर्देशन। कुछ का विचार है कि प्रबन्ध निर्णय लेने की प्रक्रिया है। इस प्रकार प्रबन्ध के सम्बन्ध में भिन्न–भिन्न विद्वानों के भिन्न–भिन्न दृष्टिकोण हैं। प्रबन्ध की कुछ प्रमुख अवधारणाएँ तथा उनका विवेचन निम्न प्रकार हैः

1. **थियो हैमन की प्रबन्ध सम्बन्धी अवधारणा –प्रोफेसर थियो हैमन** ने प्रबन्ध शब्द का प्रयोग तीन अर्थों में किया है–

    (i) प्रबन्ध कर्मियों के अर्थ में,

    (ii) प्रबन्ध प्रक्रिया के रूप में एवं

    (iii) प्रबन्ध एक विज्ञानके रूप में।

(i) **प्रबन्ध कर्मियों के अर्थ में**—इस रूप में प्रबन्ध का अर्थ उन प्रबन्ध्कीय कर्मचारियों से है जो किसी संस्था में कार्यरत व्यक्तियों के समूह की क्रियाओं को नियन्त्रित करते हैं। अतः 'प्रबन्ध' को एक 'प्रबन्धकीय अधिकारी' के रूप में सम्बोधित किया जाता है। उदाहरणार्थ, एक कम्पनी का 'संचालक मण्डल', एक हिन्दू अविभाजित परिवार का 'कर्ता' या एक महाविघालय का प्राचार्य—ये सभी अपनी—अपनी संस्था के प्रबन्धक कहे जाते हैं।

(ii) **एक प्रकिया के रूप में**—प्रक्रिया के रूप में प्रबन्ध का अर्थ उन समस्त प्रबन्धकीय कार्यों, जैसे—नियोजन, संगठन, अभिप्रेरण समन्वय तथा नियन्त्रण से है जो निश्चित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए आवश्यक है। सरल शब्दों में 'प्रबन्ध' एक सतत् प्रक्रिया है जिसमें विभिन्न प्रबन्धकीय कार्यों का प्रयोग कार्यरत वर्ग के मानवीय प्रयासों, संसाधनों, मशीनों, कार्य—पद्धति व मुद्रा के श्रेष्ठतम उपयोग में किया जाता है, ताकि पूर्व—निर्धारित उद्देश्यों की प्राप्ति की जा सके। यह ध्यान रखें की विभिन्न कार्यों का प्रयोग एक निश्चित क्रम में ही किया जाता है। कोई एक कार्य अलग से नहीं किया जा सकता। सभी कार्य क्रमानुसार समन्वित ढंग से एक प्रक्रिया के रूप में किये जाते हैं।

'प्रबन्ध' वास्तव में एक प्रक्रिया है तथा नियोजन, संगठन, निर्देशन, समन्वय एवं नियन्त्रण उस प्रकिया के आधारभूत अंग हैं। प्रबन्ध को एक प्रक्रियाके रुप में स्वीकार करने वाले अन्य विद्वानों में जोसेफ एल० मैसी, जार्ज आर० टैरी, ई० एफ० एल० ब्रेच, न्यूमैन व समर, मैकफारलैण्ड, जेम्स एल० लुण्डी आदि का नाम मुख्य रुप से आता है।

(iii) **एक विज्ञान के रुप में**—विज्ञान के रुप में प्रबन्ध का अर्थ उस संगठित ज्ञान—समूह से है जिसका शिक्षण एवं प्रशिक्षण किया जा सकता है। वकालत, औषधि विज्ञान तथा इंजीनियरिंग की भाँति प्रबन्ध को एक पृथक् विधा माना जाता है, क्योंकि इसके भी अपने कुछ सार्वभौमिक सिद्धान्त हैं। इस प्रकार प्रबन्ध एक विज्ञान है।

अतः प्रबन्ध से आशय एक ऐसे व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह से है जो प्रबन्ध विज्ञान के नियमों व सिद्धान्तों का पालन करते हुए समन्वित तथा सतत् प्रक्रिया के रुप में प्रबन्धकीय कार्यों का निष्पादन करते हैं।

2. **'प्रबन्ध' अन्य लोगों के द्वारा तथा उनके साथ मिलकर काम करने की तकनीक है**—इस अवधारण के प्रमुख प्रवर्त्तक कुण्ट्ज हैराल्ड हैं। इस अवधारणा के अनुसार प्रबन्ध एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा प्रबन्धक दूसरे लोगों को एक औपचारिक दल के रुप में संगठित करते हैं, उनकी योग्यता तथा क्षमता के अनुसार कार्य सौंपते हैं तथा काम की प्रकिया में अपने नेतृत्व, निर्देशन तथा नियन्त्रण से अधिकतम कुशलता के साथ कार्य करने के लिए प्रेरित करते हैं। **कुण्ट्ज हैराल्ड** के

अनुसार, ''औपचारिक वर्गों में संगठित व्यक्तियों के द्वारा उनके साथ मिलकर काम करने की कला का नाम ही प्रबन्ध है।'' इस अवधारणा के चार मुख्य तत्व हैं–

(i) व्यक्तियों के औपचारिक संगठन का निर्माण,

(ii) ऐसे वातावरण का निर्माण करना जिसमें कि प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व के अनुसार काम करते हुए भी सामूहिक लक्ष्यों की प्राप्ति की दिशा में एक–दूसरे का सहयोग कर सकें,

(iii) कार्य–निष्पादन के मार्ग में आने वाली कठिनाईयों को दूर करना एवं

(iv) अभीष्ट उद्देश्यों को सार्थक रुप से प्राप्त करने में उस संगठित वर्ग व कार्यकुशलता को अधिकतम बनाना।

3. **'प्रबन्ध' वही है जो प्रबन्धक करता है** –प्रबन्ध की इस अवधारणा का **जेम्स लुण्डी** ने अपनी पुस्तक *Effective Industial Managements'* में विवेचन किया है। इस अवधारणा के अनुसार प्रबन्ध में इसके द्वारा किये जाने वाले कार्यों का समावेश किया जाता है। सामान्यतः प्रबन्ध के पाँच कार्य हैं–नियोजन, संगठन, निर्देशन, समन्वय, अभिप्रेरणा तथा नियन्त्रण।

4. **'प्रबन्ध' लोगों का विकास है न कि वस्तुओं का निर्देशन अतः यह कार्मिक प्रशासन है** –इस अवधारणा के प्रमुख प्रवर्तक **लारेंस ए० एप्पले** हैं, जिन्होंने प्रबन्ध के क्षेत्र में मानव तत्व को सर्वोच्च स्थान दिया है और भौतिक साधनों को इसके क्षेत्र से दूर रखा है। वास्तव में, साधन मानव के लिए होते हैं, न कि मानव साधन के लिए। यदि प्रबन्ध की तकनीक के माध्यम से मानव का पूरा विकास किया जाये एवं ऐसे विकसित मानव अपनी पूर्ण क्षमता के साथ निष्ठापूर्वक कार्य करें, तो निश्चित ही उत्पादकता में वृद्धि होगी। यह सामान्य अनुभव की बात है कि यदि मनुष्य पूर्ण क्षमता के साथ कार्य करता है, तो समस्त भौतिक साधन भी पूर्ण क्षमता के साथ कार्य करेंगे, क्योंकि कम्प्यूटर जैसे उन्नत यन्त्र भी मनुष्य की सक्रियता पर ही निर्भर करते हैं। मनुष्य का व्यक्तित्व एक कली या अधखिलें पुष्प की भाँति होता है, जिसमें प्रबन्ध के द्वारा ही निखार लाया जा सकता है। जिस प्रकार एक कुशल माली अपने वाटिका के वृक्षों को खाद–पानी देकर एवं प्रकाश आदि की उत्तम व्यवस्था करके वृक्षों की सुरक्षा करता है, तथा ऐसे श्रेष्ठ वातावरण में ही वृक्ष पुष्पित व पल्लवित होकर सबको सुख व शान्ति प्रदान करते हैं। इसी प्रकार एक कारखाने रूपी उद्यान में 'प्रबन्ध' रूपी माली मानव रूपी पर्यावरण को विकसित करके उच्च उत्पादकता रूपी पुष्पों एवं फलों से उपभोक्ताओं को सुख, शान्ति व सन्तोष प्रदान करता है। मनुष्यों के विकास में ही कारखाने या उद्योग का विकास छुपा रहता है। इसी तथ्य के आधार पर एक बार एक अमेरिकन कार्पोरेशन के अध्यक्ष ने अपने कर्तव्यों को बताते हुए कहा था, ''हम मोटरें, हवाई जहाज, फ्रीज, रेडियो या जूतों के फीते नहीं बनाते; हम बनाते हैं मनुष्य और मनुष्य इन वस्तुओं का निर्माण करते हैं।'' अतः स्पष्ट है कि 'प्रबन्ध व्यक्तियों का विकास है'। **एप्पले** ने प्रबन्ध को कार्मिक (या सेविवर्गीय) प्रशासन की संज्ञा दी है, क्योंकि सेविवर्गीय प्रशासन के द्वारा ही मनुष्यो का विकास किया जा सकता है।

5. **प्रबन्ध निर्णय लेने की प्रकिया है**–प्रबन्ध के इस दृष्टिकोण के अनुसार प्रबन्ध को निर्णय लेने तथा नेतृत्व करने का कार्य बतलाया गया है। इस धारणा के अनुसार प्रबन्धक की कुशलता का प्रमाण यही है कि वह सही समय पर सही निर्णय ले। प्रबन्ध के इस दृष्टिकोण के अनुसार ये भिन्न–भिन्न स्तरों पर भिन्न–भिन्न अधिकारियों के द्वारा लिये जाने चाहिएँ और प्रत्येक अधिकारी का निर्णय–क्षेत्र स्पष्ट तथा परिभाषित होना चाहिए। इस अवधारणा को मानने वालों में ड्रकर तथा स्टेनले वेन्स का नाम प्रमुख है।

6. **सार्वभौमिकता की अवधारणा**–इस अवधारणा के प्रवर्तक हेनरी फेयोल हैं। उनके मतानुसार प्रबन्ध एक सार्वभौमिक क्रिया है जो प्रत्येक संस्था में, चाहे वह आर्थिक हो या सामाजिक, धार्मिक हो या राजनैतिक, पारिवारिक हो या व्यावसायिक, समान रूप से सम्पन्न की जाती है। प्रबन्ध सिर्फ व्यवसाय के लिए ही नहीं बल्कि समस्त प्रकार की संगठित क्रियाओं के लिए सामान्य जरूरत है। **लारेंस ए० एप्पले** के अनुसार, ''जो प्रबन्ध कर सकता है वह किसी का भी प्रबन्ध कर सकता है।'' प्रबन्ध के सिद्धान्त सार्वभौमिक हैं जो सरल व्यक्तिगत कार्यों से लेकर बहुराष्ट्रीय नियमों पर लागू होते हैं।

7. **पेशेवर अवधारणा**–व्यवसाय का निरन्तर विकास होने और प्रबन्ध का स्वामित्व से अलगाव होने के कारण प्रबन्ध को एक पेशे के रूप में माना जाने लगा है। विश्व के सुविकसित राष्ट्रों मुख्यतया अमरिका, फ्रांस जापान आदि ने प्रबन्ध को एक स्वतन्त्र पेशे के रूप में स्वीकार कर लिया है। अपने देश में भी वर्तमान में जन्मजात एवं पारिवारिक प्रबन्धकों का स्थान पेशेवर प्रबन्धकों ने ग्रहण करना प्रारम्भ कर दिया है। आज प्रबन्धकों को अन्य पेशेवर व्यक्तियों; जैसे–चिकित्सक, वकील, चार्टर्ड एकाउण्टेड, अध्यापक की तरह पेशेवर व्यक्ति माना जाने लगा है।

8. **प्रणाली अवधारणा**–प्रबन्ध की इस अवधारणा के अनुसार प्रबन्ध एक प्रणाली है। प्रबन्ध को प्रणाली के रूप में देखने का तात्पर्य होता है एकीकृत दृष्टिकोण अपनाना। प्रणाली अवधारणा के अनुसार किसी एक पहलू के स्थान पर सभी पहलुओं पर एक साथ विचार किया जाता है। यह किसी एक ही भाग के अध्ययन के स्थान पर सम्पूर्ण या सभी भागों का अध्ययन करने पर बल देती है। प्रबन्ध की प्रणाली अवधारणा सभी अंगो के एकीकरण एवं समन्वय पर तो बल देती ही है, साथ ही साथ उप–प्रणालियों के पूर्ण विकास की ओर भी पर्याप्त ध्यान देती हैं।

1.3 प्रबन्ध का तात्पर्य एवं परिभाषा

प्रबन्ध की उपर्युक्त वर्णित अवधारणाओं से स्पष्ट है कि 'प्रबन्ध' एक व्यापक शब्द है, जिसे आधुनिक औद्योगिक जगत में विभिन्न अर्थों में प्रयोग किया जाता है। संकुचित अर्थ में इससे आशय 'अन्य व्यक्तियों से कार्य कराने की युक्ति' से है। इस दृष्टि से जो व्यक्ति अन्य लोगों से काम कराने की श्रेष्ठ क्षमता रखते हैं, उन्हें कुशल 'प्रबन्धक' कहते हैं। व्यापक अर्थ में, प्रबन्ध एक कला एवं विज्ञान है जो पूर्व निर्धारित लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए उत्पादन के विभिन्न घटकों में समन्वय स्थापित करता है। इस दृष्टि से यह स्वयं उत्पादन का एक महत्वपूर्ण घटक है। उत्पादन के विभिन्न साधनों में भूमि, पूँजी व

मशीन गैर–मानवीय साधन हैं, जबकि श्रम, साहस व प्रबन्ध मानवीय साधन हैं। यद्यपि उत्पादक के ये सभी साधन अपने–अपने स्थान पर महत्वपूर्ण हैं, किन्तु 'प्रबन्ध' इनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। यह वह सक्रिय एवं सजीव साधन है जो उत्पादन के अन्य साधनों को एकत्र करता है, भविष्य के लिए नियोजन करता है, संस्था में संगठनात्मक कलेवर का निर्माण करता है व्यवसायिक क्रियाओं का निर्देशन व संचालन करता है, उनमें आवश्यक समन्वय स्थापित करता है तथा समस्त क्रियाओं पर नियन्त्रण रखता है। संक्षेप में, **''प्रबन्ध एक कला एवं विज्ञान है जो संस्था के सामान्य लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए विभिन्न व्यक्तियों व सामूहिक प्रयासों के नियोजन, संगठन, निर्देशन, समन्वय एवं नियन्त्रण से सम्बन्ध रखता है।''**

विभिन्न विद्वानों ने प्रबन्ध की परिभाषाएँ अपने–अपने दृष्टिकोण से दिया है। प्रबन्ध की उपरोक्त अवधारणाओं के अध्ययन के उपरान्त इसके अर्थ को और अधिक स्पष्टता के साथ समझने के लिए कुछ महत्वपूर्ण परिभाषाएँ नीचे प्रस्तुत की जा रही हैं–

1. **स्टेनले वेन्स** के अनूसार, ''प्रबन्ध केवल निर्णय लेने तथा मानवीय क्रियाओं पर नियन्त्रण करने की विधि है, जिससे पूर्व–निश्चित उद्देश्यों को प्राप्त किया जा सके।''

   विवेचना–इस परिभाषा से प्रबन्ध के निम्नलिखित लक्षणों का आभास होता है–

   (i) प्रबन्ध एक प्रक्रिया है,

   (ii) इस प्रक्रिया के माध्यम से निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति की जाती है।

   (iii) यह लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु, विवेकपूर्ण निर्णयन व नियन्त्रण पर बल देती है।

   इस परिभाषा में प्रबन्ध के अन्य कार्यों का समावेश न होने के कारण यह परिभाषा अपूर्ण है।

2. **किम्बाल व किम्बाल** के अनुसार, ''विस्तृत रूप से प्रबन्ध उस कला को कहते हैं जिसके द्वारा किसी उद्योग में मानव व माल को नियन्त्रित करने के लिए जो आर्थिक सिद्धान्त लागू होते हैं, उन्हें प्रयोग में लाया जाता है।''

   विवेचना–इस परिभाषा को उपयुक्त व पूर्ण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रबन्ध में आर्थिक सिद्धान्तों के अतिरिक्त अन्य सिद्धान्तों का भी प्रयोग किया जाता है।

3. **रोस मूरे** के अनूसार,''प्रबन्ध से आशय निर्णयन से है।''

   विवेचना–यह परिभाषा अत्यन्त संकुचित है, क्योंकि इसके अनुसार केवल निर्णयन ही प्रबन्ध है।

4. **हेनरी फेयोल** के अनुसार, ''प्रबन्ध करने से आशय पूर्वानुमान लगाने एवं योजना बनाने, संगठन की व्यवस्था करने, निर्देश देने, समन्वय करने तथा नियन्त्रण करने से है।''

विवेचना–इस परिभाषा में लेखक ने प्रबन्ध के कार्यों की व्याख्या की है, किन्तु उन्होंने प्रबन्ध के अन्य कार्यों की ओर संकेत नहीं किया है।

5. **जेम्स एल० लुण्डी** के अनुसार, ''प्रबन्ध मुख्यतः विशिष्ट उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए दूसरों के प्रयत्नों को नियोजित, समन्वित, प्रेरित तथा नियन्त्रित करने का कार्य करता है।''

   विवेचन–चूँकि इस परिभाषा में प्रबन्ध के अधिकांश कार्योंका समावेश किया गया है, अतः उसे उपयुक्त परिभाषा कहा जा सकता है।

6. **जी0 आर० टेरी** के अनुसार, ''प्रबन्ध एक पृथक प्रक्रिया है जिसमें नियोजन, संगठन, क्रियान्वयन तथा नियन्त्रण को सम्मिलित किया जाता है तथा इनका निष्पादन व्यक्तियों एवं साधनों के उपयोग द्वारा उद्देश्यों को निर्धारित व प्राप्त करने के लिए किया जाता है।''यह प्रबन्ध की काफी विस्तृत परिभाषा है।

7. **पीटर एफ० ड्रकर** के अनुसार, ''प्रबन्ध एक बहू–उद्देशीय तन्त्र है जो व्यवसाय का प्रबन्ध करता है, प्रबन्धकों का प्रबन्ध करता है और कर्मचारियों तथा उनके कार्य का प्रबन्ध करता है।''

8. **विलियम एच० न्यूमैन** के अनुसार, ''किसी सामान्य उद्देश्य की पूर्ति के लिए किसी व्यक्ति समूह के प्रयत्नों का मार्गदर्शन, नेतृत्व व नियन्त्रण ही प्रबन्ध कहलाता है।'' इस परिभाषा में भी प्रबन्ध के केवल तीन कार्यों का ही समावेश किया गया है।

9. **लारेन्स ए० एप्पले** के अनुसार, ''प्रबन्ध वस्तुओं का निर्देशन नहीं वरन् व्यक्तियों का विकास है।''

   निष्कर्ष–उपर्युक्त परिभाषाओं के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रबन्ध एक कला एवं विज्ञान है जो संस्था के निर्धारित लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए संगठन में कार्यरत व्यक्तियों के प्रयासों के नियोजन, निर्देशन, समन्वय, अभिप्रेरणा व नियन्त्रण से सम्बन्ध रखता है।

1.4 प्रबन्ध के लक्षण

प्रबन्ध की उपर्युक्त अवधारणाओं व परिभाषाओं के अध्ययन से इसकी निम्नलिखित विशेषताओं का पता चलता है–

1. **प्रबन्ध एक प्रकिया है**–प्रबन्ध उस प्रकिया का नाम है जो उस समय तक चलती है जब तक कि निर्धारित लक्ष्यों की प्रप्ति नहीं हो जाती। प्रकिया के रूप में, इसके अर्न्तगत नियोजन, संगठन, नेतृत्व, अभिप्रेरणा एवं नियन्त्रण आदि तकनीकें शामिल हैं।

2. **प्रबन्ध उद्देश्य–पूरक प्रक्रिया है**–प्रबन्ध संस्था के लक्ष्यों की प्राप्ति का एक साधन है, न कि

स्वयं में कोई लक्ष्य। इस लक्षण ने आज' उद्‌देश्यों व परिणामों द्वारा प्रबन्ध' जैसी समुन्नत तकनीकों के विकास में सहयोग दिया है।

3. **प्रबन्ध एक सामाजिक प्रकिया है**–प्रबन्ध एक सामाजिक प्रक्रिया है, क्योंकि इसे मानवीय संसाधनों का उपयोग करना पड़ता है तथा अन्तिम लक्ष्य प्राप्ति हेतु समूह के सभी सदस्यों को अभिप्ररित करना पड़ता है।

4. **प्रबन्ध मानवीय किया है**–प्रबन्ध विशुद्ध रूप में एक मानवीय क्रिया है। इसी कारण लारेन्स एप्पले का कहना है कि 'प्रबन्ध व्यक्तियों का विकास है न कि वस्तुओं का निर्देशन'।

5. **प्रबन्ध अधिकार सत्ता की प्रणाली है** –प्रबन्ध को अधिकार सत्ता की प्रणाली माना गया है,क्योंकि प्रबन्धक ही कार्य निष्पादन हेतु आदेश–निर्देश देते हैं,कार्य–प्रगति का मूल्यांकन करते हैं, नियम–विनियम बनाते हैं तथा अधीनस्थों का नेतृत्व करते हैं।

6. **प्रबन्ध एक निरन्तर जारी रहने वाली प्रकिया है जिसकी आवश्यकता सभी स्तरों पर है–प्रबन्ध की प्रकिया निरन्तर चलती है एवं इसकी आवश्यकता संगठन के सभी स्तरों पर पड़ती है।**

7. **प्रबन्ध एक कला एवं विज्ञान दोनों ही है**–प्रबन्ध एक कला एवं विज्ञान दोनों ही है। प्रबन्ध का वैज्ञानिक पक्ष सिद्धान्तों एवं नियमों का विकास करता है तथा कला पक्ष उन्हें प्रबन्ध के क्षेत्र में व्यावहारिक तौर पर लागू करता है।

8. **प्रबन्ध एक विकासशील पेशा है**–प्राचीन काल में यह मान्यता थी कि प्रबन्धक बनाए नहीं जा सकते वे तो पैदा होते हैं, परन्तु आज प्रबन्ध एक पेशा है और प्रबन्ध वे पेशेवर व्यक्ति हैं जो प्रबन्ध–कार्य को करते हैं।

1.5 प्रबन्ध की प्रकृति

किसी भी उपक्रम में कार्य व्यक्तियों को अपने–अपने क्षेत्र में कुशलतापूर्वक कार्य–निष्पादन तथा संगठन के लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु अपनी–अपनी भूमिकाओं से अवगत होना आवश्यक है। प्रबन्धकीय क्षेत्र में नई प्रतिविधों का निरन्तर विकास होने के कारण प्रबन्ध के प्रत्येक स्तर पर कार्यरत प्रत्येक व्यक्ति का नये परिवेश में अपने उत्तरदायित्वों से पूर्ण रुप से परिचय होना नितान्त आवश्यक हो गया है। यही कारण है कि प्रबन्ध की प्रकृति के सम्बन्ध में विभिन्न प्रबन्ध विद्वानों ने समय–समय पर विभिन्न विचार प्रकट किये हैं। उदाहरण के लिए, **लारेन्स उप्पले** ने प्रबन्ध को सेविवर्गीय प्रशासन माना है, जबकि **टैरी** ने इसे एक पृथक् क्रिया के रुप में माना है। **पीटरसन** तथा **प्लाउमैन** ने इसे एक तकनीक माना है, जबकि **ब्रेच** (Breach) ने इसे एक सामाजिक प्रक्रिया के रुप में परिभाषित किया है। कुन्ट्ज तथा ओ'डोनल ने प्रबन्ध को अन्य व्यक्तियों से कार्य सम्पादित करने की कला के रुप में माना है, जबकि टेलर ने प्रबन्ध को कला एवं विज्ञान कहा है। डेविस ने प्रबन्ध को मानसिक क्रिया के रुप मे परिभाषित किया

है, जबकि ओलिवर 'ैल्डन ने इसे समझौते की भावना के रुप में माना है। संक्षेप में, प्रबन्ध की प्रकृति का अध्ययन निम्नलिखित 'ी''ाकों के अन्तर्गत किया जा सकता है–

i. **प्रबन्ध** :एक पेश के रुप में तथा

ii. **प्रबन्ध** : कला अथवा विज्ञान अथवा दानों के रुप में,

1.5.1 प्रबन्ध : एक पेशे के रूप में

20वीं शताब्दी में भीमकाय उद्योगों की स्थापना, उनमें प्रबन्ध और स्वामित्व का पृथक्करण, जटिल श्रम समस्याएँ, उदारीकरण, भूण्डलीकरण कुछ ऐसे घटक हैं जिन्होंने प्रबन्ध को एक स्वतन्त्र पेशे के रूप में विकसित होने के लिए प्रेरित किया। अमेकिा, ब्रिटेन, जर्मनी, जापान, रूस जैसे समून्नत राष्ट्रों में प्रबन्ध एक स्वतन्त्र पेशे में रूप में मान्यता पा रहा है और परम्परागत और पारिवारिक प्रबन्धक का स्थान 'पेशेवर–प्रबन्धक' ग्रहण करते जा रहे है। प्रबन्ध एक पेशा है या नहीं, इसका निश्चयन करने से पूर्व हमें पेशे के अर्थ व विशेषताओं का अध्ययन करना होगा।

पेशे का अर्थ एवं विशेषताएँ–पेशा विशिष्ट ज्ञान पर आधारित वह कार्य है जिसे सविकसित और नियमित करने के लिए एक प्रतिनिधि संस्था की आवश्यकता होताी है। यह प्रतिनिधि संस्था लोगों के प्रशिक्षण की व्यवस्था करती है और अपने से सम्बद्ध संस्थाओं के लिए एक आचार संहिता बनाती है। **हॉज एवं जान्सन** के शब्दों में, ''पेशा एक व्यवसाय है जिसके लिए कुछ विशिष्ट ज्ञान की आवश्यकता होती है जिसे समरूपता की उच्च डिग्री द्वारा समाज के एक सम्बन्धित वर्ग की सेवा के लिए प्रयोग किया जाता है।''''**ए0 एस0 हारनबी** के अनुसार, पेशा एक ऐसा कार्य है जिसके लिए उच्च शिक्षा औार विशेष प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है।'' प्रसिद्ध प्रबन्धशास्त्री मैक्फारलैण्उने पेशे की निम्न विशेषताएँ स्पष्ट की हैं–

(अ) संगिठित ज्ञान का संग्रह,

(ब) औपचारिक शिक्षण–प्रशिक्षण की व्यवस्था,

(स) पेशे के सदस्यों के लिए एक प्रतिनिधि संस्था,

(द) सदस्यों के लिए आचार–संहिता, एवं

(य) पेशे का उद्देश्य सेवा और सेवा की प्रकृति के अनुसार पारिश्रमिक।

अब हम देखेंगे कि पेशे की इन विशेषताओं का प्रबन्ध के साथ कितना सम्बन्ध है और प्रबन्ध को हम कहॉ तक पेशा मान सकते हैं–

(अ) प्रबन्ध पेशे की पहली विशेषता को पूरा करता है। विगत सात–आठ दशकों में प्रबन्ध ने ऐसे सिद्धान्तों, अवधारणाओं व तकनीकी का विकास किया है जिन्हें वृहद एवं जटिल संगठनों के बेहतर प्रबन्धन में सफलतापूर्वक प्रयोग किया जा सकता है।

(ब) आजकल प्रबन्ध के शिक्षण और प्रशिक्षण के लिए अनेक संस्थाएँ स्थापित हो चुकी हैं, परन्तु प्रबन्धकों के लिए वास्तव में वकीलों, चिकित्सकों व इंजीनियरों की भाँति किसी विशिष्ट प्रमाण पत्र व लाइसेन्स का लेना आवश्यक नहीं हैं।

(स) पेशे के लिए एक प्रतिनिध संस्था होनी चाहिए। भारत में अखिल भारतीय प्रबन्ध परिषद् एक प्रमुख प्रतिनिधि संस्था है, परन्तु जैसे चिकित्सकों के लिए Medical Council of India व वकीलों के लिए Bar Council of India का पंजीकृत सदस्य होना जरूरी होता है, उस तरह प्रबन्धकों के लिए नहीं है। प्रबन्ध कार्य को संभालने के लिए इच्छुक व्यक्तियों की न्यूनतम शैक्षणित या अन्य योग्यतायें कानूनी रूप से निर्धारित नहीं की गयी हैं।

(द) पेशे के लिए आचार संहिता का होना आवश्यक होता है। इस आचार संहिता में नियम, अधिनियम, पोशाक, ईमानदारी के मानदण्ड, निष्कपटता आदि शामिल होते है। प्रबन्धकों के लिए सर्वमान्य आचार–संहिता का अभाव है।

(य) पेशे में आर्थिक हितों की अपेक्षा सेवा को प्राथमिकता दी जाती है। पेशेवर प्रबन्धक भी सामाजिक परिप्रेक्ष्य और उत्तरदायित्व की भावना पर पर्याप्त बल दे रहे हैं।

निष्कर्ष– उपरोक्त विचेचना से स्पष्ट है कि प्रबन्ध एक अपूर्ण, किन्तु विकासोन्मुख पेशा है। प्रबन्ध को पूर्ण पेशा मानने में कुछ कठिनाइयाँ है। जैसे प्रबन्ध के क्षेत्र में कुछ खास डिग्री धारकों के प्रवेश की बाध्यता नहीं हैं, बहुत से प्रबन्धकों की स्वायत्तता और ईमानदारी पर संदेह किया जाता है, प्रबन्धकों पर औपचारिक रूप से कोई नैतिक आचार–संहिता लागू नहीं होती है। प्रबन्ध आंशिक रूप से पेशा माना जाता है और अनवरत पेशा बनता जा रहा है। जैसे–जैसे तीव्र आर्थिक प्रगति, कम्पनी का चलन, स्वामित्व व प्रबन्ध में अगाव होगा, प्रबन्ध को एक प्रतिष्ठित पेशे के रूप में स्वीकृति मिलेगी। हारवर्ड विश्वविद्यालय के प्रबन्ध विज्ञान के पूर्व विभागाध्यक्ष लोवेल के अनुसार, ''प्रबन्ध सबसे बूढ़ी कला और सबसे जवान पेशा है।''

भारत में प्रबन्ध का पेशाकरण–उदारीकरण, निजीकरण, भूमण्डलीकरण के इस दौर में पेशवर प्रबन्ध की अवधारणा भारत में प्रगतिशील, कुशल एवं प्रभावी प्रबन्ध का पर्याय बन चुकी हैं। प्रत्येक निगमित क्षेत्र की संस्था यह दावा करती है कि उसका प्रबन्ध पेशेवर है। भारत में प्रबन्ध को पेशे के रूप में विकसित करने हेतु अनेक विशिष्ट संस्थाओं की स्थापना की गयी है जैसे भारतीय प्रबन्ध संस्थान, अहमदाबाद, बंगलौर, कोलकता, इंदौर, लखनऊ, सेंट जेवियर श्रम सम्बन्ध संस्थान, जमशेदपुर, जमुनालाल बजाज प्रबन्ध संस्थान, मुम्बई, मोतीलाल नेहरू अनुसंधान एवं व्यवसाय प्रशासन संस्था (मोनिरबा), इलाहाबाद विश्वविद्यालय आदि। इसके अतिरिक्त देश के अधिकांश विश्वविद्यालय व विविध संस्थान प्रबन्ध के स्नातक एवं स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम संचालित कर रहे हैं, फिर भी देश के प्रमुख उपक्रमों का स्वामित्व व प्रबन्ध परिवार के सदस्यों के हाथों में है, प्रशिक्षित प्रबन्धकों की कमी है, लाभार्जन हेतु सामाजिक उत्तरदायित्व परक्रम ध्यान दिया जा रहा है, प्रबन्धकीय संस्थान गुणवत्ता

नियंत्रण पर पर्याप्त जोर नहीं दे पा रहे है। देश के कुछ ही ऐसे निजी एवं सार्वजनिक उद्यमी है जो पेशेवर प्रबन्ध को अपना रहे हैं। **जे0 आर0 डी0 टाटा** के शब्दों में, ''हमने पेशेवर प्रबन्ध की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन दिया है।'' सेल के पूर्व अध्यक्ष **श्री एम0 ए0 वाइद खान** के शब्दों में, ''भारत के सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों में पेशेवर प्रबन्धकों का महत्व बढ़ता जा रहा है।'' भारत के हिन्दुस्तान लीवर, टिस्को, भेल, ओ0 एन0 जी0 सी0, गेल, भारतीय तेल निगम आदि उपक्रमों में पेशेवर प्रबन्ध पर पर्याप्त जोर दिया गया है।

भारतीय प्रबन्ध पेशेवर मानदण्डों व मूल्यों पर संचालित न होकर पारस्परिक और पारिवारिक है। यहां पर नियुक्तियों व पदोन्नतियों में कुशलता और योग्यता की जगह पर धर्म, जाति, सम्पर्क आदि को ध्यान दिया जाता है। लोक उद्यमों को भी नौकरशाही तरीके से संचालित किया जा रहा है। भारत में प्रबन्ध के प्रभावी पेशाकरण हेतु निम्न सुझाव दिये जा सकते हैं–

(1) उपक्रमों में प्रबन्ध के डिग्रीधारकों की नियुक्ति को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।

(2) सरकार को सर्वमान्य आचार–संहिता विकसित करनी चाहिए।

(3) देश में भारतीय प्रबन्ध सेवाहेतु प्रतियोगी परीक्षा भारतीय प्रशासनिक सेवा की तर्ज पर आयोजित की जानी चाहिए।

(4) उपक्रमों में प्रबन्धकों के नियुक्ति हेतु मात्र योग्यता को न कि जाति, रंग, धर्म, परिवार का ध्यान दिया जाना चाहिए।

(5) उद्योगपतियों को प्रबन्धकों के पेशेवर प्रशिक्षण हेतु पर्याप्त व्यय करना चाहिए।

(6) शैक्षणिक संस्थाओं को प्रबन्ध विज्ञान में शोध पर अधिक ध्यान देना चाहिए जिससे कि अवधारणात्मक अस्पष्टता व भ्रम दूर हो सके।

(7) प्रबन्ध शिक्षा के पाठ्यक्रम में भारतीय उद्योग पुरूषों, जैसे–टाटा, बिड़ला, अम्बानी, मोदी आदि की प्रगति कहानियों का समावेश किया जाना चाहिए।

1.5.2 प्रबन्ध : कला अथवा विज्ञान अथवा दोनों के रुप में

कला और विज्ञान के रुप में प्रबन्ध की प्रकृति को भली प्रकार समझने के लिए यह परम आवश्यक है कि पहले हम 'कला' और 'विज्ञान' दोनों का अर्थ व लक्षण समझें, तभी यह निर्णय किया जा सकता है कि प्रबन्ध कला है अथवा विज्ञान अथवा दोनों ही।

प्रबन्ध : कला के रूप में–कला का अर्थ ज्ञान के व्यावहारिक उपयोग से लिया जाता है। किसी भी कार्य को करने की क्रिया–विधि को कला कहते हैं। दूसरे शब्दों में, किसी भी क्रिया को करने की सर्वोतम विधि को ही कला कहते हैं। **जी० आर० टेरी** के मतानुसार, ''चातुर्य के प्रयोग से वांछित परिणाम प्राप्त करना ही कला है।'' कला का कार्य सही उद्देश्यों की उपलब्धि कराना, परिणामों को

प्रभावित करना और ऐसी परिस्थितियों को उपलब्ध ज्ञान के व्यावहारिक प्रयोग की एक विधि के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। कला की प्रमुख विशेषताएँ निम्न हैं–

(i) कला वांछित परिणामों को प्राप्त करने की विधि बताती है।

(ii) वांछित परिणामों की प्राप्ति कला का प्रयोग करने वाले व्यक्ति के हुनर व ज्ञान के प्रयोग पर निर्भर करती है।

(iii) कला व्यक्तिगत होती है और उसका हस्तांतरण सम्भ्व नहीं है।

(iv) कला का सम्बन्ध व्यावहारिक पक्ष से होता है, जो यह बताता है कि कार्य को कैसे किया जाय।

(v) कला सदैव रचनात्मक होती है।

(vi) कला का संचय सम्भव नहीं है।

(vii) कला वास्तव में लगातार अभ्यास, अनुभव और प्रशिक्षण से आती है।

(viii) कला मानव से सम्बन्धि होती है और इसका दृष्टिकोण परिणामोन्मुखी होता है।

कला की उपयुक्त विशेषताओं को यदि प्रबन्ध की कसौटी पर कसा जाय, तो यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि प्रबन्ध करना ही पूर्ण रूप से कला है। प्रबन्ध को कला मानने के पीछे निम्न तर्क दिए जाते हैं–

(i) प्रबन्ध की प्रक्रिया प्रमुखतया पेरो पर आधारित है; जैसे कि नृत्य, चित्रकारी, संगीत, मूर्तिकला, चिकित्सा आदि कलाओं में होती है।

(ii) प्रबन्ध अन्य कला विधाओं की भाँति रचनात्मकहोती है। प्रबन्धकीय सफलता में रचनात्मकता की प्रमुख भूमिका होती है।

(iii) प्रबन्धकीय ज्ञान का हस्तान्तरण सम्भव नहीं है।

(iv) प्रबन्धकीय कुशलता व्यक्ति की कुशलता व व्यावहारिक ज्ञान पर निर्भर करती है।

(v) प्रबन्ध का मुख्य उद्देश्य अन्य व्यक्तियों के साथ काम करते हुए पूर्व–निर्धारित उद्देश्यों को प्राप्त करना ही होता है। अतः स्पष्ट है कि प्रबन्धक द्वारा निर्णय लेना कला ही है जो प्रबन्धक के व्यक्तिगत अनुभव, दक्षता, दूरदर्शिता, अभ्यास व चातुर्य पर निर्भर करता है। 19वीं शताब्दी तक तो इसे मात्र कला ही माना जाता था, परन्तु आज 21वीं शताब्दी में इसे कला के साथ विज्ञान भी माना जाता है।

प्रबन्ध : एक विज्ञान के रूप में–किसी भी प्रकार का व्यवस्थित ज्ञान जो निश्चित सिद्धान्तों पर

आधारित हो 'विज्ञान' कहलाता है।यह ज्ञान का ऐसा स्वरूप है जिसमें अवलोकन एवं प्रयोग द्वारा सिद्धान्त प्रतिपादित किये जाते हैं और कारण एवं परिणाम के मध्य सम्बन्ध स्थापित किये जाते हैं। **जी0 आर0 टेरी** के अनुसार, ''विज्ञान किसी भी विषय, उद्देश्य अथवा अध्ययन का सामान्य सत्यों के सन्दर्भ में संग्रहित तथा स्वीकृत व्यवस्थित ज्ञान है।'' **कीन्स** के शब्दों में, ''विज्ञान ज्ञान का एक व्यवस्थित संग्रह है जो कारण और परिणाम के मध्य सम्बन्ध स्थापित करता है।'' विज्ञान के मुख्य लक्षण निम्न हैं–

i. विज्ञान ज्ञान का क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित अध्ययन है।

ii. विज्ञान के निश्चित नियम व सिद्धान्त होते हैं।

iii. विज्ञान के सिद्धान्तो में कारण व परिणाम का सम्बन्ध होता है।

iv. विज्ञान के नियमों में सार्वभौमिक सत्यता पायी जाती है।

v. विज्ञान रूपी ज्ञान अर्जित किया जा सकता है।

प्रबन्ध की तुलना यदि विज्ञान के उपरोक्त लक्षणों के साथ की जाय, तो निश्चयपूर्वक इसे विज्ञान की श्रेणी में रख सकते हैं, क्योंकि–

i. प्रबन्ध शास्त्र भी ज्ञान का व्यवस्थित व क्रमबद्ध अध्ययन है।

ii. प्रबन्ध में भी कुछ नियम व सिद्धान्त होते हैं।

iii. प्रबन्ध के वर्तमान सिद्धान्त, कारण व परिणाम में सम्बन्ध रखते हैं।

iv. प्रबन्ध की सार्वभौमिकता दिनों–दिन बढ़ती जा रही ळें

v. प्रबन्ध ज्ञान को शिक्षण एवं प्रशिक्षण द्वारा अर्जित किया जा सकता है।

प्रबन्ध को विज्ञान के रूप में विकसित करने में विविध प्रबन्धकर्ताओं, विचारकों, विश्लेषकों व सिद्धन्तशास्त्रियों ने उल्लेखनीय योगदान दिया है। इसमें फ्रेडरिक विन्सलो टेलर, हेनरी फेयाल, सी0 आई0 बर्नार्ड, एल0 उर्विक, मैक्स वेबर, मेरी पार्कर फोलेट, ओलिवर शेल्डन, पीटर एफ0 ड्रकर आदि शामिल हैं। फिर भी यह ध्यान रहे कि प्रबन्ध एक विज्ञान होते हुए भी न तो इतना व्यापक है और न इतना यथार्थ, शुद्ध व निश्चित कि इसे भौतिक शास्त्र व रसायन शास्त्र जैसे प्राकृतिक विज्ञानों की श्रेणी में रख जाय। प्रबन्ध के अध्ययन का विषय–वस्तु मानव होता है जिसका व्यवहार परिवर्तनशील होता है। **प्रबन्ध प्राकृतिक विज्ञान न हो करके आधुनिक सामाजिक विज्ञान है।** इसे समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र की तरह सामाजिक विज्ञान माना जाता है और सामाजिक विज्ञानों में इसका एक प्रतिष्ठित स्थान है। विज्ञान के रूप में इसका विकास विशेष रूप से 20वीं व 21वीं सदी में हुआ है, अतः यह एक नया, परन्तु विकासशील विज्ञान है। संयुक्त राज्य अमेरिका ने इसे विज्ञान के रूप में स्थापित करने में विशेष योगदान दिया है।

निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि प्रबन्ध कला भी है और विज्ञान भी। प्रबन्ध जहाँ विज्ञान के रूप में सिद्धान्तों एवं नियमों का प्रतिपादन करता है वहाँ कला हमें इन सिद्धन्तो एवं नियमों को व्यावहारिक रूप में प्रयोग करना बनाती है। एक कुशल प्रबन्धक के लिए दोनों ही पक्ष (विज्ञान एवं कला) उसी प्रकार आवश्यक हैं जिस प्रकार एक चिकित्सक के लिए सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों पक्षों का ज्ञान आवश्यक होता है। कला और विज्ञान दोनों ही प्रबन्ध को पूर्णता देने का कार्य करते हैं और एक–दूसरे के पूरक माने जाते हैं। **स्टेनले टेली** के अनुसार, ''वर्तमान में प्रबन्ध 10 प्रतिशत विज्ञान तथा 90 प्रतिशत कला है। आधुनिक काल में विज्ञान दिन प्रतिदिन विकास पर है। प्रबन्ध में अगली पीढ़ी तक विज्ञान 20 प्रतिशत और कला 80 प्रतिशत ही रह जायेगी।'' **राबर्ट एन० हिलकर्ट** के अनुसार, ''प्रबन्ध क्षेत्र में कला एवं विज्ञान दोनों एक ही सिक्के के पहलू हैं।'' इस तरह व्यवहार रूप में प्रबन्ध एक कला है और इस व्यवहार को समुन्नत बनाने के लिए संगठित व तर्कसंगत ज्ञान को आधार बनाना विज्ञान का परिचायक है। प्रबन्ध एक प्राचीनतम कला और नवीनतम विज्ञान है।

1.6 प्रबन्ध बनाम प्रशासन

दोनों शब्दों प्रशासन और प्रबन्ध को पर्यायवाची के रूप में आदि काल से सन् 1923 तक प्रयोग किया जा रहा है। सन् 1923 में **ओलिवर शैल्डन** ने अपनी पुस्तक प्रबन्ध–दर्शन में इन दोनों शब्दों के अर्थों की भिन्नता स्पष्ट करते हुऐ उन्होंने प्रशासन को निर्णयात्मक कार्य और प्रबन्ध को निष्पादन सम्बन्धी कार्य बताया। उसके पश्चात् प्रबन्धविद और लेखक दोनों शब्दों के विविध अर्थ और रूप बताने लगे। प्रबन्ध बनाम प्रशासन के सम्बन्ध में अग्रंकित तीन विचारधराएं प्रचलित हैं–

(अ) प्रबन्ध और प्रशासन एक ही है - हेनरी फेयोल, कुन्ट्ज एवं ओ'डोनेल, एलन, स्ट्रांग, जी. आर.टेरी, विलियम न्यूमैन जैसे विद्वान दोनों शब्दों को एक ही अर्थ में प्रयोग करते हैं। **न्यूमैन** के शब्दों में, ''प्रशासन कुछ सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति हेतु व्यक्तियों के समूह के प्रयत्नों का पथ–प्रदर्शन, नेतृत्व और नियंत्रण है।'' न्यूमैन के व्याख्या के अनुसार, प्रबन्ध और प्रशासन समानार्थी है और दोनों मेंअ न्तर केवल यह है कि सार्वजनिक और सरकारी क्षेत्र में इसे 'प्रशासन' कहते हैं और व्यावसायिक जगत में 'प्रबन्ध' शब्द अधिक लोकप्रिय है।

(ब) प्रशासन प्रबन्ध के ऊपर है- प्रशासन को प्रबन्ध के ऊपर मानने वाले वर्ग में सर्वश्री ओलिवर शैल्डन, शुल्जे, उब्ल्यू. आर.स्प्रीगल, लैन्सवर्ग, टीड तथा फ्लोरेन्स आदि उल्लेखनीय हैं। इस धारणा की शुरूआत ही शैल्डन ने किया जिनके अनुसार प्रबन्ध और प्रशासन पृथक्–पृथक् क्रियाएं हैं। इन दोनों में प्रशासन की सत्ता प्रबन्ध से ऊपर है। प्रशासन निर्णय लेने व विचार करने की तथा प्रबन्ध क्रियान्वयन की क्रिया है। **स्प्रीगल एवं लैन्सवर्ग** के मतानुसार, ''प्रशासन एक निर्णयात्मक कार्य है जबकि प्रबन्ध क्रियान्वयन सम्बन्धी कार्य है जो मुख्य रूप से प्रशासन द्वारा निर्धारित नीतियों को कार्यान्वित करता है।''

(स) प्रशासन प्रबन्ध का अंग है- इस तीसरी विचारधारा के प्रतिपादक ई.एफ.ब्रीच हैं। उनके

अनुसार प्रबन्ध एक अति व्यापक शब्द है जिसका एक अंग प्रशासन है। ब्रीच ने प्रबन्ध वर्ग को त्रिस्तरीय बताया– (i) उच्च स्तरीय प्रबन्ध (जो मुख्यतः नीति–निर्धारण से सम्बन्धित रहता है), (ii) विभागीय अथवा क्रियात्मक प्रबन्ध (जो मुख्यतः नियोजन, संगठन, समन्वय और नियंत्रण से सम्बन्धित रहता है), (iii) निम्नस्तरीय प्रबन्ध (जिसका मुख्य कार्य निरीक्षण करना होता है)। ब्रीच ने उच्चस्तरीय प्रबन्ध को प्रशासन, क्रियात्मक प्रबन्ध को प्रबन्ध और निम्नस्तरीय प्रबन्ध को पर्यवेक्षकीय प्रबन्ध कहा है।

उपरोक्त विवरण से यह एक सर्वानुमति बनती है कि प्रशासन और प्रबन्ध के उत्तरदायित्व और कार्यों में अन्तर रहता है। प्रशासन का मुख्य कार्य नीति–निर्धारण और उद्देश्य निश्चयन रहता है। इसके विपरीत, प्रबन्ध का मुख्य कार्य प्रशासन द्वारा निर्धारित नीतियों का क्रियान्वयन और उद्देश्यों को प्राप्त करने का रहता है। प्रबन्ध इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए उद्योग का संगठन, नियंत्रण, निर्देशन एवं नेतृत्व करता है। एक कम्पनी की संगठन संरचना में हम इन्हें निम्न प्रकार व्यक्त कर सकते हैं–

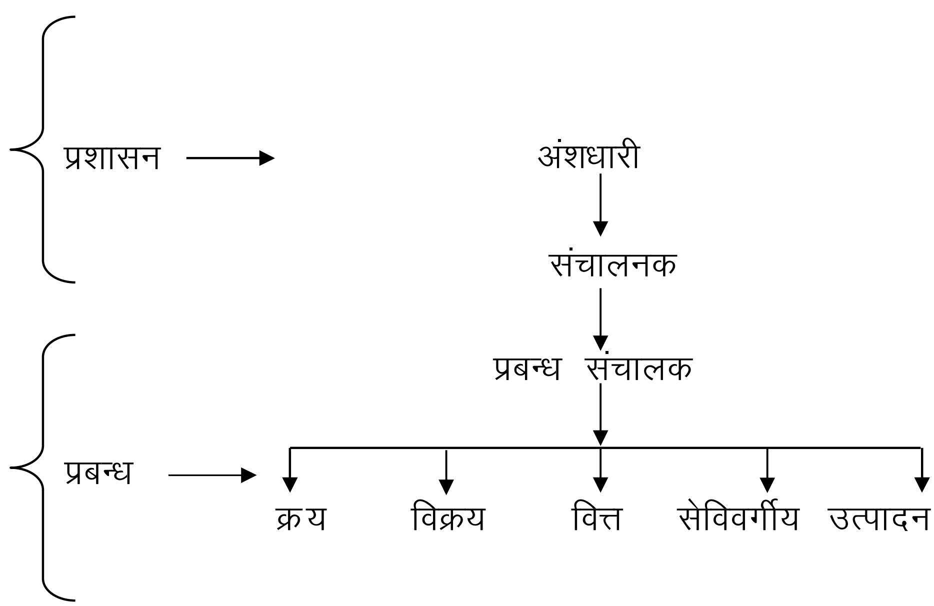

1.7 प्रबन्ध का क्षेत्र

एक सामाजिक व सार्वभौमिक प्रक्रिया होने के कारण प्रबन्ध का क्षेत्र अत्यधिक व्यापक है। प्रबन्ध की विषयसामग्री में नियोजन, संगठन, निर्देशन, समन्वय व नियंत्रण का समावेश किया जाता है और इनका प्रयोग प्रबन्ध के समस्त क्रियात्मक क्षेत्रों में किया जाता है। प्रबन्ध के क्षेत्र में अग्रांकित क्रियात्मक गतिविधियों को शामिल किया जाता है–

(1) उत्पादन प्रबन्ध –वस्तुओं एवं सेवाओं की उपयोगिता में वृद्धि करना ही उत्पादन कहलाता है। उत्पादन या निर्माण प्रबन्ध का अर्थ विभिन्न साधनों के मात्र एकत्रीकरण से ही नहीं बल्कि विभिन्न पदार्थों के रूप व स्वभाव में परिवर्तन करके न्यूनतम लागत पर अधिकतम उत्पादन

सम्भव बनाना है। उत्पादन प्रबन्ध का सम्बन्ध उत्पादन की क्रियाकलापों के नियोजन, संगठन, निर्देशन, समन्वय व नियंत्रण से है जिससे कि वस्तुओं का निर्माण निर्धारित मानकों के अनुरूप, अपेक्षित मात्रा में, उचित समय व न्यूनतम लागत पर हो सके। इसके अन्तर्गत उत्पादन नियोजन एवं नियंत्रण, उत्पादन शोध एवं विकास, विधियों एवं उपकरणों का चयन, गुण नियंत्रण, कारखाना नियोजन एवं संगठन आदि को सम्मिलित किया जाता है।

(2) **मानव संसाध प्रबन्ध** –यह प्रबन्ध का सबसे महत्वपूर्ण एवं लोकप्रिय अंग है। इसे आजकल अनेक नामों से पुकारा जाता है, जैसे सेविवर्गीय प्रबन्ध, जनशक्ति प्रबन्ध आदि। यह उस विज्ञान का बोध कराता है जिसमें मानवीय सम्पत्ति अर्थात कर्मचारी के प्रयोग का समुचित अध्ययन किया जाता है। मानव संसाधन प्रबन्ध से आशय प्रबन्ध के उस क्षेत्र से है जो सेविवर्गीय नीतियों, कार्यक्रमों, पद्धतियों, कर्मचारियों के चयन, प्रशिक्षण व विकास, वेतन एवं मजदूरी प्रशासन, कार्य परिचय, पदोन्नति, पद–अवनति, स्थानान्तरण, निष्पादन मूल्यांकन, अभिप्रेरण, मनोबल, श्रम कल्याण, सामाजिक सुरक्षा, श्रम परिवेदना, अनुशासन, सामूहिक सौदेबाजी आदि क्रियाओं से जुड़ा है। आधुनिक प्रतिष्ठानों में मानव संसाधन प्रबन्ध संगठन की सबसे संवेदनशील समस्या है। कर्मचारी तो संगठन में साधन और साध्य दोनों होता है। प्रबन्ध की क्रियाओं का वह केन्द्र बिन्दु होता है।

(3) **वित्तीय प्रबन्ध** –वित्तीय प्रबन्ध सामान्य प्रबन्ध का वह कार्यात्मक क्षेत्र होता है जो वित्तीय क्रियाओं के कुशल प्रबन्ध के लिए उत्तरदायी होता है। **एच.के. सिंह** के अनुसार, ''यह संगठन के वित्त से सम्बन्धित पहलुओं पर निर्णयन तथा नीति निर्माण की वह क्रिया है जिससे कि व्यवसाय को उसके लक्ष्यों की दिशा में निर्देशित किया जा सके।'' वित्तीय प्रबन्ध का कार्य प्रशासकीय व दैनिक होते हैं। प्रशासकीय कार्यों में वित्तीय नियोजन, वित्त प्राप्ति की व्यवस्था, लाभांश नीतियों में योगदान, सम्पत्ति प्रबन्धन, लागत नियंत्रण व कमी आदि आते हैं जबकि दैनिक कार्यों में लेन देनों का अभिलेखन, वित्तीय विवरणों का निर्माण, वित्तीय पुस्तकों की सुरक्षा, रोकड़ व उधार की व्यवस्था आता है। वित्तीय सुप्रबन्धन की महत्ता के बारे में **इदविन फ्रेंन्ड** का कथन है कि, ''एक फर्म की सफलता यहाँ तक कि उसका अस्तित्व, कार्यक्षमता और उत्पादन करने की इच्छा, स्थायी और कार्यशील पूँजी में विनियोग करने की क्षमता, काफी बड़ी सीमा तक उसकी भूत एवं वर्तमान कालीन वित्तीय नीतियों द्वारा ही निर्धारित होती है।''

(4) **कार्यालय प्रबन्ध** –कार्यालय प्रबन्ध से तात्पर्य कार्यालय के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कार्यालय के कार्यों ने नियोजन, संठन, निर्देशन, संदेशवाहन एवं नियंत्रण सम्बन्धी प्रयासों से है। **हैरी एल.वाइली** के अनुसार, ''कार्यालय प्रबन्ध से आशय कर्मचारियों, सामग्री, पद्धतियों तथा मशीनों का कुशल नियोजन एवं नियंत्रण इस प्रकार करने से है जिससे सर्वोत्तम परिणाम प्राप्त किये जा सके।'' कार्यालय प्रबन्ध के अन्तर्गत कार्यालय का स्थान, विन्यास व वातावरण, पत्र–व्यवहार, टंकण, बहुप्रतिलिपीकरण, फार्म एवं स्टेशनरी, फाइलिंग व रिकार्ड, अनुक्रमणिका, मापन एवं नियंत्रण, मशीनें व फर्नीचर, कार्यालय रिपोर्ट व आंकड़ों आदि को सम्मिलित किया जाता है।

कम्प्यूटर की खोज एवं जनप्रियता ने कागज–विहीन कार्यालय क नई अवधारणा प्रस्तुत की है जिससे कार्यालय प्रबन्धन में परिष्कार सम्भव हुआ है। प्रबन्ध की सफलता काफी हद तक दफ्तरों के कुशल संचालन पर निर्भर कर रही है।

(5) विपणन प्रबन्ध –विपणन प्रबन्ध सामान्य प्रबन्ध की वह शाखा है जिसमें विपणन विचार को क्रियात्मक रूप दिया जाता है। इसमें ग्राहकों की आवश्यकताओं का पता लगाया जाता है और फिर उत्पादन सम्बन्धी क्रियाएं भी उन्हीं आवश्यकताओं के अनुरूप समायोजित की जाती है। विपणन कार्यक्रम में वस्तु, मूल्य, विज्ञापन, विक्रय–सम्वर्द्धन, वितरण आदि के निर्णय लिए जाते है। विपणन प्रबन्ध के अन्तर्गत वस्तु नियोजन व विकास, विक्रय, क्रय, परिवहन, संग्रह, वित्त, जोखिम वहन, बाजार सूचना, प्रमाणीकरण व श्रेणीकरण आदि को शामिल किया जाता है।

(6) अन्य क्षेत्र (Other Areas)–प्रबन्ध के क्रियात्मक क्षेत्र में सम्मिलित किये जाने वाले कुछ अन्य प्रमुख क्षेत्र अग्रलिखित है–

(i) पर्यावरण प्रबन्ध, (ii) समय प्रबन्ध,

(iii) शैक्षिक प्रबन्ध, (iv) प्रतिरक्षा प्रबन्ध,

(v) होटल प्रबन्ध, (vi) तकनीकी प्रबन्ध,

(vii) परिवहन प्रबन्ध, (viii) आयात व निर्यात प्रबन्ध,

(ix) पर्यटन प्रबन्ध, (x) चिकित्सा प्रबन्ध एवं

(xi) जन–उपयोगिताओं का प्रबन्ध आदि।

1.8 सारांश

प्रबन्ध एक ऐसा शब्द है जिससे समाज का प्रत्येक व्यक्ति यहाँ तक अशिक्षित व्यक्ति भी सुपरिचित है। परन्तु किसी व्यक्ति से यह पूछा जाय कि प्रबन्ध किसे कहते है। वह निरूत्तर सा हो जाता है। जबकि व्यावहारिक जीवन में वह इस शब्द से भली–भाँति परिचित होता है। पीटर एफ0 ड्रकर के अनुसार, प्रबन्धक एवं प्रबन्ध पकड़ में न आने वाले शब्द है। प्रबन्ध के सम्बन्ध में भिन्न–भिन्न विद्वानों के भिन्न–भिन्न दृष्टिकोण है। प्रबन्ध के कुछ प्रमुख अवधारणाएँ निम्नलिखित है–

(1) थियो हैमन की प्रबन्ध सम्बन्धी अवधारणा में प्रबन्ध शब्द का प्रयोग तीन अर्थों में किया है– (क) प्रबन्ध अधिकारियों के अर्थ में, (ख) प्रबन्ध प्रक्रिया के रूप में, एवं (ग) प्रबन्ध एक विज्ञान के रूप में।

(2) प्रबन्ध अन्य लोगों के द्वारा तथा उनके साथ मिलकर काम करने की तकनीक है।

(3) प्रबन्ध वही है जो प्रबन्ध करता है।

(4) प्रबन्ध लोगों का विकास है न कि वस्तुओं का निर्देशन...... यह कार्मिक प्रशासन है।

(5) प्रबन्ध निर्णय लेने की प्रक्रिया है।

(6) सार्वभौमिकता की अवधारणा।

(7) पेशेवर अवधारणा।

(8) प्रणाली अवधारणा।

प्रबन्ध एक व्यापक शब्द है, जिसे आधुनिक औद्योगिक जगत में विभिन्न अर्थों में प्रयोग किया जाता है। संकुचित अर्थ में इससे आशय अन्य व्यक्तियों से कार्य करने की युक्ति से है। व्यापक अर्थ में प्रबन्ध एक कला एवं विज्ञान है। जो पूर्व–निर्धारित लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए उत्पादन के विभिन्न घटकों में समन्वय स्थापित करता है। जेम्स एल0 भुण्डी के अनुसार ''प्रबन्ध मुख्यतः विशिष्ट उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए दूसरों के प्रयत्नों को नियोजित, समन्वित, प्रेरित तथा नियन्त्रित करने का कार्य है।''

प्रबन्ध की विशेषताएँ – (1) प्रबन्ध एक प्रक्रिया है, (2) प्रबन्ध उद्देश्य–पूरक प्रक्रिया है, (3) प्रबन्ध एक सामाजिक प्रक्रिया है, (4) प्रबन्ध मानवीय क्रिया है, (5) प्रबन्ध अधिकार सत्ता की प्रणाली है, (6) प्रबन्ध एक निरन्तर जारी रहनेवाली प्रक्रिया है जिसकी आवश्यकता सभी स्तरों पर है, (7) प्रबन्ध एक कला एवं विज्ञान दोनों ही हैं, एवं (8) प्रबन्ध एक पेशा है।

प्रबन्ध आंशिक रूप में पेशा माना जाता है और अनवरत पेशा बनता जा रहा है। प्रबन्ध को पूर्ण पेशा मानने में कुछ कठिनाईयां है– जैसे प्रबन्ध के क्षेत्र में कुछ खास डिग्री धारकों के प्रवेश की बाध्यता नहीं है, बहुत से प्रबन्धकों की स्वायन्तता और ईमानदारी पर सन्देह किया जाता है। प्रबन्धकों पर औपचारिक रूप से कोई नैतिक आचार–संहिता लागू नहीं होती है।

प्रबन्ध एक कला और विज्ञान दोनों ही है। प्रबन्धकीय सिद्धान्तों को जटिल व परिवर्तनशील परिस्थितियों में प्रयोग करना पड़ता है। इसलिए प्रबन्ध विज्ञान होने के साथ–साथ कला भी है। एक प्रबन्धक वैज्ञानिक ही नहीं वरन् कुशल कलाकार भी होता है। इस तरह व्यवहार रूप में प्रबन्ध एक कला है और इस व्यवहार को समुन्नत बनाने के लिए संगठित व तर्कसंगत ज्ञान को आधार बनाना विज्ञान का परिचायक है। प्रबन्ध एक प्राचीनतम कला और नवीनतम विज्ञान है। राबर्ट एन0 हिलकर्ट के अनुसार, ''प्रबन्ध क्षेत्र में कला एवं विज्ञान दोनों एक ही सिक्के के पहलू है।''

एक सामाजिक व सार्वभौमिक प्रक्रिया होने के कारण प्रबन्ध का क्षेत्र अत्यधित व्यापक है। प्रबन्ध की विषय–सामग्री में नियोजन, संगठन, निर्देशन, समन्वय का नियंत्रण का समावेश किया जाता है और इनका प्रयोग प्रबन्ध के समस्त क्रियात्मक क्षेत्रों में किया जाता है। प्रबन्ध के क्षेत्र में अग्रांकित क्रियात्मक गतिविधियों को शामिल किया जाता है – (1) उत्पादन प्रबन्ध, (2) मानव संसाधन प्रबन्ध, (3) वित्तीय प्रबन्ध, (4) कार्यालय प्रबन्ध, (5) विपणन प्रबन्ध, (6) अन्य क्षेत्र– पर्यावरण प्रबन्ध, समय प्रबन्ध, शैक्षिक प्रबन्ध, प्रतिरक्षा प्रबन्ध, होटल प्रबन्ध, तकनीकी प्रबन्ध, परिवहन प्रबन्ध, आयात निर्यात प्रबन्ध, पर्यटन

प्रबन्ध, चिकित्सा प्रबन्ध एवं जन–उपभोगिताओं का प्रबन्ध।

1.9 महत्वपूर्ण शब्दावली

- **प्रबन्ध**– प्रबन्ध एक कला एवं विज्ञान है जो संस्था के निर्धारित लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए संगठन में कार्यरत व्यक्तियों के प्रयासों के नियोजन, निर्देशन, समन्वय, अभिप्रेरणा व नियंत्रण से सम्बन्ध रखता है।
- **प्रशासन**– प्रशासन एक निर्णयात्मक प्रकार्य है जिसके अन्तर्गत संस्था की नीतियों एवं उद्देश्यों का निर्धारण किया जाता है।
- **प्रबन्ध प्रक्रिया के रूप में**– प्रक्रिया के रूप में प्रबन्ध का अर्थ उन समस्त प्रबन्धकीय कार्यों, जैसे– नियोजन, संगठन, अभिप्रेरण तथा नियन्त्रण से है जो निश्चित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए आवश्यक है।
- **वित्तीय प्रबन्ध**–वित्तीय प्रबन्ध सामान्य प्रबन्ध का वह कार्यात्मक क्षेत्र होता है जो वित्तीय क्रियाओं के कुशल प्रबन्ध के लिए उत्तरदायी होता है।
- **कार्यालय प्रबन्ध** – कार्यालय प्रबन्ध से तात्पर्य कार्यालय के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कार्यालय के कार्यों के नियोजन, संगठन, निर्देशन, संदेशवाहन एवं नियंत्रण सम्बन्धी प्रयासों से है।

1.10 आवश्यक प्रश्न

प्रश्न 1. प्रबन्ध को प्रोफेसर थिथोहैमन ने किस प्रकार परिभाषित किया है? आधुनिक प्रबन्ध के लक्षणों एवं कार्यों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

प्रश्न 2. ''प्रबन्ध व्यक्तियों का विकास है न कि वस्तुओं का निर्देशन।'' इस कथन पर टीका कीजिए और प्रबन्ध की प्रकृति का विवेचन कीजिए।

प्रश्न 3. प्रबन्धकीय कार्यों के वर्गीकरण के सम्बन्ध में विभिन्न विशेषज्ञों के मत बतलाइए और प्रबन्ध के नियोजन एवं संगठन कार्य की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए।

प्रश्न 4. ''प्रबन्ध कला व विज्ञान दोनों है परन्तु यह भौतिक और रसायन की तरह निश्चित विज्ञान नहीं है।'' विवेचना कीजिए।

प्रश्न 5. ''आजकल प्रबन्ध एक पेशा बन गया है।'' भारतीय निगमीय व्यवसाय के सन्दर्भ में अपने विचा प्रकट कीजिए।

प्रश्न 6. ''प्रबन्ध न केवल जन्मजात बल्कि अर्जित प्रतिभा भी है।'' इस कथन की व्याख्या कीजिए और आधुनिक प्रबन्ध के लक्षणों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

प्रश्न 7. ''प्रबन्ध अन्य व्यक्तियों के विकास से सम्बन्धित है क्योंकि इसका प्रयोजन उनसे कार्य को

कराना होता है।'' क्या आप इस कथन से सहमत है? प्रबन्ध के कार्यों की व्याख्या कीजिए और प्रबन्धकीय कार्यों की विशेषताओं का वर्णन कीजिए

प्रश्न 8. प्रबन्ध के विविध क्रियात्मक क्षेत्रों का संक्षिप्त विवेचन कीजिए। प्रबन्ध विज्ञान और कला दोनों ही कैसे है?

प्रश्न 9. प्रबन्ध से आप का क्या तात्पर्य है? यह किस प्रकार एक पेशा है? भारत में प्रबन्ध के पेशाकरण पर भी एक सुबोध टीप्पणी लिखिए।

प्रश्न 10. प्रबन्ध के महत्व एवं सीमाओं की स्पष्ट कीजिए।

कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. प्रबन्ध के सिद्धान्त एस के सिंह प्रयाग पुस्तक भवन इलाहाबाद 2006
2. व्यावसायिक प्रबन्ध ओ. पी. राय बी. के. सिंह वैभवसम्मी प्रकाशन, वाराणासी, 2012
3. औद्योगिक संगठन एवं प्रबन्धन, आर.सी. गुप्ता, साहित्य भवन पब्लिकेशन आगरा, 2003
4. व्यवसायिक संगठन, जगदीश प्रकाश, प्रयाग पुस्तक भवन, 2014
5. औद्योगिक प्रबन्ध, जे.के. जैन, प्रतीक प्रकाशन आगरा, 2001

इकाई– 02 : प्रबन्ध के स्तर

<u>इकाई की रूपरेखा</u>

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 प्रबन्धकीय कार्य

2.3 प्रबन्ध का सामाजिक उत्तरदायित्व

2.4 सामाजिक उत्तरदायित्वों के कारण

2.5 संगठन के सम्बन्ध पक्षकार

2.6 सारांश

2.7 महत्वपूर्ण शब्दावली

2.8 आवश्यक प्रश्न

2.0 उद्देश्य

इस अध्याय के अध्ययन से आप निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर दे पायेंगे।

- ❖ उपभोक्ताओं के प्रति प्रबन्धक के सामाजिक उत्तरदायित्व का अर्थ समझ सकेगें,
- ❖ प्रबन्ध के स्तरकीव्याख्या कर सकेगें,
- ❖ प्रबन्ध के सामाजिक उत्तरदायित्व के पक्ष को समझ सकेगें,
- ❖ प्रबन्ध के कार्यकाअर्थ समझ सकेगें।

2.1 प्रस्तावना

प्रबन्ध के स्तर से आशय व्यावसायिक उपक्रम का प्रबन्ध करने वाले विभिन्न पदाधिकारियों के वर्गीकरण से है। यह प्रबन्धकीय कलेवर की रूपरेखा होती है जिसमें पदो ंके मध्य रेखा खींचकर एक पद को दूसरे पर से अलग किया जाता है। सामान्यतया प्रबन्ध के तीन स्तर होते हैं–

i. शीर्ष प्रबन्ध,

ii. मध्य प्रबन्ध, एवं

iii. निम्न प्रबन्ध ।

i. **शीर्ष प्रबन्ध**–किसी कम्पनी प्रबन्ध के शीर्ष स्तर की संरचना में अध्यक्ष, निर्देशक मण्डल, मुख्य अधिशासी और उपाध्यक्ष सम्मिलित होते हैं। शीर्ष प्रबन्ध अन्ततोगत्वा समस्त अधिकारों का स्त्रोत और समस्त दायित्वों का वाहक होता है। यह संगठन के उद्देश्यों और नीतियों का निर्धारण करता है और मध्य प्रबन्ध द्वारा सम्प्रेषित प्रतिवेदनों की समीक्षा करता है।

ii. **मध्य प्रबन्ध**–प्रबन्ध के इस स्तर पर संभागीय प्रबन्धक, विभागीय प्रबन्धक, अनुभागीय प्रबन्धक,कारखाना प्रबन्धक, अधीक्षक आदि शामिल होते हैं। प्रबन्ध के इस स्तर पर शीर्ष प्रबन्ध द्वारा निर्धारित उद्देश्यों और नीतियों की सीमाओं में व्यापक कार्यक्रम और दिशा–निर्देश तैयार किये जाते हैं और निम्न प्रबन्ध के कार्यों व निष्पादनों की समीक्षा की जाती है। ये अपने विशिष्ट विभाग की कमान सँभालते हैं और समस्त विभागीय कार्यों के लिए उत्तरदायी ठहराए जाते हैं।

iii. **निम्न प्रबन्ध**–प्रबन्ध के इस स्तर को प्रथम रेखीय प्रबन्ध अथवा पर्यवेक्षकीय प्रबन्ध भी कहा जाता है। वे तथ्य प्रबन्ध और कर्मचारियों के बीच सम्बद्ध कड़ी का कार्य करते हैं। इनमें फोरमैन, पर्यवेक्षक, वित्त एवं लेखाधिकारी, प्रमुख लिपिक व स्टोर कीपर आदि आते हैं। ये मध्य प्रबन्ध कार्यक्रमों व दिशा–निर्देश के अनुसार श्रमिकों व कामगारों से क्रियाओं का निष्पादन कराने हेतु पर्यवेक्षण व सत्त देख–रेख करते हैं। इनमें पर्यवेक्षण के गुण कूट–कूट कर भरे होने चाहिए। **डेल योडर** ने बहुत सुन्दर उपमाएँ दी हैं, ''उनमें धर्यवान व्यक्ति जैसे धैर्य, गैंडे जैसी खाल, लोमड़ी जैसी चतुराई, सिंह जैसा साहस, चिमगादड़ जैसा अन्धापन एवं रहस्यमयी व्यक्ति जैसी चुप्पी होनी चाहिए।''

2.2 प्रबन्धकीय कार्य

प्रबन्ध एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें कुछ मूलभूत कार्य सम्मिलित किये जाते है। प्रबन्ध–प्रक्रिया के अन्तर्गत सम्मिलित किये जाने वाले कार्यों के सम्बन्ध में भारी मतभेद है।

विभिन्न विद्वानों के मत – प्रबन्ध की परिभाषा की भाँति इसके कार्यों के सम्बन्ध में भी विभिन्न विद्वानों के अलग–अलग विचार हैं। कुछ प्रमुख चिन्तकों के विचार निम्न प्रकार है –

हेनरी फेयोलने प्रबन्ध–प्रकार्यों के अन्तर्गत निम्न पाँच तत्त्वों को शामिल किया है – (1) पूर्वानुमान एवं नियोजन, (2) संगठन, (3) निर्देश या आदेश देना, (4) समन्वय, एवं (5) नियन्त्रण।

फेयोल के शब्दों में, प्रबन्ध करने से आशय पूर्वानुमान एवं नियोजन करना, संगठन बनाना, आदेश देना, समन्वय करना तथा नियन्त्रण करना है।

ई0 एफ0 एल0 ब्रीक ने प्रबन्ध के निम्न चार कार्यों का वर्णन किया है – (1) नियोजन, (2)

नियन्त्रण, (3) समन्वय, और (4) अभिप्रेरण।

आर0 सी0 डेविस के अनुसार प्रबन्ध के तीन कार्य बतलाये है – (1) नियोजन, (2) संगठन, (3) नियन्त्रण।

जार्ज आर0 टैरी ने प्रबन्ध के चार कार्य बतालाये है – (1) नियोजन, (2) संगठन, (3) प्रेरित करना, और (4) नियन्त्रण।

अर्नेस्ट डेल के अनुसार प्रबन्ध के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं– (1) नियोजन, (2) संगठन, (3) स्टाफिंग, (4) निर्देशन, (5) नियन्त्रण, (6) नवाचार, तथा (7) प्रतिनिधित्व।

कुण्ट्ज एवं ओ' डोनेल के अनुसार प्रबन्ध के पाँच कार्य है – (1) नियोजन, (2) संगठन, (3) नियुक्ति, (4) निर्देशन, (5) नियन्त्रण।

2.3 प्रबन्ध का सामाजिक उत्तरदायित्व

आधुनिक प्रबंधक को मात्र स्वामी के प्रति ही नहीं वरन् समाज के विविध वर्गो के प्रति उत्तरदायित्व का निर्वहन करना चाहिए। प्रबंधक को राष्ट्र, श्रमिकों, उपभोक्ताओं, पूर्तिकर्ताओं, स्वामियों, सरकार आदि के प्रति जवाब देह न केवल नैतिक आधार पर बल्कि अनिवार्यता के कारण होना चाहिए। सूचना का अधिकार और विक्रेता की सावधानी का नियम लोकप्रिय होने के कारण प्रबंधकों को समाज के प्रत्येक तबके के प्रति उत्तरदायित्व का निर्वहन करते रहना चाहिए। **ए0 एस0 साइमन** के अनुसार, ''प्रबन्ध अर्थव्यवस्था का सृजन ही नहीं बल्कि निर्माता भी है। जिस सीमा तक वह अधिक परिस्थितियों को नियंत्रित करता है और सतत एवं प्रत्यक्ष प्रयत्नों से उन परिस्थितियों को बताता है, उसी सीमातक वह वास्तव में प्रबन्धक है।'' **पीटर एफ0 ड्रकर** के अनुसार, ''प्रबन्ध का सामाजिक उत्तरदायित्व उपक्रम, जिसका कि वह अंग है और समाज, जिसका कि उपक्रम अंग है, दोनों के प्रति है।''

उन्नीसवीं शताब्दी तक तो व्यवसाय का आकार लघु था अतः व्यावसायिक प्रबंधन किफायती स्वभाव के होते थे। फिर भी स्थल, मन्दिर, गिरिजाघर निर्माण और प्राकृतिक विपदा में गरीबों के सहायतार्थ व्यय करते थे। इक्कीसवीं शताब्दी में तो प्रबंधकों के सामाजिक उत्तरदायित्व के क्षेत्र में बहुयामी विस्तार हो रहा है। आज प्रबंधक शिक्षा, स्वास्थ्य, कर्मचारी कल्याण, पर्यावरण संस्थान, ऊर्जा संकट समाधान जैसे सामाजिक सरोकारों से प्रत्यक्ष जुड़ गए हैं। कुण्ट्ज एवं ओ' डोनेल ने उचित कहा है कि, ''सामाजिक उत्तरदायित्व निजी हित में कार्य करने वाले प्रत्येक व्यक्ति का ऐसा दायित्व है जिससे वह स्वयं आश्वस्त होता हो कि उसके द्वारा अन्य व्यक्तियों के न्यायोचित अधिकारों और हितों को कोई क्षति नहीं पहुँचती है।''

2.4 सामाजिक उत्तरदायित्वों के कारण

पक्ष में तर्क– प्रबन्ध के सामाजिक उत्तरदायित्व के पक्ष में निम्न तर्क दिए जाते हैः

(1) व्यवसाय दीर्घकाल में तभी जीवित रह सकता है जबकि समाज की आवश्यकताओं को पूरा किया जाय।

(2) इससे सार्वजनिक छवि में सुधार होता है और लक्ष्यों की प्राप्ति सम्भव हो पाती है।

(3) व्यवसाय के कारण अनेक गंभीर सामाजिक समस्याएं पैदा हो रही है अतः सामाजिक बेहतरी करके नैतिक उत्तरदायित्व निभाना चाहिए।

(4) इससे पर्यावरण संरक्षण को प्रोत्साहन मिलता है।

(5) सामाजिक उत्तरदायित्व का निर्वहन भली–भाँति न करने पर सरकार कठोर कदम उठाने को बाध्य होती है।

(6) सामाजिक उत्तरदायित्वों का पूरा किए जाने पर श्रमिक भरपूर सहयोग देते हैं।

(7) वैधानिक प्रावधान भी सामाजिक उत्तरदायित्वों को पूरा करने पर बल देता है।

(8) इससे सामाजिक चेतना, कृतज्ञता, हितों में एकता और पारस्परिक निर्भरता को प्रोत्साहन मिलता है।

विपक्ष में तर्क :– सामाजिक उत्तरदायित्व के विपक्ष में निम्न तर्क दिए जाते हैंः

(1) प्रबंधक द्वारा सामाजिक उत्तरदायित्वों के निर्वहन करने से लागतों में काफी बढ़ोत्तरी होती है जिसकी वसूली हेतु वस्तुओं की कीमतें बढ़ानी पड़ती है।

(2) आमतौर पर सामाजिक उत्तरदायित्वों को पूरा कराने हेतु कुशल कर्मचारियों का अभाव होता है। इसी आड़ में धन का दुरूपयोग किया जाता है।

(3) बहुधा इस विचार धारा को पूंजीवादी व्यवस्था में अनुचित माना जाता है क्योंकि इससे लाभार्जन की शक्ति में कमी आती है।

(4) आमतौर पर सामाजिक उत्तरदायित्व को दिखावा के लिए स्वीकार किया जाता है।

(5) लघु उद्यमी सामाजिक उत्तरदायित्व पर अधिक व्यय नहीं कर सकते हैं।

(6) समाज के विविध पक्षों के हित आपस में विरोधाभासी होते है अतः सामाजिक उत्तरदायित्व भली–भाँति क्रियान्वित नहीं हो पाता है।

2.5 संगठन के सम्बन्ध पक्षकार

व्यवसाय के संचालन में समाज के विभिन्न वर्गों का योगदान होता है अतः उन सभी वर्गों के प्रति प्रबंधक के प्रबंधक का उत्तरदायित्व होता है। विभिन्न पक्षकरों के प्रति प्रबन्धक के सामाजिक उत्तरदायित्व का वर्णन निम्नलिखित है।

(अ) उपभोक्ताओं के प्रति –पीटर एफ0 ड्रकर के अनुसार, ''व्यावसायिक उद्देश्य की सिर्फ भाषा है – ग्राहक का सृजन करना। अतः उपभोक्ता अर्थात् ग्राहक ही बाजार का राजा होता है। उपभोक्ताओं के प्रति प्रबन्धक के सामाजिक उत्तदायित्व निम्नवत है :''

(1) माल की उत्तर और मानक किस्में उपलब्ध कराना।

(2) विक्रय के उपरान्त सेवा उपलब्ध कराना।

(3) विज्ञापन में मिथ्यावर्णन न करना जिससे उपभोक्ता को धोखा से बचाया जा सके।

(4) माल का सही कीमत रखना।

(5) उपभोक्ताओं की रूचि और आवश्यकता के अनुसार वस्तु का उत्पादन करना।

(6) उपभोक्ताओं की शिकायतों का त्वरित निस्तारण करना।

(7) सृद्रढ़ वितरण प्रणाली से वस्तुओं के कृत्रिम अभाव को रोकना।

(8) उपभोक्ताओं से सौम्य व्यवहार करना।

(9) माल की सुरक्षा एवं स्वच्छता के लिए उत्तम पैकिंग करना।

(10) ग्राहकों को ताजा और टिकाऊ वस्तु उपलब्ध कराना।

(ब) कर्मचारियों के प्रति – एक संतुष्ट कर्मचारी के ही बल पर प्रबंधन संस्था का तेजी से विकास कर सकता है। असंतुष्ट कर्मचारी व्यवसाय की प्रगति को अवरूद्ध कर देता है। प्रबंधक को अपने कर्मचारियों के प्रति निम्न सामाजिक जिम्मेदारियों को निभाना चाहिए :

(1) कर्मचारियों को उचित परिश्रमिक प्रदान करना।

(2) श्रम कल्याण हेतु प्रयास करना।

(3) उचित प्रशिक्षण एवं विकास की व्यवस्था करना।

(4) कुशल परिवेदना निवारण पद्धति विकसित करना।

(5) पदोन्नति की उचित व्यवस्था करना।

(6) दुर्घटना, वृद्धावस्था, बेरोजगारी के खतरों के प्रति सुरक्षा प्रदान करना।

(7) व्यक्तिगत सम्मान प्रदान करना।

(स) पूर्तिकर्ताओं के प्रति– व्यवसाय प्रबंधक को कच्चे माल, मशीनों, कार्यालय सामग्री आदि के आपूर्तिकर्ताओं का उचित मूल्य सही समय पर चुकाना चाहिए। उन्हें संस्था के आवश्यकताओं और रूचि, आदतों, फैशन आदि के परिवर्तनों से अवगत कराते रहना चाहिए जिससे कि आपूर्तिकर्ता उत्तम गुणवक्ता के सामान प्रदान कर सके।

(द) स्वामियों के प्रति– अंशधारियों के हितों की रक्षा के लिए प्रबंधक को उचित लाभांश प्रदान करना चाहिए, सभाओं की सूचना उचित समय पर देना चाहिए और तथ्यों को निःसंकोच प्रकट करना चाहिए।

(य) अन्य के प्रति– व्यवसाय प्रबंधक को सरकार, समुदाय, राष्ट्र और स्वयं के प्रति उत्तरदायी होना चाहिए। उसे व्यवसाय का कुशलता से संचालन करना चाहिए, जनहित को प्राथमिकता देना चाहिए और अनुसंधान को बढ़ावा देना चाहिए।

भारत में पेशेवर प्रबंधक सामाजिक उत्तरदायित्व और अंकेक्षण को प्राथमिकता देते हैं। बाढ़, सूखा, महमारी, उत्तराखण्ड के प्राकृतिक विपदा में इन्होंने सामाजिक उन्नयन का कार्य श्रेष्ठ तरीके से किया है। फिर भी, आर्थिक, संगठनात्मक, प्रशासनिक, राजनैतिक और भावनात्मक बाधाओं को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए।

2.6 सारांश

प्रबन्ध के स्तर और आवश्यक कौशल से आशय व्यवसायिक उपक्रम का प्रबन्ध करने वाले विभिन्न पदाधिकारियों के वर्गीकरण से है। यह प्रबन्धकीय कलेवर की रूपरेखा होती है। जिसमें पदों के मध्य रेखा खींचकर एक पद को दूसरे पद से अलग किया जाता है। सामान्यतया प्रबन्ध के तीन स्तर होते है – (1) शीर्ष प्रबन्ध, (2) मध्य प्रबन्ध, एवं (3) निम्न प्रबन्ध।

शीर्ष प्रबन्ध अन्ततोगत्वा समस्त अधिकारों का स्त्रोत और समस्त दायित्वों का वाहक होता है। यह संगठन के उद्देश्यों और नीतियों का निर्धारण करता है। मध्य प्रबन्ध में शीर्ष प्रबन्ध द्वारा निर्धारित उद्देश्यों और नीतियों की सीमाओं में व्यापक कार्यक्रम और दिशा–निर्देश तैयार किये जाते है और निम्न प्रबन्ध के कार्यों व निष्पादनों की समीक्षा की जाती है। निम्न प्रबन्ध, मध्य प्रबन्ध और कर्मचारियों के बीच सम्बद्ध कड़ी का कार्य करते है।

प्रबन्कीय कार्यों के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के अलग–अलग विचार है –हेनरी फेयोल ने प्रबन्ध –प्रकार्यों के अन्तर्गत पाँच तत्वों को शामिल किया है – (1) पूर्वानुमान एवं नियोजन, (2) संगठन, (3) निदेश या आदेश देना, (4) समन्वय, एवं (5) नियंत्रण। ई0 एफ0एस0 ब्रीक के अनुसार –

(1) नियोजन, (2) नियंत्रण, (3) समन्वय, और (4) अभिप्रेरण। डेविस के अनुसार – (1) नियोजन, (2) संगठन, और (3) नियंत्रण।

जार्ज आर0 टेरी के अनुसार – नियोजन, संगठन, प्रेरित करना एवं नियंत्रण। आधुनिक प्रबन्धक को मात्र स्वामी के प्रति ही नहीं वरन् समाज के विविध वर्गों के प्रति उत्तरदायित्व का निर्वहन करना चाहिए। प्रबन्धक को राष्ट्र, श्रमिकों, उपभोक्ताओं, पूर्तिकर्ताओं, स्वामियों, सरकार आदि के प्रति जवाबदेह न केवल नैतिक आधार पर बल्कि अनिवार्यता के कारण होना चाहिए। **पीटर एफ0 ड्रकर** के अनुसार, ''प्रबन्धक का सामाजिक उत्तरदायित्व उपक्रम, जिसका कि वह अंग है और समाज, जिसका कि उपक्रम अंग है, दोनों के प्रति है।''

व्यवसाय के संचालन में समाज के विभिन्न वर्गों का योगदान होता है। अतः उन सभी वर्गों के प्रति प्रबन्धक का उत्तरदायित्व होता है। विभिन्न पक्षकारों के प्रति प्रबन्धक के सामाजिक उत्तरदायित्व निम्नलिखित है – (1) उपभोक्ताओं के प्रति, (2) कर्मचारियों के प्रति, (3) पूर्तिकर्ताओं के प्रति, (4) स्वामियों के प्रति, एवं (5) सरकार के प्रति।

2.7 महत्वपूर्ण शब्दावली

- **शीर्ष प्रबन्ध**– शीर्ष प्रबन्ध अन्ततोगव्वा समस्त अधिकारों का स्त्रोत और समस्त दायित्वों का वाहक होता है। यह संगठन के उद्देश्यों और नीतियों का निर्धारण करता है और मध्य प्रबन्ध द्वारा सम्प्रेषित प्रतिवेदनों की समीक्षा करता है।
- **सामाजिक उत्तरदायित्व** – सामाजिक उत्तरदायित्व निजी हित में कार्य करने वाले प्रत्येक व्यक्ति का ऐसा दायित्व है जिससे वह स्वयं आश्वस्त होता है कि उसके द्वारा अन्य व्यक्तियों के न्यायोचित अधिकारों और हितों को कोई क्षति नहीं पहुँचती है।
- **कर्मचारियों के प्रति** –एक संतुष्ट कर्मचारी के ही बल पर प्रबंधक संस्था का तेजी से विकास कर सकता है। असंतुष्ट कर्मचारी व्यवसाय की प्रगति को अवरूद्ध कर देता है।
- **स्वामियों के प्रति**– अंशधारियों के हितों की रक्षा के लिए प्रबन्धक को उचित लाभांश प्रदान करना चाहिए, सभाओं की सूचना उचित समय पर देना चाहिए और तथ्यों को निःसंकोच प्रकट करना चाहिए।

2.8 आवश्यक प्रश्न

प्रश्न–01– प्रबन्धक के सामाजिक उत्तदायित्व को विस्तार से समझाइये।

प्रश्न–02– प्रबन्ध के सामाजिक उत्तरदायित्व के पक्ष– विपक्षकी व्याख्या कीजिए।

प्रश्न–03–प्रबन्धकीय कार्य की क्रियात्मक गतिविधियों का संक्षिप्त विवेचना कीजिए।

प्रश्न–04– संगठन के सम्बन्ध पक्षकार कौन–कौन से हैं? उनका संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

प्रश्न–05–निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी कीजियेः–

(1) कर्मचारियों के प्रति प्रबन्धक का सामाजिक उत्तदायित्व

(2) मध्य प्रबन्ध

कुछ उपयोगी पुस्तकें

6. प्रबन्ध के सिद्धान्त एस के सिंह प्रयाग पुस्तक भवन इलाहाबाद 2006
7. व्यावसायिक प्रबन्ध ओ. पी. राय बी. के. सिंह वैभवसम्मी प्रकाशन, वाराणासी, 2012
8. औद्योगिक संगठन एवं प्रबन्धन, आर.सी. गुप्ता, साहित्य भवन पब्लिकेषन आगरा, 2003
9. व्यवसायिक संगठन, जगदीश प्रकाश, प्रयाग पुस्तक भवन, 2014
10. औद्योगिक प्रबन्ध, जे.के. जैन, प्रतीक प्रकाशन आगरा, 2001

इकाई–03 प्रबन्ध के अध्ययन का अवधारणाएं

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 वैज्ञानिक प्रबन्ध

3.3 प्रशासनिक सिद्धान्त

3.4 प्रबन्ध का प्रणालीगत उपागम

3.5 मानवीय सम्बन्ध उपागम

3.6 निर्णयन सिद्धांत उपागम

3.7 संयोगिक या आकस्मिकता उपागम

3.8 व्यवहारवादीउपागम

3.9 सारांश

3.10 महत्वपूर्ण शब्दावली

3.11 आवश्यक प्रश्न

3.0 उद्देश्य

इस अध्याय के अध्ययन से आप निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर दे पायेंगे।

- ❖ वैज्ञानिक प्रबन्ध दृष्टिकोण को संक्षेप में समझाइये।
- ❖ व्यवहारवादी दृष्टिकोण क्या है ?
- ❖ प्रबन्ध की प्रासंगिक विचारधारा को स्पष्ट कीजिये।
- ❖ प्रबन्ध की प्रणालीगत विचारधारा पर टिप्पणी लिखिये।
- ❖ वैज्ञानिक प्रबन्ध से आप क्या समझते हैं ?

3.1 प्रस्तावना

प्रबंधकीय विचारधारा की कहानी कहाँ से और कब से आरम्भ हुई, यह निश्चित रूप से तो कहना कठिन है। परन्तु, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि प्रबन्ध का सम्बन्ध मानव सभ्यता के आदिकाल से ही है। वस्तुतः प्रबन्ध की कला उतनी ही पुरानी है जितनी मानव सभ्यता। जैसे ही मनुष्य ने समूहों

में रहना और कार्य करना आरम्भ किया वैसे ही प्रबन्ध का प्रादुर्भाव हुआ। प्राचीन काल में प्रबन्ध के सिद्धान्तों का प्रयोग चर्च, सेना तथा सरकारी संस्थाओं में होता था। सोपान श्रृंखला, कार्यात्मक विशिष्टीकरण, स्टॉफ विशेषज्ञ आदि सिद्धान्तों की उत्पत्ति सेना में हुई थी। एथेंस कामनवेल्थ, मिस्र के पिरामिड, चीनी विचारकों के लेखों, दिल्ली के लौहस्तम्भ तथा मोहनजोदड़ों की खुदाई में प्रबन्ध एवं संगठन के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं। बाइबल, भगवद्गीता, कौटिल्य के अर्थशास्त्र आदि ग्रंथों में प्रबन्ध एवं प्रशासन के सिद्धान्तों तथा विधियों का उल्लेख मिला है।

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुई औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप सर्वप्रथम इंग्लैण्ड में फिर अमेरिका व यूरोप के देशों में और फिर एशिया व अन्य महाद्वीपों में कारखाना प्रणाली का जन्म उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुआ। कारखानों में काफी संख्या में लोग सामूहिक रूप से कार्य करने लगे, जबकि पूर्व में लोग कुटीर उद्योग के रूप में अपने पारिवारिक सदस्यों के साथ घर पर या दुकानों में छोटे स्तर पर उत्पादन कार्य करते थे। कारखाना प्रणाली के साथ प्रारम्भ हुई औद्योगीकरण की इस प्रक्रिया में श्रमिकों व अन्य उत्पादन संसाधनों के प्रभावपूर्ण प्रबन्ध की आवश्यकता हुई। इसने समयानुसार विभिन्न प्रबन्धकीय विचारों व सिद्धान्तों को जन्म दिया।

3.2 वैज्ञानिक प्रबन्ध

फ्रेडरिक डब्ल्यू0 टेलर (1856–1915) को वैज्ञानिक प्रबन्ध का जन्मदाता माना जाता हैं। उन्होंने फिलाडेलफिया की एक कम्पनी में मशीन प्रशिक्षार्थी के रूप में कार्य आरम्भ किया और अपनी प्रतिभा तथा परिश्रम के बल पर कुछ वर्षों में ही बैथलहेम स्टील कम्पनी के मुख्य प्रबन्धक बन गये। वे जीवन भर अनुसंधान करते रहे और व्यक्तिगत अनुभव तथा अनुसंधानों के आधार पर उन्होंने प्रबन्ध में सर्वथा नवीन विचारों को जन्म दिया जिन्हें वैज्ञानिक प्रबन्ध की संज्ञा दी गई। टेलर ने अपने विचारों को अपनी दो पुस्तकों Principles of Scientific Management (1913)तथा Shop Management (1903)में प्रस्तुत किया है।

अर्थ एवं परिभाषा—सरल शब्दों में वैज्ञानिक प्रबन्ध का अर्थ है– प्रबन्ध कार्य में रूढ़िवादी पद्धति और भूल सुधार प्रणाली के स्थान पर तर्कसंगत एवं वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग करना। **टेलर** के अनुसार, ''वैज्ञानिक प्रबन्ध यह जानने की कला है कि आप व्यक्तियों से क्या कार्य कराना चाहते हैं और फिर यह देखना है कि वे इसको सर्वोत्तम एवं सबसे किफायती तरीके के साथ पूरा करते हैं।'' वैज्ञानिक प्रबन्ध वह सुव्यवस्थित प्रबन्ध है जिसमें निरीक्षण, विश्लेषण, प्रयोग तथा तर्कों का उपयोग किया जाता है।

वैज्ञानिक प्रबन्ध के सिद्धान्त

टेलर ने अपने समस्त परीक्षणों और परिणामों के आधार पर वैज्ञानिक प्रबन्ध के कुछ महत्वपूर्ण सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। टेलर ने इन सिद्धान्तों को संक्षेप में निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया हैं।

1. **विज्ञान, न कि अनुमान**—इस सिद्धान्त के अनुसार वैज्ञानिक प्रबन्ध में सभी कार्य 'गलती करो और सुधारो' पद्धति के स्थान पर वैज्ञानिक एवं तर्कपूर्ण पद्धतियों के आधार पर किये जाते हैं। वैज्ञानिक पद्धति का अभिप्राय ऐसी पद्धति से होता है जो प्रयोगों द्वारा विकसित की गयी हो।

2. **संगति, न कि असंगति**—वैज्ञानिक प्रबन्ध का दूसरा सिद्धान्त यह है कि संस्था में विभिन्न स्तरों पर पाई जाने वाली असंगतियों (अर्थात् मेल नहीं खाने वाली या प्रतिकूल स्थितियों) को समाप्त करके उन्हें अनुकूल बनाया जाये। इस सिद्धान्त के आधार पर कच्चे माल, कार्य पद्धतियाँ, मशीनों तथा अन्य नीतियों में विभिन्नताओं के स्थान पर एकरूपता आती है।

3. **सहयोग, न कि व्यक्तिवाद**—वैज्ञानिक प्रबन्ध का यह भी एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है कि न केवल कर्मचारियों में आपस में, बल्कि कर्मचारियों और मालिक के बीच भी सहयोग होना चाहिए। टेलर महोदय ने मालिकों तथा कर्मचारियों के मध्य सहयोग स्थापित करने के लिए मानसिक क्रान्ति की आवश्यकता पर विशेष बल दिया है।

4. **सीमित उत्पादन के स्थान पर अधिकतम उत्पादन**—वैज्ञानिक प्रबन्ध का चौथा सिद्धान्त उत्पादन को अधिकतम करने पर जोर देता है जिससे कि अधिकतम लाभ हो और उत्पादन प्रक्रिया से सम्बन्धित सभी पक्षों को लाभ मिल सके। इस प्रकार वैज्ञानिक प्रबन्ध सीमित उत्पादन की विचारधारा के विरूद्ध है।

5. **प्रत्येक व्यक्ति का अधिकतम कुशलता एवं सम्पन्नता तक विकास**—वैज्ञानिक प्रबन्ध में प्रत्येक श्रमिक को उनकी अधिकतम कुशलता एवं सम्पन्नता तक पहुँचाने का भरसक प्रयास किया जाता है। इस दृष्टि से श्रमिकों का चयन वैज्ञानिक पद्धति पर किया जाता है। तत्पश्चात् उन्हें आवश्यक प्रशिक्षण प्रदान किया जाता है। प्रशिक्षण के बाद कर्मचारियों को कार्य का उचित वितरण किया जाता है। कर्मचारियों को निरन्तर ऊँची दर से तथा प्रेरणादायक विधि से पारिश्रमिक प्रदान किया जाता है। इसका श्रमिकों को उत्पादकता पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है।

टेलर ने प्रबन्ध के वैज्ञानिक पहलू को उजागर किया तथा प्रबन्ध के व्यवस्थित अध्ययन की नींव रखी। उन्होंने प्रबन्ध में मानसिक क्रान्ति पर तथा वैज्ञानिक नियमों पर बल दिया। प्रबन्ध को कुशल बनाने के लिए उन्होंने अनेक प्रगतिशील तरीकें, जैसे— क्रियात्मक, विभेदात्मक मजदूरी प्रणाली, समय अध्ययन, गति अध्ययन, प्रमापीकरण आदि का सुझाव दिया। फिर भी टेलर के वैज्ञानिक प्रबन्ध की निम्नलिखित आलोचनाएं हुई है—

1. टेलर की यह मान्यता गलत है कि एक व्यक्ति समूह की अपेक्षा व्यक्तिगत रूप से कार्य करता है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और वह मिलकर कार्य करना चाहता है। टेलर ने एक कर्मचारी के व्यवहार एवं कार्य पर समूह के प्रभाव को नहीं बताया है।

2. टेलर ने कर्मचारी की अपेक्षा मशीन पर अधिक बल दिया है, उन्होंने मानवीय पक्ष की उपेक्षा

की है।

3. टेलर ने वैज्ञानिक तकनीक तथा कारखाना स्तर की समस्याओं पर अधिक विचार किया है। उन्होंने प्रशासन के सर्वमान्य सिद्धान्तों पर ध्यान नहीं दिया है।
4. टेलर ने विशिष्टीकरण की आवश्यकता पर अत्यधिक बल दिया है, किन्तु आवश्यकता से अधिक विशिष्टीकरण कार्य में थकावट तथा नीरसता लाता है।
5. टेलर ने श्रमसंघों को अनावश्यक माना है। उनके अनुसार वैज्ञानिक प्रबन्ध के लाभों को जानने के पश्चात् श्रमिकों को किसी प्रकार की सौदेबाजी की आवश्यकता नहीं होगी, किन्तु आधुनिक युग में यह बात सही नहीं लगती।

इन आलोचनाओं के बावजूद यह कहना सर्वथा उचित है कि टेलर के विचार प्रबन्ध के विकास में मौलिक हैं तथा उन्हें आधुनिक प्रबन्ध का जनक कहा जाता है।

3.3 प्रशासनिक सिद्धान्त

प्रशासनिक सिद्धान्त अथवा प्रबन्ध प्रक्रिया पद्धति का विकास मुख्यतया फ्रांस के प्रसिद्ध विद्वान हेनरी फेयोल ने किया है। **हेनरी फेयोल** (1841–1925) ने एक खनिज कम्पनी में कनिष्ठ अभियन्ता की नौकरी शुरू किया और अपनी लगन एवं योग्यता से कार्य करके वे 1888 में इस कम्पनी के प्रबन्ध संचालक के पद पर पहुँच गए। उन्होंने प्रशासन के सिद्धान्तों की सार्वभौमिकता पर बल दिया है। उनके प्रबन्ध के सिद्धान्त जीवन के सभी क्षेत्रों में लागू होते हैं, परन्तु ये मार्गदर्शक हैं कड़े नियम नहीं। अपनी इस मान्यता के आधार पर उन्होंने प्रबन्ध के 14 सिद्धान्त प्रस्तुत किये हैं। फेयोल ने प्रबन्धकों के लिए औपचारिक शिक्षा एवं प्रशिक्षण पर बल दिया। उनके अनुसार एक अच्छे प्रबन्धक में शारीरिक स्वास्थ्य एवं स्फूर्ति, बौद्धिक क्षमता, नैतिकता, सामान्य व विशिष्ट ज्ञान तथा अनुभव सम्बन्धी गुण होने चाहिए। फेयोल के विचार उनकी **''सामान्य और औद्योगिक प्रबन्धन''** नामक पुस्तक में उपलब्ध है।

प्रबन्ध प्रक्रिया का विश्लेषण करके फेयोल ने प्रबन्ध के कार्यों को नियोजन, संगठन, निर्देशन, समन्वय एवं नियंत्रण के रूप में परिभाषित किया है। उनके अनुसार सभी औद्योगिक उपक्रमों में 6 क्रियाएं होती हैं–

1. तकनीकी : उत्पादन व निर्माण,
2. वाणिज्यिक : क्रय–विक्रय,
3. वित्तीय : पूंजी की प्राप्ति एवं उपयोग,
4. सुरक्षा : जान एवं माल की सुरक्षा,
5. लेखांकन : लागत नियंत्रण, सांख्यिकीय अभिलेखन,

6. प्रबन्धकीय।

03.4 प्रबन्ध का प्रणालीगत उपागम

प्रबन्ध के आधुनिक सिद्धांतों के अन्तर्गत प्रबन्ध प्रणाली की विचारधारा एक नयी विचारधारा है जिसके जन्मदाता थे **प्रो0 लुडविग वॉन बटालांफी**। उनके अनुसार ज्ञान की प्रत्येक शाखा अपने वातावरण की एक प्रणाली होती है। इसी आधार पर 'प्रबन्ध को भी एक प्रणाली या तन्त्र की संबा दी जा सकती है।' प्रणाली का आशय अन्तर– सम्बन्धित विभिन्न इकाइयों के एक समू से है जिसकी प्रत्येक कड़ी परस्पर एक–दूसरी कड़ी को प्रभावित करती है। यह कड़ी से तात्पर्य इकाई से है। एक सामान्य प्रणाली की कुछ विशेषताएं होती है जैसे कि नीचे दिये चित्र से स्पष्ट है–

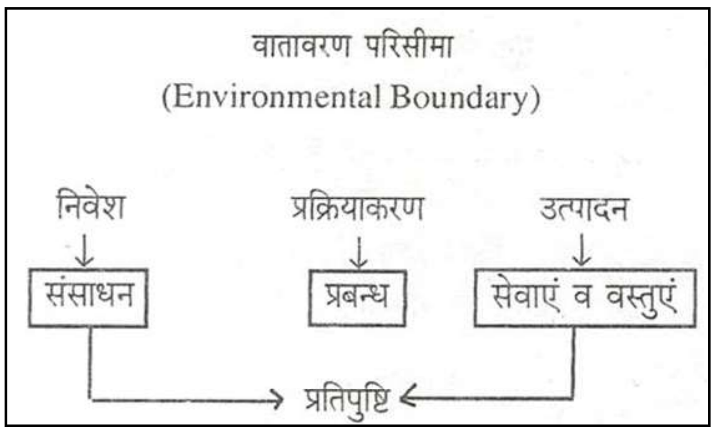

प्रो0 लुडविग वान बटालांफी के भाब्दों में, ''प्रणाली कई इकाइयों का समूह है जो परस्पर सम्बन्धिक होती है।'' प्रणाली को समझने के लिए हम मानव शरीर का उदाहरण प्रस्तुत कर सकते है। मानव शरीर एक सम्पूर्ण प्रणाली है जिसमें कई उप–प्रणालियां सम्मिलित हैं, जिन्हें हम श्वसन प्रणाली, नाड़ी प्रणाली, पाचक प्रणाली आदि नामों से पुकारते हैं। ये सभी उप–प्रणालियां अपने आप से पूर्ण प्रणाली के रूप में होती हैं, किंतु इनका अपने आप में अलग से कोई महत्व नहीं होता हैं जब ये सभी उप–प्रणालियां मिलकर कार्य करती है तो मनुष्य जीवित रहता है तथा उसका संतुलित ढंग से विकास होता है परन्तु इसमें से किसी भी एक उपप्रणाली के द्वारा अपना कार्य बंद कर देने पर सम्पूर्ण प्रणाली ही अवरूद्ध हो जाती है, विकास रूक जाता है और कभी–कभी तो मनुष्य की मौत भी हो जाती है।

विशेषताएं – इस विचारधारा की निम्नलिखित विशेषताएं हैं–

(1) प्रत्येक प्रणाली में अनेक उप–प्रणालियां निहित होती है।

(2) प्रत्येक उप–प्रणाली यद्यपि अपने आप में पूर्ण होती है, किन्तु प्रणाली का अंग होती है।

(3) प्रणाली में जटिलता पायी जाती है। इसके फलस्वरूप किसी भी उप–प्रणाली में थोड़ा–सा भी परिवर्तन होने पर सभी उप–प्रणालियां तथा सम्पूर्ण प्रणाली प्रभावित होती है।

(4) प्रणाली पद्धति में प्रतिपुष्टि होना आवश्यक है।

(5) एक उप–प्रणाली को किसी प्रणाली से अलग नहीं किया जा सकता है।

(6) प्रत्येक प्रणाली अपनी उप–प्रणालियों से आवश्यक सूचनाएं प्राप्त करती है।

(7) प्रत्येक प्रणाली का एक पूर्व–निर्धारित लक्ष्य होता है जिसको पाने के लिए सभी उप–प्रणालियां अपना योगदान करती है।

आलोचनात्मक मूल्यांकन – यह विचारधारा प्रबन्ध की किसी तकनीक को स्पष्ट नहीं करती तथा इसको अपनाने के लिए वातावरण की विभिन्न प्रणालियों व उप–प्रणालियों के पारस्परिक प्रभाव का अध्ययन करना पड़ता है, जो अत्यन्त जटिल कार्य हैं। अतः इस विचारधारा को विशेष मान्यता प्राप्त है क्योंकि यह व्यावसायिक निर्णयन प्रक्रिया में क्रांति ला रही है। इस विचारधारा के निम्न लाभ हैं–

(1) सामाजिक दायित्व का निर्वाह यथाविधि किया जा सकता है।

(2) सम्पूर्ण संगठन को समग्र रूप में देखा व समझा जा सकता है।

(3) प्रभावित करने वाले घटकों का विश्लेषण करके ठोस निर्णय लिए जा सकते है।

(4) वातावरण में समन्वय स्थापित किया जा सकता है।

(5) नवीन विचारों व सूचनाओं का प्रवाह बना रहता है।

3.5 मानवीय सम्बन्ध उपागम

यह एक नई विचारधारा है जिसका प्रारम्भ सन् 1950 के आस–पास हुआ। यह विचारधारा वह अन्तरदृष्टि प्रदान करती है, जो कि मनुष्य के व्यक्तिगत व सामूहिक व्यवहार के सम्बन्ध के लिए अपरिहार्य है। इसके अन्तर्गत मानवीय व्यवहार का वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन किया जाता है। **कुर्त लेविन** इसके प्रवर्तकों में प्रमुख माने जाते है, व्यवहारवादी विज्ञान से आशय उस विज्ञान से है जो मानवीय व्यवहार से प्रत्यक्षतः सम्बन्ध रखने वाली वैज्ञानिक शोध पर आधारित है। यह वह दृष्टिकोण है जो व्यक्तियों एवं संगठन को प्रभावी ढंग से एकीकृत करता है। यह अपने में मानवीय सम्बन्ध, समूह गति विज्ञान, मानवीय इंजीनियरिंग, प्रबन्ध में सहकारिता, औपचारिकता व अनौपचारिक संगठन, औद्योगिक प्रजातंत्र आदि विषयों के अध्ययन को समाहित करता है।

प्रकृति – इस विचारधारा की निम्नलिखित प्रकृति हैं–

(1) इस विज्ञान के अध्ययन का उद्देश्य प्रामाणिक साक्ष्य पर आधारित मानवीय व्यवहार को समझना, स्पष्ट करना, पूर्वानुमान लगाना तथा नियंत्रित करना है।

(2) यह मानविकी, समाजशास्त्र तथा मनोविज्ञान की प्रकृति पर आधारित है।

(3) यह व्यक्ति एवं संगठन को परस्पर प्रभावपूर्ण तरीके से एकीकृत करता है।

(4) यह स्वप्रत्यक्षीकरण की आवश्यकता की पूर्ति से अभिप्रेरित होने वाले व्यक्तियों की विचारधारा को प्रस्तुत करता है।

क्षेत्र – 'व्यवहारवादी विज्ञान' के अन्तर्गत ज्ञान की निम्नलिखित शाखाओं का समावेश किया जाता है–

(1) मनोविज्ञान–मनोविज्ञान वास्तव में 'मानव के व्यवहार का विज्ञान' है। इसकी अनेक शाखायें हैं जो संगठनों तथा उनमें कार्यरत व्यक्तियों के अध्ययन हेतु उपयोगी विचारधाराएं प्रदान करती हैं। जैसे, 'सामाजिक मनोविज्ञान' मानवीय व्यवहार से सम्बन्ध रखता है तथा समूह एवं व्यक्ति परस्पर किस प्रकार एक–दूसरे को प्रभावित करते हैं और उनके व्यवहार में सुधार लाते हैं, का परीक्षण करता हैं। इसी प्रकार 'संगठनात्मक मनोविज्ञान' वह नवीन शाखा है जो संगठनों के अतिरिक्त मनोविज्ञान कर्मचारियों के चयन, उनके प्रशिक्षण, मनोबल, कार्य संतुष्टि, व्यक्तित्व, अभिप्रेरणा आदि में भी सहायता प्रदान करता है। इन विभिन्न व्यवहारवादी विज्ञानों ने विभिन्न प्रकार से प्रबन्ध को प्रभावित एवं परिमार्जित किया है तथा उसके विकास में महत्वपूर्ण योगदान प्रदान किया है। व्यवहारवादी विज्ञान ने प्रबन्ध को समझने में जो नवीन दृष्टिकोण प्रदान किया है उसके परिणामस्वरूप प्रबन्ध में मानवीय सम्बन्धों की विचारधारा की एक नई संकल्पना ने जन्म लिया है।

(2) मानविकी भास्त्र–ग्रीक भाषा का शब्द Anthropologyदो शब्दों (Anthrop+Logy)से मिलकर बना है जिसमें Anthropका आशय है मानव तथा Logyका आशय है विज्ञान। इस प्रकार मानविकी शास्त्र को मानव विज्ञान भी कहते है। मानव विज्ञान को दो भागों में बांटा जा सकता हैं–

(i) भौतिक मानव विज्ञान, एवं (ii) सांस्कृति मानव विज्ञान। प्रबन्ध का सीधा सम्बन्ध 'सांस्कृतिक मानव विज्ञान' से है क्योंकि संस्कृति मानव व्यवहार को निर्देशित व प्रभावित करती है। सही व गलत, अच्छे व बुरे, सत्य व असत्य, नैतिक व अनैतिक, आदि बातों के निर्गमन में 'संस्कृति' हमारा मार्गदर्शन करती है। 'सांस्कृतिक मानव विज्ञान' के अन्तर्गत हम मानव की संस्कृति, उसकी उत्पत्ति एवं विकास के इतिहास संरचना व अन्य क्रियाकलापों का अध्ययन करते हैं। 'संस्कृति' शब्द को परिभाषित करते हुए स्वर्गीय चक्रवर्ती राजगोपालाचारी ने लिखा है कि, ''संस्कृति, रहन–सहन, व्यवहार एवं जीवनयापन की एक पद्धति है जिसका निर्माण व्यक्तियों के समूह द्वारा किया जाता है एवं जिसका सन्देशवाहन एक संतति से दूसरी संतति को होता रहता है।'' संस्कृति एक व्यक्ति के नैतिक मापदण्ड को निर्धारित करने में सहायक होती है। अतः मानव विज्ञान का अध्ययन मानव व्यवहार को समझने में सहायता प्रदान करता है।

(3) समाजशास्त्र -एक सामाजिक प्रक्रिया होने के कारण प्रबन्ध के समाजशास्त्र से घनिष्ट सम्बन्ध है। समाजशास्त्र के अन्तर्गत मानव के छोटे–बड़े समूहों, उनके व्यवहार, पारस्परिक सम्बन्धों आदि का गहन अध्ययन किया जाता है। इन समूहों में व्यक्ति किस प्रकार से व्यवहार करता

है, वैयक्तिक व्यवहार का समूह पर क्या प्रभाव पड़ता है, एवं समूह पर व्यक्ति का क्या प्रभाव पड़ता है। आदि बातों का अध्ययन समाज–विज्ञान के अन्तर्गत किया जाता है। समाज विज्ञान की एक नवीन शाखा है 'औद्योगिक समाजशास्त्र'। औद्योगिक अशान्ति, श्रमिकों के विभिन्न समूहों की समस्याएं, पद प्रतिष्ठा, संगठन की सोपान श्रृंखला में विभिन्न स्तर के व्यक्तियों के बीच पारस्परिक सम्बन्ध आदि का अध्ययन ज्ञान की इस शाखा के अन्तर्गत किया जाता हैं। मनुष्य समाज में रहकर जो व्यवहार करता है तथा समाज में जो उसकी स्थिति है उसका प्रत्यक्ष प्रभाव उसके कार्य एवं विकास पड़ता है। इसी कारण समाजशास्त्र का प्रत्यक्ष प्रबन्धकीय दृष्टिकोण पर पड़ता है।

मानवीय व्यवहार स्कूल का दृष्टिकोण इस संकल्पना पर आधारित है कि प्रबन्ध लोगों के साथ और उनके द्वारा कार्य कराना है। इसलिए प्रबन्ध में हमेशा वैयक्तिक सम्बन्धों का केन्द्रीय स्थान होना चाहिए। संक्षेप में, इस विचारधारा के अनुसार 'प्रबन्ध मानव व्यवहार का अध्ययन है।' इस सम्प्रदाय का क्षेत्र (अ) मानवीय सम्बन्धों को एक प्रबन्धक कैसे समझ सकता है और प्रयोग कर सकता है, से लगाकर (ब) एक नेता के रूप में प्रबन्धक की क्या भूमिका होती है, तक और फिर (स) समूह व्यवहार तथा परस्पर वैयक्तिक सम्बन्धों के अध्ययन तक विस्तृत है।

विशेषताएं – इस विचारधारा की निम्नलिखित विशेषताएं हैं–

(1) इस विचारधारा के अनुसार समूह में मानव व्यवहार का अध्ययन ही प्रबन्ध है।

(2) यह विचारधारा औपचारिक एवं अनौपचारिक संगठनों में मानव व्यवहार के अध्ययन पर केन्द्रित है।

(3) कुशल नेतृत्व के माध्यम से प्रबन्धक उपयुक्त वातावरण का निर्माण कर सकते है।

(4) प्रबन्धकों को चाहिए कि वे अपने अधीनस्थों को अभिप्रेरित करें।

(5) प्रबन्ध लोगों से कार्य करवाने की कला है।

(6) प्रबन्ध मानव व्यवहार का अध्ययन है।

(7) प्रबन्ध की सफलता कर्मचारियों की सामाजिक तथा मानसिक आवश्यकताओं की संतुष्टि पर निर्भर करती है।

अलोचनात्मक मूल्यांकन – इस विज्ञान से प्रबन्ध के क्षेत्र में एक नयी चेतना का प्रसार हुआ है। यह दृष्टिकोण कर्मचारियों की सामाजिक एवं मानसिक आवश्यकताओं की संतुष्टि मं भी सहायक होता है इससे मानवीय सम्बन्धों को प्रदान करने में भी यह विचारधारा सहायक होती है। फिर भी इस विचारधारा की आलोचना निम्न आधार पर की जाती है :–

आलोचनाएं –

(1) इस विचारधारा के अन्तर्गत प्रबन्ध के महत्वपूर्ण कार्यों जैसे नियोजन, नियंत्रण, स्टाफिंग आदि की ओर ध्यान नहीं दिया गया है।

(2) यह विचारधारा प्रबन्ध एवं संगठन में व्यक्ति को ही सर्वाधिक महत्व देता है जबकि व्यवहार में अन्य साधन भी महत्वपूर्ण होते है।

(3) इसके अन्तर्गत प्रबन्ध के तकनीकों व सिद्धांतों को भी विशेष महत्व नहीं दिया गया है।

(4) यह विचारधारा प्रबन्ध के केवल कला पक्ष की ओर ही विशेष बल देता है।

आलोचकों के अनुसार केवल मानव व्यवहार का ही अध्ययन करने से समस्त प्रबन्धकीय समस्याओं का समाधान नहीं हो सकता है।

निष्कर्ष – यह सर्वविदित है कि मानवीय व्यवहार सफलता की सीढ़ी है, परन्तु यह भी ध्यान में रखना अपरिहार्य है कि लोग अपने कार्य को ठीक ढंग से करें तथा संस्था के लक्ष्य की पूर्ति में समुचित योगदान करें।

3.6 निर्णयन सिद्धांत उपागम

इस सम्प्रदाय के विचारकों के अनुसार निर्णय करना ही प्रबन्ध का मूल कार्य है। दूसरे शब्दों में कह सकते है कि निर्णयन प्रबन्ध की आत्मा है। इसलिये प्रबन्ध का अध्ययन करने के लिए निर्णयन प्रक्रिया को ही प्रबन्ध का केन्द्र बिंदु मानना चाहिए।

विशेषताएं– इस विचारधारा की निम्नलिखित विशेषताएं हैं –

(1) यह विचारधारा परिमाणात्मक विधियों से निर्णय करने पर बल देता है।

(2) इस विचारधारा के समर्थक हमेशा प्रमुख अर्थशास्त्री रहे हैं।

(3) निर्णयन प्रबन्ध का आधारभूत कार्य है जिसकी एक स्पष्ट प्रक्रिया होती है।

(4) सही निर्णयन में ही संगठन की सफलता का रहस्य छिपा होता है।

(5) यह विचारधारा प्रबन्धकों को निर्णयकर्ता तथा समस्या निवारक के रूप में मानती है।

(6) यह विचारधारा आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं व्यावहारिक सभी पहलुओं को निर्णयन प्रक्रिया में महत्वपूर्ण मानती है।

मूल्यांकन – यह विचारधारा निर्णयन पर विशेष बल देता है जोकि प्रबन्ध का केवल एक कार्य मात्र है, अन्य तत्वों पर इसमें ध्यान नहीं दिया जाता है। व्यवहार में अनेक पहलुओं को ध्यान में रखकर काम करना पड़ता है। इसलिए यह विधि अपूर्ण है। निर्णयन प्रक्रिया के समय अनेक मापदण्डों में परिवर्तन होता है जिससे अंतिम निर्णय प्रभावित होता है। व्यवहार में उनका मूल्यांकन करना जटिल

होता है। यह विचारधारा मात्र निर्णयों के विवेकपूर्ण विश्लेषण एवं समन्वय की तकनीकें उपलब्ध कराती है। यह विचारधार किसी समस्या के लिए उपयुक्त निर्णय उपलब्ध करने में समर्थं नहीं हैं।

3.7 संयोगिक या आकस्मिकता उपागम

आकस्मिक दृष्टिकोण का मुख्य आशय है कि कोई भी प्रबन्धकीय सिद्धांत या कार्य ऐसा नहीं हो सकता जो कि सभी परिस्थितियों में उचित या अनुकूल सिद्ध हो। अपितु कार्य की उपयुक्तता इस बात पर निर्भर करती है कि आंतरिक स्थिति क्या है एवं बाह्म वातावरण तथा अन्य परिस्थितियां क्या हैं। यह दृष्टिकोण प्रबन्ध एवं संगठन के क्षेत्र में एक नया दृष्टिकोण है। यह दृष्टिकोण इस बात पर अधिक बल देता कि प्रबन्ध व्यवहार–उन्मुख है। प्रबन्धकीय निर्णय इस बात पर अधिक निर्भर है कि परिस्थितियां क्या हैं न कि सिद्धांतों पर। यह विचारधारा परिस्थितियों के निर्धारकों को प्रोत्साहित करती है एवं किसी सिद्धांत, नीति, प्रणाली या तकनीक, जो पूर्वनिर्धारित है, को छोड़ देती है। वास्तव में, प्रबन्धकों को, विभिन्न समस्याओं केस समाधान के लिए विभिन्न दृष्टिकोणों को लागू करने योग्य होना चाहिए। इस दृष्टि से उन्हें चार पग उठाने पड़ते हैं– (1) परिस्थितियों को समझना एवं उसका विश्लेषण करना, (2) सिद्धांत एवं तकनीक का अध्ययन करना एवं विद्यमान परिस्थितियों में उनकी वैधानिकता व औचित्य की जांच करना, (3) परिस्थिति से सम्बन्धित तकनीक से मिलते हुए उचित विकल्पों पर मनन करना, एवं (4) निर्धारित विकल्पों को क्रियान्वित करना। अतः इस दृष्टिकोण के अनुसार प्रबन्धकीय परिस्थितियों ऐसी होनी चाहिए जो पूर्वाग्रहों से ग्रसित न हो तथा पूर्व–निर्धारित न हों। यह दृष्टिकोण प्रबन्ध सिद्धांत की सार्वभौमिक प्रकृति को अस्वीकार करता है। परिस्थितिगत सम्प्रदाय सामान्य ज्ञान की दृष्टि से अधिक व्यापक है। इसके अनुसार प्रबन्धकों को उन दशाओं का ज्ञान होना चाहिए जिसमें किसी विशिष्ट तकनीक अथवा रणनीति को वांछित परिणामों को प्राप्त करने के लिए लागू किया जा सकता है।

इस विचारधारा के समर्थक इस बात से सहमत है कि प्रबन्धक वहीं व्यवहार करता है जो उस समय की परिस्थिति के अनुरूप होता है। परिस्थिति के अन्तर्गत वातावरण, प्रौद्योगिकी, कर्मचारी, व्यवसाह का आकार आदि का समावेश किया जा सकता है।

विशेषताएं– इस विचारधारा की विशेषताएं निम्न प्रकार से हैं:–

(1) प्रबन्धक को निर्णय लेते समय परिस्थितियों का ध्यान रखना चाहिए क्योंकि प्रबन्ध का कार्य संयोगिक या परिस्थितिजन्य होता है।

(2) प्रबन्धकों को अपने निर्णयों एवं कार्यों को करने से पूर्व उनके प्रभावों से उत्पन्न होने वाली परिस्थितियों पर भी ध्यान देना चाहिए।

(3) प्रबन्धकों को अपने निर्णयों एवं कार्यों को करने से पूर्व उनके प्रभावों से उत्पन्न होने वाली परिस्थितियों पर भी ध्यान देना चाहिए।

(4) प्रबन्धकीय ज्ञान, अनुभव व चातुर्थ से विद्यमान व भावी परिस्थितियों का पूर्वानुमान लगाना

चाहिए।

(5) इस दृष्टिकोण की यह मान्यता है कि प्रबन्धक के निर्णय परिस्थितियों के जितने अधिक अनुरूप होंगे, वहीं प्रबन्धक सर्वाधिक सफल होगा।

आलोचनात्मक मूल्यांकन– इस विचारधारा की प्रमुख आलोचनाएं निम्नवत हैं :–

(1) अनेक अर्थशास्त्री इस दृष्टिकोण को पृथक् विचारधारा के रूप में मान्यता नहीं प्रदान करते है। उनके अनुासर मात्र प्रबन्धक ही नहीं अपितु सामान्य व्यक्ति भी परिस्थितियों को ध्यान में रखकर निर्णय लेता है।

(2) प्रत्येक व्यक्ति का चातुर्य, ज्ञान व अनुभव समान नहीं होता हैं, अतः सभी प्रबन्धक परिस्थितियों के अनुरूप सिद्धांतों का उपयोग सही विधि से नहीं कर पाते हैं। परिणास्वरूप सभी को इससे लाभ होना जरूरी नहीं हैं।

(3) कभी–कभी परिस्थितियों की जटिलता व तीव्रता के कारण उनको समझना कठिन हो जाता है, ऐसी स्थिति में इस विचारधारा का कोई महत्व ही नहीं रहता।

इस दृष्टिकोण को सफलता व असफलता या उपयोगिता व निकृष्टता पूर्णतः व्यक्तियों के प्रबन्धकीय चातुर्य, ज्ञान व अनुभव पर निर्भर करती है। इस विचारधारा को सफलतापूर्वक उपयोग करने हेतु परिस्थितियों का गहन विश्लेषण अपरिहार्य है।

3.8 व्यवहारवादी उपागम

एल्टन मायो तथा उसके सहयोगियों द्वारा किए गए हॉथोर्न परीक्षणों ने उद्योगों में मानवीय सम्बन्धों की नींव डाली और यह सिद्ध कर दिया कि भौतिक तत्वों की तुलना में उत्पादकता में वृद्धि की दृष्टि से मानवीय तथा सामाजिक तत्व अधिक प्रभावपूर्ण होते हैं, परन्तु बाद में किए गए अनेक शोध अध्ययनों ने यह इंगित किया है कि हाथोर्न प्रयोगों द्वारा प्रतिपादित मानवीय सम्बन्ध सिद्धान्त यद्यपि उपयोगी हैं, परन्तु वे आज की बदली हुई परिस्थितियों में कर्मचारियों तथा संगठन के विकास सम्बन्धी समस्याओं का पूर्ण निराकरण करने में असमर्थ हैं। सन् 1940 के बाद मानवीय सम्बन्ध की विचारधारा और अधिक विकसित हुई। व्यवहारवादी प्रबन्धशास्त्रियों के अनुसार एक प्रसन्नचित एवं सुखी व्यक्ति दूसरों की अपेक्षा अधिक अच्छा कार्य करता है। लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए मानवीय व्यवहार को समझना अत्यन्त आवश्यक है। प्रमुख व्यवहारवादी प्रबन्धशास्त्रियों द्वारा दिये गये योगदान की संक्षिप्त सूची निम्न प्रकार है–

(i) डगलस मेकग्रेगर –एक्स एवं वाई सिद्धान्त

(ii) मैस्लो –आवश्यकता स्तर

(iii) हर्जबर्ग –प्रेरणा का स्वास्थ्य सिद्धान्त एवं कार्य सम्पन्नता

(iv) ब्लैक एवं मोटन– प्रबन्धकीय ग्रिड

(v) सेयल्स– अवैयक्तिक व्यवहार

(vi) बेनिस – संगठनात्मक विकास

व्यवहारवादी दृष्टिकोण के क्षेत्र में योगदान करने वाले उपर्युक्त विद्वानों के सिद्धान्तों ने निम्न तीन बातों पर मुख्य रूप से जोर दिया है–

1. **व्यक्तिगत भिन्नताएँ-** ये सिद्धान्त यह मानते है कि एक संगठन में कार्यरत प्रत्येक कर्मचारी में भावनाओं, आकांक्षाओं तथा दृष्टिकोणों के आधार पर भिन्नता पाई जाती है तथा उन्हें सही प्रकार से अभिप्रेरित करने के लिए इन भिन्नताओं की जानकारी होना आवश्यक हैं।

2. **अनौपचारिक कार्य–समूह–**कर्मचारियों के अनौपचारिक कार्य समूह होते है जिनमें कार्य करने से उन्हें सन्तुष्टि मिलती है, अतः प्रबन्ध को चाहिए कि वह औपचारिक संगठन संरचना करते समय अनौपचारिक कार्यसमूहों को ध्यान में रखें।

3. **प्रबन्ध में भागीदारी–**व्यवहारवादी दृष्टिकोण वाले लगभग सभी विद्वान यह मानते थे कि प्रबन्ध में श्रमिकों तथा अन्य कर्मचारियों की भागीदारी उनके अन्दर उत्तरदायित्व की भावना उत्पन्न करती है और इससे उनकी उत्पादकता में वृद्धि होती है। स्वयं कार्य तथा कार्य की दशाएँ भी अच्छे अभिप्रेरक माने जाते हैं।

3.9 सारांश

प्रबन्ध की कहानी कहाँ से और कब से आरम्भ हुई यह निश्चित रूप से तो कहना कठिन है, परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि प्रबन्ध का सम्बन्ध मानव सभ्यता आदि काल से ही है। इसमें समयानुसार विभिन्न प्रबन्धकीय विचारों व सिद्धान्तों को जन्म हुआ।

एफ0 डब्ल्यू0 टेलर को वैज्ञानिक प्रबन्ध के जन्मदाता माना जाता है। वैज्ञानिक प्रबन्ध का आशय है – प्रबन्ध कार्य में रूठिवादी पद्धति और भूल सुधार प्रणाली के स्थान पर तर्कसंगत एवं वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग करना। टेलर ने इन सिद्धान्तों को संक्षेप में निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया है – (1) विज्ञान, न कि अनुमान, (2) संगति, न कि असंगति, (3) सहयोग, न कि व्यक्तिवाद, (4) सीमित उत्पादन के स्थान पर अधिकतम उत्पादन, (5) प्रत्येक व्यक्ति का अधिकतम कुशलता एवं सम्पन्नता तक विकास। इसके अलावा टेलर ने मानसिक क्रान्ति तथा वैज्ञानिक नियमों पर बल दिया। प्रबन्ध को कुशल बनाने के लिए उन्होंने अनेक तरीके भी दिये, जैसे – क्रियात्मक, विभेदात्मक मजदूरी प्रणाली, समय अध्ययन, गति अध्ययन, प्रमापीकरण आदि।

प्रशासनिक सिद्धान्त अथवा प्रबन्ध प्रक्रिया पद्धति का विकास मुख्यतया फ्रांस के विद्वान हेनरी फेयोल ने किया है। फेयोल ने अपनी पुस्तक 'सामान्य और औद्योगिक प्रबन्ध' में प्रशासनिक सिद्धान्त

का वर्णन किया है। जिसमें उन्होंने प्रबन्ध के 14 सिद्धान्तों के साथ–साथ प्रबन्धकों के लिए औपचारिक शिक्षा एवं प्रशिक्षण, प्रबंधकीय गुण, प्रबन्ध के तत्व एवं व्यावसायिक क्रियाओं का विभाजन का वर्णन किया है।

प्रबन्ध के आधुनिक सिद्धान्तों के अन्तर्गत प्रबन्ध प्रणाली की विचारधारा एक नयी विचारधारा है जिसके जन्मदाता थे प्रो0 लुडविग वॉन बटालांकी। प्रणाली का आशय अन्तर सम्बन्धित विभिन्न इकाइयों के एक समूह से है जिसकी प्रत्येक कड़ी परस्पर एक–दूसरी कड़ी को प्रभावित करती है। यह कड़ी से तात्पर्य इकाई से है।

मानवीय व्यवहार उपागम जिसका प्रारम्भ सन् 1950 के आस–पास हुआ। यह विचारधारा वह अन्तरदृष्टि प्रदान करती है, जो कि मनुष्य के व्यक्तिगत व सामूहिक व्यवहार के सम्बन्ध के लिए अपरिहार्य है। इसके अन्तर्गत मानवीय व्यवहार का वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन किया जाता है। इस विचारधारा के अनुसार प्रबन्ध मानव व्यवहार का अध्ययन है।

एल्टन मायो तथा उसके सहयोगियों द्वारा किए गए हॉथोर्न परिक्षणों ने उद्योगों में मानवीय सम्बन्धों की नींव डाली और यह सिद्ध कर दिया कि भौतिक तत्वों की तुलना में उत्पादकता में वृद्धि की दृष्टि से मानवीय तथा सामाजिक तत्व अधिक प्रभावपूर्ण होते है। व्यवहारवादी दृष्टिकोण के क्षेत्र में योगदान करने वाले विद्वानों के सिद्धान्तों ने निम्न तीन बातों पर मुख्य रूप से जोर दिया है –(1) व्यक्तिगत भिन्नताएँ, (2) अनौपचारिक कार्य–समूह, और (3) प्रबन्ध में भागीदारी।

इस सम्प्रदाय के विचारकों के अनुसार निर्णय करना ही प्रबन्ध का मूल कार्य है। दूसरे शब्दों में कह सकते है कि निर्णयन प्रबन्ध की आत्मा है। इसलिए प्रबन्ध का अध्ययन करने के लिए निर्णयन प्रक्रिया को ही प्रबन्ध का केन्द्र बिन्दु मानना चाहिए। आकस्मिक दृष्टिकोण का मुख्य आशय है कि कोई भी प्रबन्धकीय सिद्धान्त या कार्य ऐसा नहीं हो सकता है जो कि सभी परिस्थितियों में उचित या अनुकूल सिद्ध है। यह दृष्टिकोण प्रबन्ध एवं संगठन क्षेत्र में एक नया दृष्टिकोण है। यह दृष्टिकोण इस बात पर अधिक बल देता है कि प्रबन्ध व्यवहार उन्मुख है।

3.10 महत्वपूर्ण शब्दावली

- **वैज्ञानिक प्रबन्ध**– वैज्ञानिक प्रबन्ध वह सुव्यवस्थित प्रबन्ध है जिसमें निरीक्षण, विश्लेषण, प्रयोग तथा तर्कों का उपयोग किया जाता है।
- **प्रबन्ध में भागीदारी**– व्यवहारवादी दृष्टिकोण वाले लगभग सभी विद्वान यह मानते थे कि प्रबन्ध में श्रमिकों तथा अन्य कर्मचारियों की भागीदारी उनके अन्दर उत्तरदायित्व की भावना उत्पन्न करती है और इससे उनकी उत्पादकता में वृद्धि होती है। ?
- **आकस्मिकता उपागम**– इसमें प्रबन्धक वही व्यवहार करता है। जो उस समय भी परिस्थिति के अनुरूप होता है। परिस्थिति के अन्तर्गत वातावरण, प्रौद्योगिकी, कर्मचारी, व्यवसाय का आकार

आदि का समावेश किया जा सकता है।

- **मानवीय व्यवहार उपागम**– यह वह दृष्टिकोण है जो व्यक्तियों एवं संगठन को प्रभावी ढंग से एकीकृत करता है। यह अपने में मानवीय सम्बन्ध, समूह गति विज्ञान, मानवीय, इंजीनियरिंग, प्रबन्ध में सहकारिता, औपचारिक व अनौपचारिक संगठन, औद्योगिक प्रजातंत्र आदि विषयों के अध्ययन को समाहित करता है।

3.11 आवश्यक प्रश्न

प्रश्न–01–प्रबन्ध के विविध विचारधाराओं की संक्षिप्त विवेचना कीजिए।

प्रश्न–02–प्रबन्ध के मानवीय व्यवहार विचारधारा की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

प्रश्न–03–'वैज्ञानिक प्रबन्ध' क्या है ? प्रबन्ध के क्षेत्र में एफ0 डब्ल्यू0 टेलर की भूमिका एवं योगदान की विवेचन कीजिये।

प्रश्न–04–प्रबन्ध के क्षेत्र में एल्टन मेयो के योगदान की विस्तृत समीक्षा कीजिये।

प्रश्न–05–प्रबन्ध के मानवीय व्यवहार विचारधारा की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

कुछ उपयोगी पुस्तकें

11. प्रबन्ध के सिद्धान्त एस के सिंह प्रयाग पुस्तक भवन इलाहाबाद 2006
12. व्यावसायिक प्रबन्ध ओ. पी. राय बी. के. सिंह वैभवसम्मी प्रकाशन, वाराणासी, 2012
13. औद्योगिक संगठन एवं प्रबन्धन, आर.सी. गुप्ता, साहित्य भवन पब्लिकेषन आगरा, 2003
14. व्यवसायिक संगठन, जगदीष प्रकाश, प्रयाग पुस्तक भवन, 2014
15. औद्योगिक प्रबन्ध, जे.के. जैन, प्रतीक प्रकाशन आगरा, 2001

इकाई– 04 प्रबन्ध के सिद्धान्त और प्रक्रिया

<u>इकाई की रूपरेखा</u>

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 प्रबन्ध प्रक्रिया उपागम

4.3 प्रबन्धकीय कार्य

4.4 प्रबन्ध के सिद्धान्त

4.5 प्रबन्ध के सिद्धान्त की आवश्यकता

4.6 प्रबंधकीय सिद्धान्तों की परिसीमाएं

4.7 प्रबन्ध : एक सार्वभौमिक प्रक्रिया के रूप में

4.8 सारांश

4.9 महत्वपूर्ण शब्दावली

4.10 आवश्यक प्रश्न

4.1 उद्देश्य

इस अध्याय के अध्ययन से आप निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर दे पायेंगे।

- ❖ प्रबन्ध –प्रकिया के अर्थ को स्पष्ट कर सकेगें।
- ❖ प्रबंधकीय सिद्धान्तों की परिसीमाएं को समझ सकेगें,
- ❖ प्रबन्ध प्रक्रिया उपागम की विशेषताएं कीव्याख्या कर सकेगे
- ❖ फेयोल द्वारा प्रतिपादित 14 सिद्धान्तों की व्याख्या कर सकेगें।

4.0 प्रस्तावना

प्रबन्ध –प्रकिया, कार्यों को करने का एक व्यवस्थित ढंग है। प्रबन्ध कुछ निश्चित कार्यों के द्वारा लक्ष्यों को प्राप्त करने की प्रकिया है। **फेयोल** के अनुसार **''प्रबन्ध कार्यों की प्रकिया है।''** स्पष्अवधारणा है कि प्रबन्ध कुछ कार्यों की एक श्रृंखला है तथा इन कार्यों को करने से ही प्रबन्ध प्रक्रिया का जन्म होता है। अनेक विद्वानों के अनुसार प्रबन्ध एक प्रक्रिया है जिनमें नियोजन, संगठन, निर्देशन एवं नियंत्रण के कार्य सम्मिलित हैं। दूसरे शब्दो में, संस्था के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए प्रबन्धक को जो कार्य

करने पड़ते है, उन्हें प्रबन्ध–प्रक्रिया में शामिल किया जाता है। जिस प्रकार हाकी, क्रिकेट, फुटबाल के खेल में टीम के सदस्य चाहे कितने ही अनुभवी, प्रशिक्षित व कुशल खिलाड़ी क्यों न हो, वे अपनी प्रतिद्वन्द्वी टीम को तब तक नहीं पराजित कर सकते जब तक कि वे एक श्रेष्ट कप्तान के नेतृत्व में मिलकर नियोजित, संगठित, निर्देशत, नियत्रित व समन्वित प्रयास न करें, ठीक उसी प्रकार किसी भी व्यावसायिक उपक्रम को पूर्ण–निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए प्रबन्ध प्रक्रिया के तत्वो–नियोजन, संगठन, निर्देशन, नियत्रण व समन्वय आवश्यक है।

जी० आर० टेरी के अनुसार, ''प्रबन्ध एक पृथक् प्रक्रिया है जिसमें नियोजन, संगठन, गति देना एवं नियंत्रण को सम्मिलत किया जाता है तथा इसका निष्पादन कर्मियों एवं साधनों के उपयोग द्वारा उद्देश्यों को निर्धारित करने एवं प्राप्ति करने के लिए किया जाता है।''

डी० एस० ब्रीच के अनुसार,''प्रबन्ध निर्धारित उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए सामग्री एवं मानवीय साधनों के उपयोग की प्रक्रिया है। इनमें संगठन, निर्देशन, समन्वय तथा कर्मचारियों के मूल्यांकन को सम्मिलत किया जाता है जिससे लक्ष्यों को प्राप्त किया जाता है।''

स्टेनले वेन्स के अनुसार, ''प्रबन्ध मात्र निर्णयन एवं मानवीय कियाओं पर नियंत्रण रखने की प्रक्रिया है जिससे पूर्व–निर्धारित लक्ष्यों को प्राप्त किया जा सके।''

निष्कर्ष : उपरोक्त परिभाषाओं का अध्ययन करने से स्पष्ट अवधारणा है कि प्रबन्ध प्रक्रिया के द्वारा संस्था के भौतिक एवं मानवीय संसाधनों का न्यूनतम लागत पर अधिकतम कुशलता के साथ प्रयोग किया जाता है, ताकि संस्था के लक्ष्यो की पूर्ति की जा सके। अनेक विद्वानों ने अपनी परिभाषाओं में प्रबन्ध को नियोजन, संगठन, निर्देशन एवं नियंत्रण आदि मूलभूत तत्तवों से मिलकर बनी एक प्रक्रिया बताया है।

व्यवहार में, प्रबन्ध प्रक्रिया पृथक् क्रियाओं से मिलकर नहीं बनती है। वास्तव में यह **''अन्तर्सम्बन्धित कार्यों का एक समूह''** है जिसे एक विशिष्अवधारणा क्रम में तथा अनेक कार्यों के साथ–साथ निष्पादित किया जाता है।

4.2 प्रबन्ध प्रक्रिया उपागम

इस विचारधारा के समर्थकों के अनुसार प्रबन्ध एक प्रक्रिया है जो प्रबन्ध के मूल कार्यों से जन्म लेती है एवं निरंतर गतिशील रहती है। इस विचारधारा के प्रतिपादक हेनरी फेयोल थे परन्तु इसके विकास एवं संशोधनों का श्रेय अन्य विचारकों को दिया जाता है जिनमें लूथर गुलिक, कुण्ट्ज, जार्ज टेरी आदि के नाम उल्लेखनीय है। प्रबन्ध के मूल कार्यों से जन्म लेने के कारण कुछ लोग इसे 'क्रियात्मक विचारधारा' भी कहते हैं। इस विचार को कुछ अन्य नामों जैसे **'परम्परावादी स्कूल'**,**'सार्वभौमिक प्रक्रिया स्कूल'** तथा **'गौरवान्वित स्कूल'** से भी जाना जाता है।

विशेषताएं – इस विचारधारा की अग्रलिखित विशेषताएं हैं–

(1) इसके अन्तर्गत प्रबन्ध कार्य को एक प्रक्रिया के रूप में मान्यता दी जाती हैं।

(2) प्रबन्ध के सभी कार्यों के मध्य अर्न्तसम्बन्ध होते है।

(3) प्रबन्ध के सिद्धांतों की स्थापना अनुभव द्वारा की जाती है।

(5) यह विचारधारा प्रबन्ध को एक कला मानती है तथा यह विश्वास करती है कि सिद्धांतों के आधार पर इसमें निखार लाया जा सकता है।

(6) प्रबन्ध प्रक्रिया सार्वभौमिक है, अतः इसके सिद्धांत सभी प्रकार के संगठनों पर लागू किये जा सकते है।

(7) यह सिद्धांत इस विश्वास पर आधारित होता है कि प्रबन्ध का एक वातावरण होता है जो सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक पर्यावरण से प्रभावित होता है।

(8) यह सम्प्रदाय प्रबन्ध कार्यों में शोध पर जोर देती है क्योंकि इसका मानना है कि परम्पराओं में परिवर्तन होना चाहिए।

गुण –निम्न तर्क प्रायः इस विचारधारा के पक्ष में प्रस्तुत किये जाते हैं–

(1) सिद्धांतों के निरंतर जांच करते रहने की भी सीख मिलती है।

(2) एक निश्चित प्रक्रिया के फलस्वरूप कार्य का निष्पादन सरल हो जाता है।

(3) नियत सिद्धांतों के परिणामस्वरूप प्रबन्धकीय शिक्षण–प्रशिक्षण सरल हो जाता है।

(4) प्रबन्धकीय कार्यों में एकरूपता लायी जा सकती है।

आलोचना–इस विचारधारा की आलोचना भी निम्नांकित आधारों पर की जाती हैं–

(1) कुछ विद्वानों ने इसे स्थैतिक विचारधारा कहा है, जबकि उनके मतानुसार आज संगठन को अधिक गतिशील होना चाहिए।

(2) यह विवेकशील मानव की कल्पना पर निर्भर करती है जबकि मानव हमेशा विवेकशील व्यवहार नहीं करता।

(3) कुछ विद्वानों के मतानुसार प्रबन्ध के सिद्धांत सार्वभौमिक नहीं हैं अपितु परिस्थिति के अनुसार उनमें संशोधन अपरिहार्य है।

निष्कर्ष – उपरोक्त आलोचनाओं के आधार पर इस विचारधारा के महत्व को कम आंकना सर्वथा न्यायोचित नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह एक व्यावहारिक विचारधारा हैं।

4.3 प्रबन्धकीय कार्य

प्रबन्ध विद्वानों के सम्मिलित दृष्टिकोण के आधार पर प्रबन्ध के कार्यों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है–

(अ) प्रमुख कार्य,

(ब) सहायक कार्य।

प्रमुख कार्य

प्रबन्ध के प्रमुख कार्यों में साधारणतया निम्नांकित परम्परागत कार्यों को सम्मिलित किया जाता है–

(1) नियोजन, (2) संगठन, (3) स्टाफिंग, (4) निर्देशन, (5) नियन्त्रण, (6) अभिप्रेरण, एवं (7) समन्वय।

इन सभी कार्यों का सक्षिप्त वर्णन निम्नलिखित है –

1. **नियोजन–**नियोजन एक बौद्धिक क्रिया है जो किसी कार्य को करने से पूर्व उसके बारे में सोचने से सम्बन्ध रखती है, ताकि इच्छित परिणामों को अधिक निश्चितता एवं मितव्ययिता से प्राप्त किया जा सके। **जार्ज आर0 टैरी** के शब्दों में, ''नियोजन भविष्य के गर्भ में झाँकने की एक विधि या तकनीक है।'' दूसरे शब्दों में नियोजन इच्छित परिणामों की प्राप्ति के लिए भावी कार्यक्रम की रूप–रेखा का निर्धारण है। इसलिए नियोजन इच्छित परिणामों की प्राप्ति के लिए भारी कार्यक्रम की रूप–रेखा का निर्धारण है। इसलिए नियोजन को पूर्वानुमान या भविष्यवाणी की संज्ञा दी जाती है। **जेम्स एल0 लुण्डी** के अनुसार, ''इससे आशय यह निर्धारित करना है कि क्या करना है, कैसे एवं कहाँ करना है, इसको कौन करेगा तथा परिणामों का मूल्यांकन कैसे करना है।''

   स्पष्ट है कि नियोजन एक बौद्धिक क्रिया है जिसके लिए सृजनात्मक चिन्तन एवं कल्पना की आवश्यकता होती है। वस्तुतः नियोजन निर्णय लेने की विधि है जिसके लिए सृजनात्मक चिन्तन एवं कल्पना की आवश्यकता होती है। वस्तुतः नियोजन निर्णय लेने की विधि है। जिसके द्वारा किसी समस्या के समाधान का चयन किया जाता है, ताकि अनिश्चित भविष्य को निश्चित किया जा सके।

   आवश्यकता – नियोजन प्रबन्ध का अनिवार्य अंग है। प्रत्येक उपक्रम के लिए चाहे वह छोटा हो या बड़ा नियोजन को आवश्यकता होती है। जब तक नियोजन के द्वारा लक्ष्यों, उद्देश्यों/आधारभूत नीतियों का निर्धारण नहीं होता, तक तक कार्यक्रम एवं कार्यविधि का निर्धारण नहीं किया जा सकता और न किसी अन्य कार्य को ही सम्पन्न किया जा सकता है। प्रबन्ध–प्रक्रिया के क्रम में सर्वप्रथम नियोजन की ही आवश्यकता होती है। इसके अभाव में न तो स्टाफिंग किया जा सकता है और न ही संगठन का निर्माण सम्भव है। नियोजन केवल

उच्चस्तरीय प्रबन्धकों का ही कार्य नहीं है, वरन् यह प्रबन्ध के प्रत्येक स्तर पर किया जाता है। नियोजन की अनिवार्यता को ही ध्यान में रखकर वैज्ञानिक प्रबन्ध के जनक **श्री एफ0 डब्ल्यू0 टेलर** ने प्रत्येक कारखाने में एक पृथक् योजना विभाग की स्थापना पर बल दिया है।

2. **संगठन–** नियोजन जिन उद्‌देश्यों व कार्यक्रमों को निर्धारित करता है, उनके क्रियान्वयन के लिए संगठन एक साधन या उपकरण है। प्रबन्ध के इस कार्य के अन्तर्गत मानव, माल, मशीन एवं अन्य साधनों में परस्पर सम्बन्ध स्थापित करता है। जिससे कि न्यूनतम लागत पर निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति की जा सके।

   उर्विक के अनुसार, ''**किसी** उद्‌देश्य (या योजना) के सन्दर्भ में यह निर्धारित करना कि क्या–क्या क्रियाएँ करना आवश्यक होगा और फिर उन्हें विभिन्न व्यक्तियों को सौंपने की दृष्टि से उचित समूहों में क्रमबद्ध करने को ही संगठन कहा जाता है।''

   संक्षेप में संगठन में निम्नलिखित कार्यों का समावेश किया जाता है–

   (i) संस्था के उद्‌देश्यों के अनुरूप कार्यों का निर्धारण व समूहीकरण,

   (ii) प्रत्येक क्रिया को संस्था में कार्यरत कर्मचारियों की योग्यतानुसार उन्हें आबंटित करना,

   (iii) सभी व्यक्तियों एवं विभागों के दायित्व परिभाषित करना, अधिकारों का भारार्पण करना, और

   (iv) समन्वय की दृष्टि से संगठनात्मक सम्बन्धों की स्थापना करना।

   आवश्यकता – नियोजन की भाँति संगठन भी नितान्त आवश्यक है, क्योंकि यही वह उपकरण है जिसकी सहायता से प्रशासन द्वारा निर्धारित लक्ष्य, प्रबन्ध द्वारा प्राप्त किये जाते है।

3. **नियुक्ति–**प्रत्येक व्यावसायिक संस्था की प्रगति उसमें कार्य करने वाले कर्मचारियों की योग्यता, अनुभव एवं उनके कौशल पर निर्भर करती है। योग्य, कुशल एवं अनुभवी कर्मचारी संस्था के उपलब्ध साधनों का अधिकतम एवं मितव्ययी उपयोग करके संस्था के पूर्व–निर्धारित उद्‌देश्यों की प्राप्ति को सुविधाजनक बनाते हैं। इस दृष्टिकोण से प्रबन्ध द्वारा कर्मचारियों की नियुक्ति करने का कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है। प्रबन्ध इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए सर्वप्रथम संस्था के लिए आवश्यक कर्मचारियों की संख्या का पूर्वानुमान लगाता है, तत्पश्चात् कार्य विश्लेषण के आधार पर कर्मचारियों की आवश्यकता योग्यता को निर्धारित करता है और फिर इसके अनुसार योग्य कुशल एवं अनुभवी कर्मचारियों का चयन करता है। कर्मचारियों की नियुक्ति सद्‌भावना और ईमानदारी से की जानी चाहिए, ताकि सही कार्य के लिए सही व्यक्ति को नियुक्त किया जा सके।

   संक्षेप में, स्टाफिंग मानव शक्ति के नियोजन, उसकी प्राप्ति, प्रशिक्षण एवं विकास से सम्बन्धित

है।

आवश्यकता– प्रत्येक संगठन की उत्पादकता कुशल स्टाफिंग पर ही निर्भर करती है। जिस उपक्रम के कर्मचारी जितने अधिक कार्यक्षम, योग्य, प्रशिक्षित व अनुभवी होंगे, उनका प्रबन्ध उतना ही अधिक प्रभावशाली होगा।

4. **निर्देशन–**निर्देशन का आशय संस्था के कर्मचारियों को यह बताने से है कि उनको क्या, कैसे और कब करना है ? इसके साथ ही साथ यह भी देखना है कि कर्मचारी अपना कार्य ठीक प्रकार से कर रहे हैं या नहीं। वास्तव में निर्देशन, प्रबन्ध का वह कार्य है जो सस्था के संगठित प्रयासों को आरम्भ करता है, प्रबन्धकीय निर्णयों को वास्तविकता प्रदान करता है और संस्था को अपने उद्देश्य प्राप्त करने की दिशा में आगे बढ़ाता है। प्रत्येक प्रबन्ध को अपने अधीनस्थों के कार्यों को सही दिशा प्रदान करने के लिए उनका निर्देशन एवं निरीक्षण करना पड़ता है। संक्षेप में, निर्देशन के अन्तर्गत अधीनस्थों का मार्गदर्शन करना एवं उनका पर्यवेक्षण करना आता है। जार्ज आर0 टैरी ने निर्देशन के स्थान पर गति देनाशब्द का प्रयोग किया है।

आवश्यकता – व्यावसायिक प्रशासन में संचालन व निर्देशन का महत्वपूर्ण स्थान है। बिना उपयुक्त निर्देशन के वांछित परिणामों की प्राप्ति नहीं की जा सकती। जिस प्राकार गार्ड द्वारा झण्डी दिखाये बिना ट्रेन स्टेशन नहीं छोड़ सकती अथवा रेफरी द्वारा सीटी बजाये बिना खेल प्रारम्भ नहीं हो सकता उसी प्रकार प्रबन्धकों द्वारा अपने अधीनस्थों को बिना निर्देश दिये वांछित परिणामों को प्राप्त नहीं किया जा सकता।

5. **नियन्त्रण–**प्रबन्धकीय नियन्त्रण यह देखने की क्रिया है कि संस्था की क्रियाएँ उसी प्रकार हो रही है या नहीं जिस प्रकार से होनी चाहिए थीं और यदि जिस प्रकार क्रियाएँ होनी चाहिए थीं उसी प्रकार नहीं हो रही हैं तो सुधारात्मक कार्यवाही की जाती है।

हेनरी फेयाल के अनूसार, ''नियन्त्रण का अर्थ इसबात को सत्यापित करना है कि प्रत्येक क्रिया निर्धारित योजनाओं, निर्गमित आदेशों को मालूम करना है जिससे उन्हें ठीक किया जा सके एवं उनकी पुरावृत्ति को रोका जा सके।''

स्वस्थ एवं प्रभावी नियन्त्रण के लिए निम्न बातों का होना आवश्यक है– (1) कार्य नियोजन के अनुसार किया जाय, (2) समय–समय पर कार्य की रिपोर्टिंग होनी चाहिए, (3) विचलन की दशा में सुधारात्मक कार्यवाही की जानी चाहिए, और अन्त में कुल निष्पादित कार्य की समीक्षा होनी चाहिए।

आवश्यकता– प्रबन्ध में नियन्त्रण का भी महत्वपूर्ण स्थान है। नियन्त्रण के माध्यम से कार्य की दुर्बलताओं एवं गलतियों का पता चल जाता है और जिसके आधार पर सुधारात्मक कार्यवाही कर त्रुटियों का पुनरावृत्ति को रोका जा सकता है।

6. **अभिप्रेरणा–**अभिप्रेरणा अंग्रेजी के 'Motivation' शब्द का हिन्दी अनुवाद है। 'Motivation'

शब्द की उत्पत्ति Motive शब्द से हुई है जिसका शाब्दिक अर्थ है, व्यक्ति में ऐसी इच्छा जागृत करना जो उसे काम करने के लिए प्रेरित करती हो। संक्षेप में, अभिप्रेरणा से तात्पर्य उस मनोवैज्ञानिक उत्तेजना से है जो व्यक्तियों को काम करने के लिए प्रोत्साहित करती है, उन्हें कार्य पर बनाये रखती है तथा अधिकतम सन्तुष्टि प्रदान करती है। इसी उद्देश्य से प्रबन्ध कर्मचारियों को वित्तरीय व अवित्तीय प्रेरणाएँ प्रदान करते है।

आवश्यकता– 'अभिप्रेरण' प्रबन्ध का हृदय है जिस प्रकार हृदय की गति बन्द हो जाने से 'मानव' शव–तुल्य हो जाता है एवं फिर वह कोई भी काम नहीं कर सकता, उसी प्रकार अभिप्रेरण उत्पादन के विभिन्न साधनों में एक सक्रिय व सजीव साधन है, जो अन्य साधनों को गति प्रदान करता है। मनुष्यों से मशीनों की भाँति स्विच दबाकर कार्य नहीं कराया जा सकता, क्योंकि मनुष्यों में भावनाएँ होती हैं, वह किसी कार्य को करने के लिए अपना सहयोग दे सकता है या सहयोग देने से पीछे भी हट सकता है। अतः कर्मचारियों से अधिक कार्य करने के लिए प्रबन्ध को उन्हें प्रेरणाएँ प्रदान करना चाहिएँ।

7. **समन्वय–**सामूहिक प्रयत्नों की क्रमबद्ध व्यवस्था जिससे सामान्य उद्देश्य पूर्ति हेतु क्रियाओं में एकरूपता लायी जा सके, समन्वय कहलाता है। आधुनिक उद्योगों में कार्यों का विशिष्टीकरण पाया जाजा है। विभिन्न विभागों का कार्य प्रत्येक विभाग के अध्यक्ष की देखरेख में विभिन्न व्यक्तियों द्वारा किया जाता है। सभी विभागों एवं व्यक्तियों का कार्य संस्था के सामान्य उद्देश्यों को प्राप्त करना होता है। अतः सभी विभागों एवं व्यक्तियों के कार्यों में समन्वय आवश्यकता होता है। समन्वय के लिए यह जरूरी होता है कि विभागों के मुख्य कर्मचारी संस्था के प्रमुख उद्देश्य को भली–भाँति समझें तथा उनकी प्राप्ति के लिए आपस में सहयोग से कार्य करें।

ई0 एफ0 एल0 ब्रीच के अनुसार, ''किसी संस्था या समूह के विभिन्न सदस्यों के बीच इस ढंग से कार्य आबंटन करना कि उसमें परस्पर सन्तुलन एवं सहयोग बना रहे तथा यह देखना कि कार्य सद्भावना के साथ सम्पन्न हो जाय, समन्वयन कहलाता है।''

आवश्यकता– जिस प्रकार हॉकी टीम के खिलाड़ी अपनी प्रतिद्वन्दी टीम के खिलाड़ियों की अपेक्षा चाहे कितने कुशल खिलाड़ी क्यों न हों, लेकिन उनको खेल में विजय–श्री तब ही प्राप्त होगी, जबकि वह एक–दूसरे के साथ समन्वय रखते हुए खेलें ठीक उसी प्रकार संस्था के कर्मचारियों को संस्था के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए आपस में एक–दूसरे के साथ समन्वय रखना चाहिए। समन्वय के अभाव में, व्यक्तिगत प्रयत्न चाहे कितने भी श्रेष्ठ हों, संस्था के उद्देश्य खतरे में पड़ सकते हैं।

वास्तव में, समन्वय प्रबन्ध का सार है । प्रबन्ध का प्रमुख कार्य कर्मचारियों के कार्यों में समन्वय स्थापित करते हुए संस्था के उद्देश्यों की पूर्ति करना होता है। प्रभावकारी समन्वय के लिए सहयोग की भावना, अच्छे मानवीय सम्बन्ध, एक–दूसरे को भली प्रकार समझना एवं कुशल सम्प्रेषण व्यवस्था आदि प्रमुख तत्व हैं।

प्रबन्ध के सहायक कार्य

प्रबन्ध के प्रमुख कार्यों के अतिरिक्त कुछ सहायक कार्य भी हैं जिनकी संक्षिप्त विवेचना निम्न प्रकार हैं –

1. **संवहन–**संवहन से आशय एक ऐसी क्रिया से है जिसके द्वारा प्रबन्ध, संस्था से सम्बन्धित सभी महत्वपूर्ण सूचनाएँ अपने अधीनस्थ कर्मचारियों तक पहुँचाता है। इसके अतिरिक्त प्रबन्ध के द्वारा अंशधारियों, ग्राहकों, जनता और सरकार को अनेक महत्वपूर्ण सूचनाएँ प्रेषित की जाती हैं। प्रबन्ध का संवहन कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि प्रभावी संहवन ही संस्था के लक्ष्यों, उद्देश्यों, कार्यक्रमों, नीतियों, आदेशों व उपलब्धियों के विषय में संलग्न व्यक्तियों को पूर्णतः सूचित रखता है। सम्प्रेषण एवं सन्देशवाहन भी संवहन के पर्यायवाची शब्द है। प्रबन्धकीय कार्यों की कुशलता कुशन सन्देशवाहन पर ही निर्भर करती है। अतः सम्प्रेषण सही, पूर्ण, समयानुकूल व प्रभावी होना चाहिए।

2. **निर्णयन–**प्रबन्ध के कार्यों में निर्णयन भी एक महत्वपूर्ण कार्य है। प्रबन्ध व्यवसाय में जो भी कार्य करता है, वह निर्णयन के द्वारा ही सम्पन्न करता है। प्रत्येक उपक्रम, चाहे उसका आकार बड़ा हो या छोटा, प्रवर्तन से समापन तक सभी अवस्थाओं में निर्णय लेने पड़ते है। 'निर्णयन' एक बौद्धिक प्रक्रिया है जो सर्वोत्तम विकल्प के चयन से सम्बन्धित है। अनुभव, विवेक एवं अन्तर्ज्ञान निर्णयन की परम्परागत विधियाँ हैं, जबकि क्रियात्मक अनुसन्धान, सांख्यिकीय विधियाँ एवं मॉडल निर्माण इसकी आधुनिक विधियाँ हैं। उपक्रम की सफलता काफी मात्रा में प्रबन्ध के निर्णयों पर निर्भर करती है। अतः प्रबन्ध को बड़ी सावधानी से सोच–विचार कर ही निर्णय लेने चाहिएँ।

3. **नवाचार या नव–प्रवर्तन–**नवाचार या नव–प्रवर्तन प्रबन्ध का वह महत्वपूर्ण सहायक कार्य है जो केवल नवीन एवं सुधरे हुए उत्पादों या नयी तकनीकी खोज तक ही सीमित नहीं हैं, वरन् इसके अन्तर्गत नवीन कार्यपद्धितियाँ भी सम्मिलित है। बोलचाल के शब्दों में नवाचार का अर्थ उत्पादन के एक नये डिजाईन, एक नयी उत्पादन पद्धति या एक नयी विपणन तकनीक से लिया जा सकता है। व्यवसाय के विकास के लिए यह जरूरी है कि उत्पादन, विपणन, नियन्त्रण, संचालन, अभिप्रेरण एवं मानवीय व्यवहार के अन्य सभी क्षेत्रों में नवीन पद्धतियों का प्रयोग किया जाय। इसी उद्देश्य से बड़े व्यावसायिक–गृह शोध व विकास विभागों की स्थापना करते हैं।

4. **प्रतिनिधित्व –**आजकल प्रबन्धक के इस कार्य को सबसे अधिक महत्व दिया जाता है। इससे हमारा व्यावसायिक संस्था का प्रंतिनिधित्व करने से है। 'प्रबन्ध' उपक्रम का प्रतिनिधि होता है और इस कारण उसका यह सामाजिक दायित्व हो जाता है कि वह हित रखने वाले विभिन्न पक्षकारों (जैसे–कर्मचारी, अंशधारी, ऋणदाता, उपभोक्ता, सरकार आदि) के सम्मुख संगठन का प्रतिनिधित्व करें। प्रतिनिधित्व के इस कार्य से ही 'प्रबन्ध' अपनी तथा संगठन की छवि

को निखारता है।

नोट– प्रबन्ध के कार्यों की उपरोक्त सूची को अन्तिम नहीं कहा जा सकता। प्रबन्धक गतिशील धारणा है, अतः प्रबनध के नित नये कार्यों का उदय होना स्वाभाविक है। दूसरे, उपरोक्त सभी कार्य अन्तर्सम्बन्ध हैं। किसी भी कार्य का निष्पादन अन्य कार्यो को सम्पन्न किये बिना नहीं हो सकता। सच बात तो यह है कि प्रबन्ध एक संयोजन की प्रक्रिया है अन्त में यह लिखना भी अनावश्यक न होगा कि अधिकांश प्रबन्ध चिन्तकों ने प्रबन्ध के पाँच कार्य बतलाये है– नियोजन, संगठन, समन्वय, निर्देशन तथा नियन्त्रण।

4.4 प्रबन्ध के सिद्धान्त

अर्थ औरप्रकृति–प्रबन्ध के सिद्धान्तों की चर्चा करने से पूर्व उपयुक्त होगा कि संक्षेप में सिद्धान्त का अर्थ समझ लिया जाय। सिद्धान्त से तात्पर्य ऐसे आधारभूत सत्य से होता है जो चिन्तन का आधार या मार्गदर्शक बन सकें एवं जिसका सामान्य नियम के रूप में प्रयोग किया जा सकें, सिद्धान्तों का निर्माण या तो शोध के द्वारा हो सकता है और या अभ्यास के व्यवहारात्मक विश्लेषण के आधार पर। प्रबन्धकीय क्रियाओं को सफलतापूर्वक सम्पन्न करने के लिए जिन आधारभूत नियमों का उपयोग किया जाता है, उन्हें 'प्रबन्ध के सिद्धान्त' कहते हैं। दूसरे शब्दों में, प्रबन्धकीय अनुभवों एवं शोध कार्यों के आधार पर प्रबन्ध प्रक्रिया को प्रभावपूर्ण बनाने के लिए जो आधारभूत सर्वमान्य सत्य खोजे गये हैं उन्हें ही 'प्रबन्ध के सिद्धान्त' कहते हैं।

चूँकि प्रबन्ध एक सामाजिक विज्ञान है, अतः उसके सिद्धान्तों अनुभव और अभ्यास पर ही आधारित होते हैं। इसी कारण से वे प्राकृतिक विज्ञान के सिद्धान्तों की भांति पूर्ण और अचूक न होकर सामाजिक विज्ञानों के सिद्धान्तों की भांति सामान्य रूप से ही सत्य होते हैं। संक्षेप में, प्रबन्ध के सिद्धान्त प्रबन्धकीय क्रियाओं के मार्गदर्शन हेतु वे आधारभूत सत्य के विवरण हैं जिनकी सहायता से व्यावसायिक परिस्थितियों व समस्याओं को भली प्रकार समझा जा सकता है, कुशल निर्णय लिए जा सकते हैं एवं संगठनात्मक कार्यकुशलता में सुधार किया जा सकता है।

4.5 प्रबन्ध के सिद्धान्त की आवश्यकता

प्रबन्ध के लिए प्रबन्धकीय सिद्धान्तों का उतना ही महत्व है जितना कि डॉक्टर के लिए चिकित्सा–विज्ञान का अथवा वकील के लिए देश के सन्नियमों का। प्रबन्ध के सिद्धान्तों की आवश्यकता के सम्बन्ध में निम्नलिखित बिन्दु स्मरणीय हैं– (1) इनके प्रतिपादन से निश्चित ही प्रबन्धकीय कार्यकुशलता में सुधार होता है। उर्विक के मतानुसार 'प्रबन्ध के सिद्धान्तों के प्रयोग से प्रबन्धक, समस्याओं के समाधान में मार्गदर्शक रेखाओं का प्रयोग करके सफल हो सकता है तथा उसे जोखिमपूर्ण तीर एवं तुक्के जैसी अवैज्ञानिक तकनीकों का सहारा नहीं लेना पड़ता। (2) प्रबन्ध के सिद्धान्तों के बिना प्रबन्ध विज्ञान की प्रकृति को समझना या प्रबन्धकीय प्रशिक्षण प्राप्त करना ही सम्भव नहीं होता हैं। (3) प्रबन्ध के सिद्धान्त भावी शोध हेतु मार्ग–प्रशस्त करते हैं। (4) प्रबन्ध के सिद्धान्त मानवीय व भौतिक

साधनों का श्रेष्ठतम उपयोग करने में सहायता करते हैं।

विभिन्न विद्वानों के मत—प्रबन्ध के अधिकांश सिद्धान्तों का प्रतिपादन अभ्यासरत प्रबन्धकों द्वारा ही किया गया है और साथ ही कुछ लेखकों ने भी प्रबन्ध विज्ञान के सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं परन्तु प्रबन्ध की परिभाषा एवं कार्यों की भांति प्रबन्ध के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में भी प्रबन्ध के विद्वान एकमत नहीं हैं। भिन्न–भिन्न विद्वानों ने प्रबन्ध के भिन्न–भिन्न सिद्धान्त बताये हैं। सर्वप्रथम हेनरी फेयोल ने सन् 1916 में प्रबन्ध के 14 सिद्धान्त प्रतिपादित किये जो आज भी अपनी विशिष्ट उपयोगिता रखते हैं। उर्विक ने 6, जार्ज आर0 टैरी ने 28, कुण्ट्ज एवं ओ'डोनेल ने 15, कीथ डेविस ने 4 सिद्धान्तों की सूची तैयार की है। वर्तमान समय में प्रबन्ध के सिद्धान्तों की बड़ी व्यापक सूची है। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से हम पहले फेयोल द्वारा प्रतिपादित 14 सिद्धान्तों की व्याख्या करेंगे, क्योंकि इनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त ही अधिक तर्कपूर्ण, व्यावहारिक एवं विस्तृत हैं और इसके बाद अन्य विद्वानों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का सार प्रस्तुत करेंगे।

हेनरी फेयोल द्वारा प्रतिपादित प्रबन्ध के सिद्धान्त

1. **कार्य का विभाजन**—इसे विशिष्टीकरण का सिद्धान्त भी कहते हैं। इस सिद्धान्त की मान्यता यह है कि प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक प्रकार के काम करने के योग्य नहीं हैं; अतः जो व्यक्ति शारीरिक व मानसिक दृष्टि से जिस कार्य के करने के लिए विशेष योग्य हो, उसे वही कार्य सौपा जाना चाहिए। फेयोल के मतानुसार विशिष्टीकरण एवं प्रमापीकरण के लाभों को प्राप्त करने के लिए कार्य का विभाजन अति आवश्यक है। कार्य विभाजन व विशिष्टीकरण का सिद्धान्त सभी कार्यों पर चाहे वे प्रबन्धकीय हों या तकनीकी, समान रूप से लागू किया जाना चाहिए। कार्य के विभाजन के आधार पर उपयुक्त कार्य के लिए उपयुक्त व्यक्ति की नियुक्ति करके श्रेष्ठ किस्म का और अधिक मात्रा में कार्य कराया जा सकता है।

2. **अधिकार एवं उत्तरदायित्व**– **फेयोल** के अनुसार अधिकार और उत्तरदायित्व सहगामी हैं अर्थात ये एक ही सिक्के दो पहलू के समान हैं। यदि किसी व्यक्ति को कोई उत्तरदायित्व सौपा जाता है तो उस दायित्व को पूरा करने के लिए उसे अधिकार भी दिये जाने चाहिए। बिना अधिकार के कोई भी व्यक्ति कुशलतापूर्वक अपने कर्तव्य का निर्वाह नहीं कर सकता, परन्तु इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखें कि उत्तरदायित्वों एवं अधिकारों में समानता होनी चाहिए। यदि उत्तरदायित्व अधिक और अधिकार कम है, तो उत्तरदायित्व को भली प्रकार पूरा नहीं किया जा सकता और इसके विपरित, यदि उत्तरदायित्व कम है और अधिकार अधिक है, तो अधिकारों के दुरूपयोग की सम्भावना बनी रहती है। अतः अधिकार एवं उत्तरदायित्व में एकरूपता रहना आवश्यक है।

3. **अनुशासन**—अनुशासन से आशय अपने से उच्च अधिकारी के आज्ञा का पालन करने, नियमों के प्रति आस्था तथा सम्बन्धित अधिकारियों के प्रति आदर का भाव रखने से है। एक औद्योगिक संस्था में अनुशासन बनाये रखने की बहुत आवश्यकता है तथा एक अच्छा नेता ही अच्छा

अनुशासन कायम कर सकता है। **फेयोल** के शब्दों में, ''बुरा अनुशासन एक बुराई है जो प्रायः बुरे नेतृत्व से आती है।'' किसी भी संस्था में अनुशासन बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि उच्च कोटि के सुयोग्य निरीक्षकों की नियुक्ति की जाय, आदेशों या नियमों का उल्लंघन करने वालों के लिए दण्ड की उचित व्यवस्था हो तथा अपने अधीनस्थ कर्मचारियों के साथ न्यायपूर्ण व्यवहार किया जाय।

4. **आदेश की एकता**—इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक कर्मचारी को उससे एकदम उच्च अधिकारी के द्वारा ही आदेश मिलने चाहिए न कि अन्य उच्च अधिकारियों से। अनेक अधिकारियों से आदेश मिलने पर कर्मचारी न केवल भ्रमित हो सकता है, अपितु वह अपने दायित्व से विमुख भी हो सकता है।

5. **निर्देश की एकता**—कार्य में एकरूपता तथा समन्वय लाने के लिए, यह सिद्धान्त अत्यन्त आवश्यक है। जिस प्रकार एक शरीर के दो सिर होने पर मानव, मानव न होकर दानव हो जाता है, ठीक ऐसी ही स्थिति एक कार्य के लिए दो पर्यवेक्षकों के होने पर हो जाती है। अतः किसी एक उद्देश्य की पूर्ति हेतु क्रियाओं के एक समूह का संचालन केवल एक ही व्यक्ति द्वारा किया जाना चाहिए तथा उसकी एक ही योजना होनी चाहिए।

6. **सामान्य हितों के लिए व्यक्तिगत स्वार्थों का समर्पण**—फेयोल के मतानुसार, एक कुशल प्रशासक को चाहिए कि वह संस्था के हितों एवं व्यक्तिगत स्वार्थ में समन्वय व सामंजस्य बनाये रखे। यदि कभी इन दोनों में संघर्ष उपस्थित हो जाय, तो व्यक्तिगत हितों की अपेक्षा सामान्य हितों को ही प्राथमिकता दी जानी चाहिए। यह उसी दशा में सम्भव हो सकता है, जबकि प्रबन्धकीय व्यवहार में न्याय, दृढ़ता तथा सतर्कता हो। आलस्य, स्वार्थ, कमजोरी, अज्ञानता, कार्य में ढिलाई आदि कुछ ऐसे कारण हैं जो सामूहिक हित के महत्व को कम कर देते हैं।

7. **कर्मचारियों का पारिश्रमिक**—इस सिद्धान्त के अनुसार कर्मचारियों को पारिश्रमिक देने की पद्धति संतोषजनक तथा न्यायोचित होनी चाहिए। इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि पारिश्रमिक नियोक्ता तथा कर्मचारियों दोनों की दृष्टि से उचित होना चाहिए अन्यथा संस्था में तनाव की स्थिति बनी रहेगी। अतः पारिश्रमिक देने की पद्धति ऐसी होनी चाहिए जिसमें कर्मचारी की सुरक्षा हो, अधिक कार्य करने पर अधिक पुरस्कार की व्यवस्था हो और एक निश्चित सीमा से अधिक भुगतान न हो।

8. **केन्द्रीकरण**—केन्द्रीकरण एक ऐसी स्थिति होती है जिसके अन्तर्गत सभी प्रमुख अधिकार किसी एक व्यक्ति या विशिष्ट पद के पास सुरक्षित रहते हैं अर्थात इस व्यवस्था के अन्तर्गत अधिकारों का सहायकों को प्रतिनिधायन नहीं किया जाता है। इसके विपरीत, विकेन्द्रीकरण एक ऐसी व्यवस्था होती है जिसके अन्तर्गत सभी अधिकार किसी विशिष्ट व्यक्ति या पद के पास एकत्रित नहीं होते, अपितु अधिकार उन व्यक्तियों को प्रदान कर दिये जाते हैं जिनसे यह सम्बन्धित होते हैं। फेयोल ने केन्द्रीकरण व विकेन्द्रीकरण को समझाते हुए कहा है कि वे सभी चीजें जो

सहायकों के महत्व को कम करती हैं, केन्द्रीकरण है। अतः दोनों की पूर्णता अवांछनीय है। दोनों के मध्य संस्था की आवश्यकता एवं परिस्थिति के अनुसार किसी ऐसी स्थिति को व्यवहार में लाना चाहिए जिससे संस्था के कर्मचारियों को अपनी योग्यता का प्रदर्शन करने का पूर्ण अवसर मिल सके और संस्था निरन्तर प्रगति कर सके।

9. **क्रम श्रृंखला या पदाधिकारी सम्पर्क श्रृंखला**—इससे आशय उच्चतम पदाधिकारी से लेकर निम्नतम पदाधिकारी तक के बीच सम्पर्क की व्यवस्था के क्रम से है। फेयोल के मतानुसार संस्था के पदाधिकारी ऊपर से नीचे की ओर एक सीधी रेखा के रूप में संगठित होने चाहिए तथा किसी भी अधिकारी को अपनी सत्ता– श्रेणी का उल्लंघन नहीं करना चाहिए।

हाँ, यदि सत्ता रेखा के यन्त्रवत अनुसरण से कुछ देरी या हानि की आशंका हो, तो उसका उल्लंघन अवांछनीय न होगा। दूसरे शब्दों में संचार को तीव्रगामी बनाने के उद्देश्य से इस व्यवस्था में संस्था की आवश्यकता तथा परिस्थिति के अनुसार समायोजन किये जा सकते हैं।

10. **व्यवस्था**—यह सिद्धान्त सामग्री और कर्मचारी दोनों की व्यवस्था से सम्बन्धित है। फेयोल के अनुसार, प्रत्येक वस्तु के लिए एक निश्चित स्थान एवं प्रत्येक वस्तु अपने निश्चित स्थान पर होनी चाहिए और 'प्रत्येक व्यक्ति के लिए एक निश्चित स्थान एवं प्रत्येक व्यक्ति अपने स्थान पर' होना चाहिए। ऐसी व्यवस्था होने से सामग्री की क्षति एवं समय की बरबादी को रोका जा सकता है।

11. **समता या न्याय**—समता का आशय कर्मचारियों के प्रति न्योयोचित तथा उदारता का भाव रखने से है अर्थात समता, न्याय तथा दया का मिश्रण है। कर्मचारियों के साथ व्यवहार करते समय और विशेषकर दण्ड देते समय केवल न्यायिक पक्ष को ही ध्यान में नहीं रखना चाहिए, अपितु दया और मानवता को भी महत्व देना चाहिए। इसके अतिरिक्त सभी कर्मचारियों के साथ व्यवहार की समानता भी आवश्यक है। कर्मचारियों केसाथ समानता का व्यवहार करने से कर्मचारियों में कार्य के प्रति लगन तथा संस्था के प्रति लगाव पैदा होता है।

12. **कर्मचारियों के कार्यकाल में स्थायित्व**—फेयोल के मतानुसार जहाँ तक सम्भव हो सके कर्मचारियों के कार्यकाल में स्थायित्व होना चाहिए जिससे कि वे निश्चित होकर लगन से कार्य कर सकें। किसी नये कर्मचारी द्वारा किसी नवीन काम को सीखने तथा कुशलतापूर्वक उसके निष्पादन में समय लगना स्वाभाविक है। अतः यदि उस अवधि के पूर्व ही उसे निकाल दिया जाय अथवा काम सीखने का समुचित समय न दिया जाय, तो वह न्याय संगत न होगा। कर्मचारियों द्वारा जल्दी–जल्दी संस्था को छोड़कर चले जाना प्रायः कुप्रबन्ध का ही परिणाम होता है। यह न केवल संस्था की दृष्टि से हानिकारक है, बल्कि कर्मचारियों के मनोबल पर भी इसका बुरा प्रभाव पड़ता है।

13. **पहल क्षमता**—पहल क्षमता से अभिप्राय किसी योजना को सोचने, प्रस्तावित करने और उसको

लागू करने की स्वतंत्रता से है। प्रत्येक प्रबन्धक को चाहिए कि वह अपने अधीनस्थ कर्मचारियों को पहल करने का अवसर प्रदान करे। अधीनस्थ कर्मचारियों के अच्छे सुझाव एवं योजनाओं को क्रियान्वित किया जाना चाहिए और उनकी सहायता की जानी चाहिए।

14. **सहयोग की भावना– फेयोल** ने मिलकर कार्य करने की भावना पर अधिक बल दिया है। समस्त संगठन को एक टीम की भांति सहयोगपूर्वक काम करना चाहिए। पारस्परिक सहयोग ही कार्यसिद्धि का मूल मंत्र है। सहयोग भावना को प्रेरित करने के लिए आदेश की एकता के सिद्धान्त का कठोरता से पालन होना चाहिए तथा सन्देशवाहन प्रणाली अत्यनत प्रभावशाली होनी चाहिए और कर्मचारियों के साथ–साथ मिलकर कार्य करने का वातावरण विकसित किया जाना चाहिए।

हेनरी फेयोल का यह दृढ़ विश्वास था कि उपरोक्त सिद्धान्तों का प्रयोग न केवल व्यावसायिक संस्थाओं में वरन् आर्थिक, समाजिक, राजनैतिक, धार्मिक आदि सभी संस्थाओं के समान रूप से किया जा सकता है।

4.6 प्रबंधकीय सिद्धान्तों की परिसीमाएं

प्रबंधकीय सिद्धान्त सामाजिक विज्ञान से संबंधित होते हैं अतः उनमें निम्न दोष पाए जाते हैं:

(1) ये भौतिक शास्त्र और रसायन शास्त्र के भाँति पूर्ण नहीं होते हैं।

(2) प्रबंधक निजी हित को प्राथमिकता देने के लिए सिद्धान्तों का दोषपूर्ण विश्लेषण प्रस्तुत करते है।

(3) लालफीताशाही और नौकाशाही प्रबंधकीय सिद्धान्तों को उचित परिवेश में क्रियान्वित नहीं करते है।

(4) प्रबंधकीय सिद्धान्त परिवर्तनीय होते हैं, स्थायी नहीं।

(5) मानव आचरण में विभिन्नता के कारण प्रबंधकीय सिद्धान्तों का प्रयोग देश, काल और परिस्थिति के अनुसार होना चाहिए।

4.7 प्रबन्ध : एक सार्वभौमिक प्रक्रिया के रूप में

प्रायः यह कहा जाता है कि **कण–कण में ईश्वर विद्यमान हैं, ठीक प्रसी प्रकार हमारे जीवन का कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं है जहाँ पर प्रबन्ध की आवश्यकता न हो अर्थात् जीवन के प्रत्येक क्षे़त्र में प्रबन्ध की आवश्यकता पड़ती है।**

प्रबन्ध की प्रकृति को सार्वभौमिकता के रूप में व्यवस्थिति करने का श्रेय **हेनरी फेयोल** को है। उनके अनुसार प्रबन्ध एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है जो प्रत्येक संगठन में समान रूप से सम्पन्न की जाती है।

सभी प्रकार के संगठनों, जैसे– परिवार, विश्वविद्यालय, कॉलेज, नगर निगम, सरकारी कार्यालय, सेना, क्लब, देश, मन्दिर, मस्जिद, गुरूद्वारा, गिजिजाघर, अस्पताल, होटल, बैंक, बीमा कम्पनी सभी में सीमित साधनों को एकीकृत करके उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु प्रबन्ध की आवश्यकता होती है। **श्री हेनरी फेयोल** ने द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय प्रशासन विमान कांफ्रेस के समक्ष बोलते हुए कहा था, ''प्रशासन (प्रबन्ध) के अन्तर्गत केवल सार्वजनिक सेवा ही नहीं बल्कि प्रत्येक आकार, विवरण प्रारूप तथा उद्देश्यों वाले उपक्रमों को सम्मिलित करते है।'' **लॉरेन्स एप्पले** ने भी ऐसे ही विचार व्यक्त किये है, ''जो प्रबन्ध कर सकता है वह किसी का भी प्रबन्ध कर सकता है।'' **एफ0 डब्ल्यू0 टेलर** की राय में, ''प्रबन्ध के प्राथमिक सिद्धान्त सभी मानवीय क्रियाओं पर लागू होते है।'' **मैगीन्सन तथा मैकनन** के अनुसार, ''प्रबन्ध के सिद्धान्तों की विश्वव्यापकता विश्व के कुछ देशों तथा संस्थाओं तक सीमित नहीं है।'' प्रबन्ध के सामान्य सिद्धान्तों को सभी क्षेत्रों में लागू किया जा सकता है। प्रबन्ध की सार्वभौमिकता का अभिप्राय यह है कि प्रबन्धकीय ज्ञान को एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक, एक ही देश में एक कार्य सें दूसरे कार्य तक और एक देश से दूसरे देश तक हस्तान्तरि किया जा सकता है। प्रबन्ध की सर्वभौमिकता के पक्ष में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये जाते है–

(1) प्रबन्ध की प्रक्रिया, कार्य व व्यवहार सार्वभौमिक है जिसे प्रत्येक स्थान पर लागू किया जा सकता है। प्रत्येक व्यक्ति समूह हेतु नियोजन, संगठन, समन्वय, निर्देशन, नियंत्रण व अभिप्रेरण आवश्यक होते है।

(2) जो प्रबन्ध करना जानते है वह किसी का भी प्रबन्ध कर सकते हैं। इसी तर्क के आधार पर प्रबन्धकों व भारतीय प्रशासनिक सेवा के अधिकारियों का स्थानान्तरण किया जाता है। प्रबन्धकीय कौशल व चातुर्य का हस्तान्तरण करने के उद्देश्य से ही व्यक्तियों का स्थानान्तरण किया जाता है।

(3) प्रबन्धकीय तकनीकें सभी देशों व सभी प्रकार के उपक्रमों में समान रूप से लागू होती हैं। उदाहरण के लिए, अफ्रीका जैसे अविकसित देश, भारत जैसे विकासशील देश और अमेरिका जैसे विकसित देश में प्रबन्धकीय तकनीकें लगभग यथावत् रहती है।

सार्वभौमिकता के विपक्ष में तर्क

कुछ प्रबन्धकीय एवं प्रबन्धक निम्नलिखित तर्कों के आधार पर प्रबन्ध को सार्वभौमिक प्रक्रिया नहीं मानते हैं–

(1) प्रबन्ध पूरी तरह से परिस्थिति सापेक्ष होता है और ऐसा कोई प्रबन्धकीयमार्ग नहीं है जो यथावत् रूप में किसी दूसरी दशा में पूर्णतया प्रयुक्त हो सके।

(2) प्रत्येक संगठन को उद्देश्यों की भिन्नता के अनुसार प्रबन्ध के भिन्न सिद्धान्तों को प्रयोग करना होता है।

(3) प्रबन्ध संस्कृति–बद्ध है अर्थात् प्रबन्ध पर देश की संस्कृति का व्यापक प्रभाव पड़ता है। संस्कृति किसी समाज की मनोवृत्तियाँ, विश्वासों, मूल्यों, रीति–रिवाजों से सम्बन्धित होती है। उदाहरण के लिए, प्रबन्ध की जापानी तकनीक भारत में पूरी तरह से एवं ठीक से लागू नहीं हो सकती है, क्योंकि भारत की संस्कृति भिन्न है।

(4) एक ही उद्योग में कार्यरत दो फर्मों के प्रबन्ध दर्शन भिन्न–भिन्न होते हैं उदाहरण के लिए, एक फर्म का दर्शन शीघ्र लाभ कमाना तो दूसरे का दीर्घकालीन आधार पर लाभ कमाने का हो सकता है। अतः दार्शनिक भिन्नता का प्रभाव वहां के कर्मचारियों के मनोबल, उत्पादकता, संगठन, संरचना, समर्पण, सम्प्रेषण के रचनाओं पर भिन्न–भिन्न होगा।

निष्कर्ष – प्रबन्ध में सार्वभौमिकता का गुण सर्वत्र व्याप्त है, किन्तु फिर भी प्रबंधक को इसे लागू करते समय देश की परिस्थिति एवं संस्कृति की प्रकृति, आकार एवं पृष्ठभूमि के अनुसार थोड़ा समायोजन करना पड़ सकता है अथवा कुछ मोड़ देना पड़ सकता है।

4.8 सारांश

प्रक्रिया कार्यों को करने का एक व्यवस्थित ढंग है। प्रबन्ध कुछ निश्चित कार्यों के द्वारा लक्ष्यों को प्राप्त करने की प्रक्रिया है। अनेक विद्वानों के अनुसार प्रबन्ध एक प्रक्रिया है जिसमें नियोजन, संगठन, निर्देशन एवं नियंत्रण के कार्य सम्मिलित है। डी0 एस0 ब्रीच के अनुसार, ''प्रबन्ध निर्धारित उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए साम्रगी एवं मानवीय साधनों के उपयोग की प्रक्रिया है। इसमें संगठन, निर्देशन, समन्वय तथा कर्मचारियों के मूल्यांकन को सम्मिलित किया जाता है। जिससे लक्ष्यों को प्राप्त किया जाता है।''

प्रबन्ध विद्वानों के सम्मिलित दृष्टिकोण के आधार पर प्रबन्ध के कार्यों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है – (अ) प्रमुख कार्य, एवं (ब) सहायक कार्य। प्रमुख कार्य में नियोजन, संगठन, स्टाफिंग, निर्देशन, नियंत्रण, अभिप्रेरण एवं समन्वय को शामिल किया जाता है। जबकि सहायक कार्य में संवहन, निर्णयन, नवाचार एवं प्रतिनिधित्व को शामिल किया जा सकता है।

प्रबन्धकीय क्रियाओं को सफलतापूर्वक सम्पन्न करने के लिए जिन आधारभूत नियमों का उपयोग किया जाता है। उन्हें 'प्रबन्ध के सिद्धान्त' कहते है। प्रबन्ध के सिद्धान्त प्रबन्धकीय क्रियाओं के मार्गदर्शन हेतु वे आधारभूत सत्य के विवरण है जिनकी सहायता से व्यावसायिक परिस्थितियों व समस्याओं को भली प्रकार समझा जा सकता है, कुशल निर्णय लिए जा सकते है एवं संगठनात्मक कार्यकुशलता में सुधार किया जा सकता है। प्रबन्ध के सिद्धान्तों की आवश्यकता के सम्बन्ध में निम्न बिन्दु स्मरणीय है – (1) इनके प्रतिपादन से निश्चित ही प्रबन्धकीय कार्यकुशलता में सुधार होता है। (2) प्रबन्ध के सिद्धान्तों के बिना प्रबन्ध विज्ञान की प्रकृति को समझना या प्रबन्धकीय प्रशिक्षण प्राप्त करना सम्भव नहीं होता है। (3) प्रबन्ध के सिद्धान्त भावी शोध हेतु मार्ग–प्रशस्त करते है। (4) प्रबन्ध के सिद्धान्त मानवीय व भौतिक साधनों का श्रेष्ठतम उपयोग करने में सहायता करते हैं।

प्रबन्ध के सिद्धान्त – (1) कार्य का विभाजन, (2) अधिकार एवं उत्तरदायित्व, (3) अनुशासन, (4) आदेश की एकता, (5) निर्देश की एकता, (6) सामान्य हितों के लिए व्यक्तित्व स्वार्थों का समर्पण, (7) कर्मचारियों का परिश्रमिक, (8) केन्द्रीकरण, (9) क्रम श्रृंखला या पदाधिकारी सम्पर्क श्रृंखला, (10) व्यवस्था, (11) समता या न्याय, (12) कर्मचारियों के कार्यकाल में स्थायित्व, (13) पहल क्षमता, (14) सहयोग की भावना।

प्रबन्ध के सामान्य सिद्धान्तों को सभी क्षेत्रों में लागू किया जा सकता है। प्रबन्ध की सार्वभौमिकता का अभिप्राय यह है कि प्रबन्धकीय ज्ञान को एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक, एक ही देश में एक कार्य से दूसरे कार्य तक और एक देश से दूसरे देश तक हस्तान्तरित किया जा सकता है।

4.9 महत्वपूर्ण शब्दावली

- **प्रबन्ध – प्रक्रिया** – प्रबन्ध एक पृथक प्रक्रिया है जिसमें नियोजन, संगठन, निर्देशन, नियंत्रण व समन्वय को सम्मिलित किया जाता है तथा इसका निष्पादन कर्मियों एवं साधनों के उपयोग द्वारा उद्देश्यों को निर्धारित करने एवं प्राप्त करने के लिए किया जाता है।
- **प्रबन्ध के सिद्धान्त** – प्रबन्धकीय क्रियाओं को सफलतापूर्वक सम्पन्न करने के लिए जिन आधारभूत नियमों का उपयोग किया जाता है। उन्हें 'प्रबन्ध के सिद्धान्त' कहते है।
- **आदेश की एकता** – इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक कर्मचारी को उससे एकदम उच्च अधिकारी के द्वारा दी आदेश मिलने चाहिए, न कि अन्य उच्च अधिकारियों से।
- **निर्देश की एकता** – कार्य में एक रूपता तथा समन्वय लाने के लिए, यह सिद्धान्त अत्यन्त आवश्यक है। किसी एक उद्देश्य की पूर्ति हेतु क्रियाओं के एक समूह का संचालन केवल एक ही व्यक्ति द्वारा किया जाना चाहिए तथा उसकी एक ही योजना होना चाहिए।
- **व्यवस्था** – यह सिद्धान्त सामग्री और कर्मचारी दोनों की व्यवस्था से सम्बन्धित है। फेयोल के अनुसार, प्रत्येक वस्तु के लिए एक निश्चित स्थान एवं प्रत्येक वस्तु अपने निश्चित स्थान पर होनी चाहिए और प्रत्येक व्यक्ति के लिए एक निश्चित स्थान एवं प्रत्येक व्यक्ति अपने स्थान पर होना चाहिए।

4.10 आवश्यक प्रश्न

1. 'प्रबन्ध' क्या है ? प्रबन्ध के क्षेत्र में फेयोल की भूमिका एवं योगदान की विवेचन कीजिये।
2. प्रबन्ध के सहायक कार्य की विस्तृत समीक्षा कीजिये।
3. प्रबन्ध की सर्वभौमिकता के पक्ष– विपक्ष में तर्क को स्पष्ट कीजिए।

4. प्रबन्ध के प्रमुख कार्यों को संक्षेप में समझाइये।

5. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी कीजियेः–

   (i) केन्द्रीकरण

   (ii) प्रबन्ध प्रक्रिया उपागम के गुण

   (iii) अभिप्रेरण

कुछ उपयोगी पुस्तकें

- प्रबन्ध के सिद्धान्त एस के सिंह प्रयाग पुस्तक भवन इलाहाबाद 2006
- व्यावसायिक प्रबन्ध ओ. पी. राय बी. के. सिंह वैभवसम्मी प्रकाशन, वाराणासी, 2012
- औद्योगिक संगठन एवं प्रबन्धन, आर.सी. गुप्ता, साहित्य भवन पब्लिकेषन आगरा, 2003
- व्यवसायिक संगठन, जगदीष प्रकाश, प्रयाग पुस्तक भवन, 2014
- औद्योगिक प्रबन्ध, जे.के. जैन, प्रतीक प्रकाशन आगरा, 2001

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, प्रयागराज

DCB.Com.-101
प्रबन्ध सिद्धान्त

खण्ड

2

योजना और संगठन

इकाई–5 नियोजन के आधार तत्व	71–87
इकाई–6 योजना, नीतियाँ, अनुसूचियाँ और कार्यविधियाँ	89–108
इकाई–7 संगठन–I	109–120
इकाई–8 संगठन– II	121–136

विशेषज्ञ समिति

डॉ. ओमजी गुप्ता,	निदेशक, प्रबन्धन अध्ययन विद्याशाखा, उ.प्र. राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।
डॉ देवश रंजन त्रिपाठी,	सहायक आचार्य, व्यापार प्रबन्धन, प्रबन्धन अध्ययन विद्याशाखा, उ.प्र. राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।
प्रो. आर.सी. मिश्रा	निदेशक, प्रबन्धन अध्ययन एवं वाणिज्य विद्याशाखा, उत्तराखण्उ मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।
प्रो. लवकुश मिश्रा	निदेशक, इंस्टीट्यूट ऑफ टूरिज्म एण्ड होटल मैनेजमेंट, श्री भीमराव अम्बेडकर विश्वविद्यालय, आगरा।
प्रो. सोमेश शुक्ला,	विभागाध्यक्ष, वाणिज्य विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।
प्रो. राधेश्याम सिंह,	आचार्य, मोनिरबा, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

लेखक

प्रो. एच.के. सिंह	वाणिज्य संकाय, बी.एच.यू. वाराणसी

सम्पादक

प्रो. सुधीर कुमार शुक्ला	वाणिज्य एवं प्रबन्धन संकाय, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणासी उ.प्र.

संयोजकः

डॉ देवेश रंजन त्रिपाठी,	सह.आचार्य, व्यापार प्रबन्धन, प्रबन्धन अध्ययन विद्याशाखा, उ. प्र. राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

Printed year-2021

ISBN:978-93-83328-78-9

(c) उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद सर्वाधिकार सुरक्षित। इस पाठ्यसामग्री का कोई भी अंश उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

नोट—पाठ्य सामग्री में मुद्रित सामग्री के विचारों एवं आकड़ों आदि के प्रति विश्वविद्यालय उत्तरदायी नहीं है।

खण्ड – 2 योजना और संगठना

प्रस्तुत खण्ड प्रबन्ध के सिद्धान्त पाठ्यक्रम का द्वितीय खण्ड है, जिसके अन्तर्गत कुल चार इकाईयों को समाहित किया गया है। यह खण्ड मूल रुप से नियोजन एवं संगठन की अवधारणा या आधारित है। इस खण्ड में नियोजन, द्वारा प्रबन्ध, नीतियाँ, बजट, परियोजनाएँ, रणनीति, संगठन सम्बन्धी विभिन्न अवधारणाएँ, इसका महत्त्व तथा सिद्धान्त, औपचारिक व अनौपचारिक संगठना में अन्तर को विश्लेषित किया गया है। आइये इस खण्ड के अन्तर्गत संरचाबद्ध इकाइयों की विषय वस्तु को क्रमशः समझने का प्रयास करेः–

इकाई 05 में नियोजन का अर्थ एवं अवधारणा, नियोजन का स्वाभाव एवं लक्षण, नियोजन प्रक्रिया को निहित आवश्यक चरण, नियोजन के प्रकार, प्रबन्ध में नियोजन का महत्त्व, नियोजन की परिभाषाएँ, नियोजन और पूर्वानुमान में अन्तर, प्रभावी नियोजन के सिद्धान्त।

इकाई 06 में उद्देश्य, उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध, नीतियाँ, नियम, अनुसूची अथवा कार्यक्रम, बजट, परियोजनाए, रणनीति।

इकाई 07 में संगठन का अर्थ, परिभाषा और स्वभाव, संगठन की प्रकृति और विशेषताएँ, संगठन प्रक्रिया के अर्न्तनिहित आवश्यक कदम, संगठन का महत्त्व, संगठना के सिद्धान्त।

इकाई 08 में संगठन चार्ट, संगठन पुस्तिका, प्रबन्ध का विस्तार अथवा क्षेत्र, प्रबन्ध के विस्तार का ग्रेकुनास का खूब अथवा सिद्धान्त, औपाचारिक तथा अनौपचारिक, औपचारिक संगठन में अन्तर।

इकाई 05–नियोजन के आधार तत्व

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 नियोजन का अर्थ एवं अवधारणा

5.3 नियोजन का स्वभाव एवं लक्षण

5.4 नियोजन प्रक्रिया में निहित आवश्यक चरण

5.5 नियोजन के प्रकार

5.6 प्रबन्ध में नियोजन का महत्व

5.7 नियोजन की परिसीमाएँ

5.8 नियोजन और पूर्वानुमान में अन्तर

5.9 प्रभावी नियोजन के सिद्धान्त

5.10 सारांश

5.11 महत्वपूर्ण शब्दावली

5.12 आवश्यक प्रश्न

5.0 उद्देश्य

इस अध्याय के अध्ययन से आप निम्न प्रश्नों के उत्तर दे पायेंगे –

- ❖ नियोजन से आप क्या समझते हैं?
- ❖ नियोजन की सीमाओं और प्रक्रिया की व्याख्या कीजिए।
- ❖ नियोजन के विभिन्न लक्षणों की विवेचना कीजिए।
- ❖ नियोजन प्रक्रिया में निहित चरणों को इंगित कीजिए।
- ❖ नियोजन के लाभ – दोश बताइयें।
- ❖ प्रभावी नियोजन के आधारभूत सिद्धान्त क्या है ?

5.1 प्रस्तावना

नियोजन प्रबन्ध का प्रथम एवं सर्वाधिक प्रमुख कार्य है, अन्य सभी कार्य इसके बाद ही किये जाते हैं। यह सर्वदा उचित भी है क्योंकि लक्ष्य निर्धारण और इनकी प्राप्ति के मार्ग निर्धारित किये बिना संगठन, निर्देशन, नियंत्रण व समन्वय आदि का कोई तात्पर्य नहीं होता है। नियोजन की प्रक्रिया लक्ष्यों के निश्चयन से प्रारम्भ होती है और उनकी सफलतापूर्वक प्राप्ति होने पर उसका चक्र पूरा होता है। नियोजन के अन्तर्गत उद्देश्यों का निश्चयन किया जाता है तथा उनकी प्राप्ति हेतु नीतियों, कार्यविधियों, पद्धतियों और कार्यक्रमों की रूपरेखा बनायी जाती है। नियोजन में भविष्य के गर्भ में झांककर सर्वोत्तम वैकल्पिक कार्य–पक्ष को ज्ञात किया जाता है और यह अन्य सभी प्रबन्धकीय कार्यों से पहले किया जाता है।

5.2 नियोजन का अर्थ एवं अवधारणा

नियोजन एक मानसिक प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत क्या करना है, कब करना है, कैसे एवं कहाँ करना है, किसे करना है, आदि बातों का पूर्व–निर्धारण किया जाता है। प्रबन्ध व प्रशासन के क्षेत्र में नियोजन से आशय निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए वैकल्पिक उद्देश्यों, नीतियों, कार्यविधियों एवं कार्यक्रमों में से सर्वोत्तम का चुनाव करने से लगाया जाता है। यह कार्य को करने से पहले उस पर सोच–विचार करने के बौद्धिक कसरत होती है। नियोजन में भविष्य के बारे में निर्णय लेने का भाव छिपा हुआ होता है जिससे कि भविष्य को अधिक निश्चित तौर पर निर्धारित किया जा सके। नियोजन की प्रमुख परिभाषाएं निम्नलिखित हैं–

1. **कुण्ट्ज एवं ओ'डोनेल** के अनुसार ''नियोजन एक बौद्धिक प्रक्रिया है जो उद्देश्यों, तथ्यों एवं सुविचारित अनुमानों पर आधारित भावी कार्य–पथ का निर्धारण है।''

   व्याख्या–इनके मतानुसार नियोजन एक मानसिक व्यायाम है। यह गहन चिन्तन, भूतकालीन तथ्यों के विश्लेषण और भावी प्रवृत्तियों के सुविचारित अनुमान से पूरित होती है। नियोजनकर्ता में कठिन मानसिक श्रम, प्रचंड दूरदृष्टि और तथ्यों का विश्लेषणात्मक अध्ययन करने की क्षमता आवश्यक होती है।

2. **बिली ई0 गोइट्ज** के अनुसार ''नियोजन मूलतः चयन करना है और नियोजन की समस्या तब पैदा होती है, जबकि वैकल्पिक कार्यपथ की खोज होती है।''

   व्याख्या–श्री गोइट्ज के अनुसार नियोजन मौलिक रूप में विभिन्न विकल्पों में से सर्वोत्तम का चुनाव करना है और किसी समस्या का इकलौता हल हो, तो नियोजन की आवश्यकता नहीं पड़ती है, परन्तु कुशल प्रबन्धक को चाहिए कि वह किसी भी समस्या को हल करने के लिये अन्य सम्भावित विकल्पों की खोज करके उनका तुलनात्मक अध्ययन करके सर्वोत्तम को चुने।

3. **मेरी कुशिंग नाइल्स**–''नियोजन किसी उद्देश्य को पूरा करने के लिए सर्वोत्तम कार्यपथ का चुनाव करने एवं विकास करने की जागरूक प्रक्रिया है। यह वह प्रक्रिया है जिस पर भावी प्रबन्ध–प्रकार्य निर्भर करते हैं।''

अतः स्पष्ट है कि नियोजन अग्रावलोकी होता है जिसमें उद्देश्यों, नीतियों, कार्यक्रमों, कार्यविधियों और साधनों का चुनाव पर्याप्त विचार विमर्श करके किया जाता है। इसमें भावी कार्यकलापों का सर्वोत्तम चयन किया जाता है।

5.3 नियोजन का स्वभाव एवं लक्षण

नियोजन की प्रकृति अथवा स्वभाव के सम्बन्ध में निम्नलिखित विशेषताओं को ध्यान में रखना आवश्यक है–

1. **बौद्धिक प्रक्रिया**–नियोजन एक बौद्धिक एवं मानसिक प्रक्रिया है जो भविष्य के विषय में निर्णय लेने से सम्बन्धित होती है। यह गहन चिन्तन, तथ्यों के सारगर्भित विश्लेषण और भावी प्रवृत्तियों के सुविचारित अनुमान से पूरित होती है। नियोजनकर्ता में दूरदृष्टि, तीव्र मानसिक क्षमता, विवेक व चिन्तन का होना जरूरी है। हर कोई व्यक्ति कुशल नियोजक नहीं हो सकता है। **हेयन्स एवं मेसी** ने इस सन्दर्भ में उचित ही कहा है, ''नियोजन एक बौद्धिक प्रक्रिया है जिसके लिए सृजनात्मक चिन्तन एवं कल्पना की आवश्यकता होती है।'' इसी तथ्य को **एम.ई. डिमक** ने इन शब्दों में स्वीकारा है कि ''नियोजन किसी ऐसे कमरे में बन्द सिद्धान्ताचार्य का कार्य नहीं है जो दरवाजे की दरार में झांककर रूपरेखाओं का प्रतिपादन कर रहा है। यह नियोजन ही है जो कि इस बात को सम्भव बनाता है कि वह अपने उद्देश्यों को पाने के लिए ज्ञान एवं शक्ति का प्रभावकारी ढंग से संयोजन कर सके।''

2. **चयनात्मक प्रक्रिया**–विविध प्रबन्धविद् जैसे कुण्ट्ज एवं ओ'डोनेल, बिली ई0 गोइट्ज मेरी कुशिंग नाइल्स, एम0 ई0 हर्ले आदि नियोजन को मूलतः चयन प्रक्रिया के रूप में व्याख्यायित करते हैं। नियोजन के अन्तर्गत उद्देश्यों, नीतियों, कार्यविधियों, नियमों, कार्यक्रमों, रणनीतियों एवं विधियों के विविध विकल्पों में सर्वोत्तम का चुनाव किया जाता है। व्यवसाय की स्थापना के उपरान्त व विपणन के सम्बन्ध में विविध किस्म के निर्णय करने पड़ते है। इसके अतिरिक्त, व्यवसाय के विकास व विस्तार हेतु नवउत्पादन, विवेकीकरण, वैज्ञानिक प्रबन्ध, सरलीकरण, संविलयन, पुनर्गठन आदि के चयनात्मक निर्णय लेने होते हैं। यदि विविध विकल्प न होकर इकलौता विकल्प हो तो सर्वोत्तम चुनाव अर्थात नियोजन की जरूरत ही न रहे। साथ ही, प्रबन्धक की सफलता तो इस सर्वोत्तम के चुनाव पर ही अवलम्बित होती है। नियोजन वैकल्पिक कार्य–पक्षों की जानकारी के साथ ही प्रारम्भ होता है और सर्वोत्तम विकल्प के चयन और अनुगमन के साथ समाप्त हो जाता है।

3. **सर्वोपरिता एवं निरन्तरता**–नियोजन प्रबन्ध का प्राथमिक कार्य है और निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है। नियोजन प्रबन्ध के सभी कार्यों में पहला स्थान रखता है। प्रबन्ध के अन्य कार्य; जैसे– संगठन, निर्देशन, समन्वय, नियंत्रण, स्टाफिंग, अभिप्रेरण आदि सभी नियोजन के बाद ही किये जाते हैं।

बिना पूर्व नियोजन के तो प्रबन्धकीय कार्यों का प्रभावी निष्पादन सम्भव हीं नहीं हो सकता है। दूसरी बात यह है कि योजना निर्माण एक निरन्तर जारी रहने वाली गतिशील प्रक्रिया है। नियोजन की आवश्यकता तो व्यावसायिक जीवन में प्रतिक्षण रहती है। नियोजन का सम्बन्ध भविष्य से होता है जो पूर्णतया अनिश्चित होता है। नियोजन के द्वारा सोच–समझकर विवेकपूर्ण ढंग से भविष्य का पूर्वानुमान लगाकर योजनाएं बनायी जाती हैं किन्तु भावी घटनाएं पूर्णतया पूर्वानुमानों के अनुरूप तो घटित नहीं होती है अतः कोई भी योजना अन्तिम नहीं होती है और उसमें निरन्तर समायोजन, प्रतिस्थापन एवं संशोधन करने की गुंजाइश रहती है। अतः नियोजन एक बार में सम्पन्न होने वाली क्रिया न होकर निरन्तर व कभी समाप्त न होने वाली प्रक्रिया है।

4. **सर्वव्यापकता**–नियोजन का चौथा लक्षण इसकी सर्वव्यापकता और साथ ही सार्वभौमिकता का होना है। यह समस्त प्रबन्धकों, समस्त प्रकार और संगठनों के प्रबन्ध के सभी स्तरों का आवश्यक कर्तव्य है। कम्पनी के संचालक मण्डल से लेकर फोरमैन तक सभी स्तरों पर नियोजन की आवश्यकता पड़ती है। सत्य तो यह है कि जब तक प्रबन्धक के पास नियोजन का कुछ कार्य, भले ही सीमित क्यों न हो, उसे प्रबन्धक की संज्ञा देना ही हास्यास्पद लगता है। नियोजन का स्वभाव और क्षेत्र प्रबन्धक के अधिकार और स्तर के अनुरूप परिवर्तित हो जाता है। शीर्ष प्रबन्ध के लिए नियोजन प्रमुख प्रकार्य होता है परन्तु मध्य व निम्नवर्गीय प्रबन्धक तो कम नियोजन से भी काम चला सकते हैं। फिर भी यह सच्चाई है कि प्रबन्ध के सभी स्तरों, समस्त संगठनों (व्यावसायिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक आदि) चाहे छोटे हो या बड़े, सभी में उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए नियोजन अपरिहार्य होता है।

5. **भविष्य के प्रति प्रतिबद्धता**–नियोजन उपक्रम को भूत, वर्तमान और भविष्य से जोड़ते हुए उसे भविष्य के लिए प्रतिबद्ध बनाता है। भावी लक्ष्य ही तो उपक्रम के साध्य होते हैं, जबकि नियोजन साधन होते हैं। नियोजन कार्य–सम्पन्नता के पूर्व की क्रिया है जिससे कि भविष्य के लक्ष्य पूर्ति में योगदान हो सके। नियोजन का उद्देश्य उपक्रम में उपलब्ध सामग्री, श्रम, प्लान्ट एवं मशीनरी के कुशल एवं मितव्ययी उपयोग द्वारा उत्पादन लागत में कमी करना और और उत्पादन की किस्म में सुधार करना है। इस प्रकार नियोजन तो उपक्रम की भावी कुशलता एवं लाभदायकता को सुधारता है। यह भविष्य के बारे में निरन्तर जाँच–पड़ताल करता रहता है और आम तौर पर यथास्थिति का विलोम होता है। वैसे तो यथास्थिति बनाये रखने के लिए भी नियोजन करना पड़ सकता है।

6. **अन्य लक्षण**–1. निर्णयन भी नियोजन का ही एक अंग है अतः नियोजन का क्षेत्र निर्णयन की तुलना में व्यापक है। 2. नियोजन का व्यावहारिक होना परम् आवश्यक है। 3. नियोजन में समय तत्व बहुत अधिक महत्व रखता है। 4. नियोजन कार्य–सम्पन्नता के पूर्व की मानसिक क्रिया है। 5. नियोजन का उद्देश्य उपक्रम की कुशलता में वृद्धि करना होता है।

5.4 नियोजन प्रक्रिया में निहित आवश्यक चरण

नियोजन प्रक्रिया में अधोलिखित कदमों का अनुसरण करना उचित रहता है–

1. उद्देश्य निर्धारण,
2. पूर्वानुमान लगाना,
3. विकल्पों का निर्धारण,
4. विकल्पों का तुलनात्मक मूल्यांकन,
5. श्रेष्ठतम विकल्प का चयन,
6. आवश्यक योजना एवं उपयोजना का निर्माण,
7. कर्मचारियों के सहयोग की प्राप्ति, एवं
8. अनुगमन।

1. **उद्देश्य निर्धारण**—नियोजन प्रक्रिया का पहला चरण उद्देश्य निर्धारित करना होता है। उद्देश्य सम्पूर्ण उपक्रम के लिए तथा उसके पश्चात् प्रत्येक विभाग के लिए पृथक—पृथक निर्धारित किये जाने चाहिए। उद्देश्यों से यह स्पष्ट होता है कि क्या किया जाना है, कैसे किया जाना है, कहाँ और किसके द्वारा किया जाना है। ये उद्देश्य और लक्ष्य प्रबन्धकों के सामर्थ्य और उपक्रम के संसाधनों को ध्यान में रखकर निर्धारित किये जाने चाहिए। लक्ष्य निर्धारण के पश्चात् उपक्रम के समस्त अधिकारियों एवं कर्मचारियों को योजना के लक्ष्यों से अवगत कराना आवश्यक होता है जिससे कि वे उनकी प्राप्ति के लिए निरन्तर योजनानुसार कार्य करते रहे। ये उद्देश्य पूर्णतया स्पष्ट होना चाहिए ताकि अधिकारीगण उन्हें सरलता से समझ करके सफलतापूर्वक क्रियान्वित कर सके।

2. पूर्वानुमान **लगाना**—उद्देश्य निर्धारण के उपरान्त नियोजन के आधार का नि**र्धार**ण करने के लिए पूर्वानुमान लगाये जाते हैं। पूर्वानुमान नियोजन की आधारशिला होते हैं। नियोजन एवं पूर्वानुमान का चोली—दामन का साथ होता है। पूर्वानुमान अर्थात पूर्वदृष्टि ज्ञात तथ्यों के आधार पर भविष्य के पता लगाने का एक व्यवस्थित प्रयास होता है। हेनरी फयोल इस पूर्वदृष्टि को नियोजन का सार तत्व मानते हैं। नियोजन की सफलता में पूर्वानुमान का प्रमुख योगदान होता है। भविष्य में किस प्रकार का बाजार होगा, विक्रय की मात्रा कितनी होगी, विक्रय का मूल्य क्या होगा, क्या उत्पादन किया जायेगा, उसकी लागत कितनी आयेगी, विस्तार कार्यक्रमों का वित्तीय प्रबन्ध किस प्रकार से होगा, लाभांश नीति क्या होगी इत्यादि का पूर्वानुमान करना आवश्यक होता है। उपक्रम को तमाम बाह्य एवं आन्तरिक, भौतिक एवं अभौतिक, सामाजिक एवं आर्थिक, नियंत्रणीय एवं अनियंत्रीय घटक प्रभावित करते हैं। अतः भविष्य का पूर्वानुमान करके इन घटकों का सही अनुमान एक प्रभावपूर्ण नियोजन के लिए आवश्यक चरण होता है। पूर्वानुमान की मजबूत आधारशिला पर ही नियोजन का शक्तिशाली महल तैयार हो सकता है। **हेनरी फेयोल** ने ठीक ही कहा है कि ''नियोजन बहुत से पूर्वानुमानों का सम्मिश्रण है।''

जेम्स डब्ल्यू रेडफील्ड ने प्रबन्ध सलाहकार के रूप में अपने अनुभवों के आधार पर व्यावसायिक पूर्वानुमान के चार चरण बताये हैं— (अ) आधारतल का विकास करना, (ब) भावी व्यवसाय का आंकलन

करना, (स) वास्तविक व अनुमानित परिणामों की तुलना, तथा (द) पूर्वानुमान प्रक्रिया में विशुद्धता लाना। पूर्वानुमान लगाने के लिए अनेक विधियां; जैसे– नवीनतम सूचना पद्धति, भावी कार्यक्रम के ज्ञान की पद्धति, जनता की अभिलाषाओं का विश्लेषण करने की पद्धति, सहज बुद्धि पद्धति व अर्थमितीय पद्धति आदि प्रयोग में लायी जाती है। भविष्य अकथनीय और अनिश्चित होता है। उचित रूप से लगाये गये पूर्वानुमान व्यावसायिक सफलता को सुनिश्चित करते हैं और सफलता मिलने में भाग्य और संयोग की भूमिका को न्यूनतम कर देते हैं। नियोजन कार्य में निम्नांकित कारणों से पूर्वानुमान को महत्व दिया जाना चाहिए– (1) नियोजन का सार, (2) निर्णयों की गुणवत्ता में सुधार, (3) प्रबन्धकीय कुशलता में वृद्धि, (4) समन्वय का साधन, (5) नियंत्रण में सुविधा, (6) अवसरों और खतरों का संकेत, एवं (7) उद्देश्य के प्रति एकनिष्ठता आदि।

3. **विकल्पों का निर्धारण**–नियोजन प्रक्रिया का अगला सोपान निर्दिष्ट लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए भिन्न–भिन्न वैकल्पिक तरीकों को तलाश करना है। दुनिया में ऐसा कोई कार्य नहीं होता जिसे करने के लिए न्यायोचित विकल्प न हो। प्रबन्धक को कभी भी यह नहीं मान लेना चाहिए कि अमुक लक्ष्य प्राप्त करने का केवल एक अमुक ही विकल्प है। प्रत्येक कार्य कई वैकल्पिक विधियों से किया जा सकता है और इनमें कौन सी विधि सर्वश्रेष्ठ है, यह तभी जाना जा सकता है, जबकि प्रबन्धक को समस्त विधियों का पूर्व से ज्ञान हो।

4. **विकल्पों का तुलनात्मक मूल्यांकन**–विभिन्न वैकल्पिक तरीकों के निर्धारण के उपरान्त उनका तुलनात्मक मूल्यांकन उनके गुण–दोष के आधार पर किया **जाता** है। यह कार्य उद्देश्य एवं पूर्वानुमान आधारों को ध्यान में रखकर किया जाता है। बहुधा ऐसा होता है कि कोई कार्य करने का तरीका किसी एक दृष्टि से सर्वोत्तम प्रतीत होता है, तो दूसरा तरीका किसी अन्य दृष्टि से सर्वोत्तम प्रतीत होता है। प्रबन्धक को क्रियात्मक शोध, गणितीय एवं सांख्यिकीय विधियों का उपयोग करके लागत–लाभ का सापेक्षिक मूल्यांकन करना चाहिए। उदाहरणार्थ, कार्य करने का एक तरीका बहुत लाभदायक प्रतीत होता है, परन्तु उसके लिए अत्यधिक धन की आवश्यकता प्रतीत होती है। इसके विपरीत, कार्य करने का दूसरा तरीका अपेक्षाकृत कम लाभदायक है, परन्तु उसमें कम पूँजी और जोखिम की आवश्यकता हो सकती है। इसी तरह तीसरा तरीका अपेक्षाकृत कम लाभदायक है, परन्तु उसमें कम पूँजी और जोखिम की आवश्यकता हो सकती है। इसी तरह तीसरा तरीका कम्पनी के दीर्घकालीन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए अधिक उपयुक्त हो सकता है। प्रबन्धक को चाहिए कि अपने उद्देश्यों और संसाधन सामर्थ्य के अनुसार वैकल्पिक तरीकों का सापेक्षिक मूल्यांकन करे। यह कार्य आधुनिक प्रबन्धकों द्वारा स्वॉट विश्लेषण द्वारा भी किया जा रहा है।

5. **श्रेष्ठतम विकल्प का चयन**–नियोजन प्रक्रिया का अति महत्वपूर्ण चरण है, सर्वोत्तम विकल्प का चुनाव करना। यही निर्णय का यह बिन्दु होता है जहाँ से योजना का निर्माण होता है। यह सर्वोत्तम का चुनाव ऐसे तत्वों को ध्यान में रखकर किया जाता है जो व्यवसाय विशेष में अपना निर्णायक महत्व रखते हैं। कभी–कभी विकल्पों के मूल्यांकन से यह निर्णय भी निकल सकता है कि योजना के लक्ष्य की पूर्ति

के लिए कोई एक तरीका सर्वोत्तम न हो तब अनेक तरीकों का अनुकूलतम संयोग अधिक उपयुक्त सिद्ध होगा। ऐसी स्थिति में किसी एक सर्वोत्तम विकल्प के चुनाव के स्थान पर अनेक तरीकों के संयोग का चयन किया जाना अधिक हितकर होता है।

6. आवश्यक योजना एवं उपयोजना का निर्माण—उद्देश्य प्राप्ति के सर्वोत्तम तरीके के चयन के पश्चात आवश्यक योजना एवं उप—योजना को अन्तिम रूप दिया जाता है। उप—योजनाएं पूर्ण रूप से स्वतंत्र योजनाएं न होकर मूल योजना का ही एक अंग होती है और एक दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित होती है। प्रत्येक योजना में इतनी लोच होनी चाहिए कि उसके विभिन्न अंगों में समयानुसार और आवश्यकतानुसार समायोजन किया जा सके और प्रतिद्वन्द्वियों की मोर्चाबन्दी की जा सके। मूल एवं उप—योजनाओं के सुचारू संचालन के लिए उनकी क्रियाओं का समय एवं क्रम निर्धारित किया जाना चाहिए। यह क्रम अलग—अलग विभागों, शाखाओं, उत्पादकों, कार्य करने की अवधियों (दैनिक, साप्ताहिक, मासिक, छमाही अथवा वार्षिक) के आधार पर निर्धारित किया जाना चाहिए।

7. कर्मचारियों के सहयोग की प्राप्ति—अच्छी योजना बनाने मात्र से नियोजन प्रक्रिया पूर्ण नही मानी जाती, अपितु उसके क्रियान्वयन में संस्था के प्रत्येक कर्मचारी का सक्रिय सहयोग एवं सहभागिता प्राप्त करनी चाहिए। इस हेतु संस्था में कार्यरत प्रत्येक कर्मचारी को नियोजन से अवगत कराना चाहिए, उसे समझाया जाना चाहिए और टीम भावना के अनुसार उचित परामर्श लेना चाहिए। ऐसा करने से जहाँ नियोजन की गुणवत्ता में सुधार होगा वहीं कर्मचारियों में नियोजन के प्रति निष्ठा, रूचि एवं सहभागिता जागृत होगी।

8. अनुगमन—केवल योजना बना देने मात्र से लक्ष्य प्राप्त नहीं हो जाते हैं। बहुत सावधानी एवं विश्लेषण के बाद बनायी गई योजनाएं भी मूर्त रूप में असफल सिद्ध हो सकती है। अतः प्रबन्धकों को अनुगमन की व्यवस्था करनी चाहिए और योजनाओं की व्यावहारिक क्रियाशीलता पर दृष्टि रखनी चाहिए। अनुगमन इसलिए आवश्यक है कि बदली हुई आवश्यकताओं, परिस्थितियों एवं सम्भावित परिवर्तनों के सन्दर्भ में योजना में आवश्यक संशोधन किया जा सके।

5.5 नियोजन के प्रकार

योजनाएँ विभिन्न प्रकार के हो सकती हैं, क्योंकि उन्हें विभिन्न आवश्यकताओं, समयों, परिस्थितियों एवं उद्देश्यों के आधार पर निर्मित किया जाता है। विभिन्न दृष्टिकोणों से नियोजन को निम्नांकित प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है—

1. **समय के आधार पर**— समय के आधार पर योजनाएँ अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन हो सकती हैं—

(अ) अल्पकालीन नियोजन— अल्पकालीन नियोजन छोटी अवधि; जैसे—दिन, सप्ताह, एक माह, तीन माह, एक वर्ष और कभी—कभी पाँच वर्ष तक के लिए किया जाता है। इनमें तत्कालीन समस्याओं के निराकारण की योजना बनायी जाती है। इस अल्पकालीन नियोजन को परिचालनात्मक नियोजन भी

कहा जाता है, क्योंकि यह दैनिक कार्यो के लिए निम्नस्तरीय प्रबन्धकों द्वारा अल्पकाल के लिए किया जाता है। यह स्वभाव से बहुत विस्तृत एवं विशिष्ट होता है। यह स्थापित नीतियों व कार्यविधियों के स्थायी ढाँचें के परिवेश में तैयार किया एवं विशिष्ट होता है। यह स्थापित नीतियों व कार्यविधियों के स्थायी ढाँचें के परिवेश में तैयार किया जाता है।

(ब) दार्घकालीन नियोजन– यह नियोजन लम्बी अवधि; जैसे–पाँच वर्ष, दस वर्ष, बीस वर्ष के लिए किया जाता है जो उपक्रम के उच्चाधिकारियों द्वारा लक्ष्यों व साधनों के निर्धारण के लिए किया जाता है। यह संस्थ को दीर्घकाल तक प्रभावित करती है और इसमें अत्यधिक जोखिम एवं अनिश्चितता निहित होती है। यह उत्पाद विविधीकरण, प्रबन्धकीय विकास, शोध एवं विकास, नये बाजार में प्रवेश, बाजार में अंश वृद्धि, पूँजी लागत में कमी, सयंत्र क्षमता में विस्तार, विवेकीकरण व वैज्ञानिक प्रबन्ध आदि से सम्बन्धित होती है। दीर्घकालीन नियोजन की समयावधि सामान्यतः पाँच से बीच वर्ष तक की होती है, परन्तु यह समयावधि संगठन की प्रकृति, आकार, विकास दर और वातावरणीय परिवर्तन पर निर्भर करती है।

2. प्रबन्**धकीय स्तर के आधार पर**– प्रबन्ध के स्तर के आधार पर नियोजन तीन प्रकार का हो सकता है–

(अ) उच्चस्तरीय नियोजन– यह नियोजन उपक्रम के अध्यक्ष, सभापति, संचालक मण्डल, महाप्रबन्धक जैसे शीर्ष प्रबन्धकों द्वारा किया जाता है। यह अति विश्लेषणात्मक, विचारात्मक व निर्णयात्मक स्वभाव के होते हैं। शीर्ष प्रबन्धक सम्पूर्ण उपक्रम की सामान्य नीति, उद्देश्य, लक्ष्य, रीति–नीति बजट आदि तैयार करते हैं।

(ब) मध्यस्तरीय नियोजन– इस प्रकार का नियोजन विभागीय प्रबन्धक व अधीक्षक द्वारा किये जाते हैं जो युक्ति के रूप में तैयार किये जाते हैं। इन कार्यकारी योजनाओं द्वारा उपक्रम के लक्ष्यों को प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है।

(स) निम्नस्तरीय नियोजन– इनका निर्धारण पर्यवेक्षकों व फोरमैनों के द्वारा किया जाता है। यह नियोजन मध्यस्तरीय प्रबन्धकों को युक्तियों के निर्धारण में परामर्श देती है। निम्नस्तरीय नियोजन नियम, परियोजना, कार्यक्रम, बजट व समय तालिकाओं के निर्माण में सहायक भूमिका निभाते हैं।

3- समग्रता के आधार पर– समग्रता के आधार पर नियोजन दो प्रकार का होता है–

(अ) संगठनात्मक नियोजन– संगठनात्मक नियोजन स्वभाव से सामूहिक, संयुक्त व समन्वित होता है। इसमें सम्पूर्ण संगठन के सामूहिक एवं दीर्घकालीन उद्देश्यों एवं नीतियों का निर्धारण किया जाता है। इस नियोजन में तदर्थता एवं संकीर्णता के स्थान पर स्थायित्व एवं समग्रता पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है। इस परियोजना में आंतरिक व बाह्य दानों घटकों पर ध्यान दिया जाता है।

(ब) क्रियात्मक नियोजन– यह स्वभाव से खण्डीय होता है और विभिन्न क्रियात्मक क्षेत्रों;

जैसे–उत्पादन, विपणन, वित्त, मानव संसाधन आदि के लिए पृथक्–पृथक् निर्मित होता है। इस नियोजन में संगठन की समग्र दृष्टि न होकर विभाग या उप–विभाग की संकीर्ण दृष्टि होती है। क्रियात्मक नियोजन में प्रायः बाहरी घटकों का विचार नही किया जाता है। इस प्रकार का नियोजन विभागाध्यक्षों में संकीर्णता की भावना उत्पन्न करता है और बहुधा विविध क्रियात्मक विभागो में पारस्परिक संघर्ष, भ्रान्ति और झगड़े उत्पन्न होते हैं ऐसा तभी होता विभागाध्यक्ष अपने–अपने विभागीय हितों पर अनावश्यक जोर देने लगते हैं।

4- औपचारिकता के आधार पर– इस आधार पर नियोजन दो प्रकार का होता है–

(अ) औपचारिक या लिखित नियोजन– यह नियोजन तथ्यो के व्यवस्थित संकलन व विश्लेषण, विकल्पों की खोज व तुलनात्मक अध्ययन, गहन चिन्तन आदि के बाद किया जाता है। इस प्रकार का नियोजन विधिवत, लिखित एवं स्वीकृत होता है तथा सभी सम्बन्धित विभागों एवं कर्मचारियों को सूचित होते हैं। इस प्रकार के नियोजन साक्ष्य के रुप मे भी रहते है।

(ब) अनौपचारिक या गर्भित नियोजन– इस प्रकार का नियोजन मौखिक व अस्पष्ट होता है। ऐसा नियोजन भटके हुए विचारों, कदाचित घटनाओं, भावनाओं व मानवीय संवेदनाओं से उत्पन्न होता है। कुछ प्रबन्धकीय विचारक तो इस प्रकार के नियोजन को नियोजन ही नहीं मानते हैं, क्योंकि यह कोई उपयोगी उद्देश्य पूरा नहीं कर पाता है।

5- अन्य आधार पर– कुछ अन्य आधारों पर नियोंजन के प्रकार इस प्रकार हैं–

(अ) आंतरिक व बाह्य नियोजन,

(ब) एकल उपयोग व स्थायी उपयोग नियोजन,

(स) स्थायी और अस्थायी नियोजन, व

(द) आधारभूत और आरोपित नियोजन।

5.6 प्रबन्ध में नियोजन का महत्व

जिस प्रकार बिना पतवार के नाविक, बिना अध्ययन–अध्यापन के शिक्षक, बिना कलम के लेखक व बिना हथियार के सैनिक अपना कार्य सम्पन्न नहीं कर सकते, ठीक उसी प्रकार बिना नियोजन के व्यावसायिक सफलता की कामना नहीं की जा सकती। उपक्रम चाहे वह छोटा हो अथवा बड़ा, चाहे उसकी क्रियाओं का क्षेत्र स्थानीय हो, प्रादेशिक हो राष्ट्रीय हो अथवा अन्तर्राष्ट्रीय, चाहे वह निजी क्षेत्र की हो, सार्वजनिक क्षेत्र की हो अथवा मिश्रित क्षेत्र की हो, सभी के लिए नियोजन एक अपरिहार्य आवश्यकता है। नियोजन पग–पग पर व्यवसायी का मार्गदर्शन करता है, भावी कठिनाइयों एवं खतरों के प्रति सेचत करता है और उन पर विजय का मार्ग सुझाता है। कार्य सम्पादन के पूर्व नियोजन का अभाव क्रियाओं में जल्दबाजी, बेवकूफी तथा अनिश्चितता का द्योतक है। **न्यूमैन और समर** के शब्दों

में, ''एक प्रतिष्ठान बिना नियोजन के शीघ्र बिखर जायेगा, उसके कार्य उतने ही अव्यवस्थित होंगे जितने की बसन्त बयार में उड़ने वाले दिशाहीन पत्ते और उसके कर्मचारी उसी प्रकार भ्रमित होंगे जिस प्रकार चिटियाँ अपनी उल्टी हुई वामी में होती है।'' इसी प्रकार **अर्नेस्ट सी. मिलर** ने लिखा है, ''बिना नियोजन के कोई भी कार्य केवल निष्प्रयोजन क्रिया होगी जिससे अव्यवस्था के अतिरिक्त कुछ भी प्राप्त न होगा'' नियोजन की आवश्यकता, महत्व एवं लाभ निम्नलिखित तथ्यों से और अधिक स्पष्ट हो जायेगा–

1. भावी अनिश्चितताओं एवं परिवर्तनों का सामना करने के लिए–अगर भविष्य निश्चित होता और उसमें किसी प्रकार के परिवर्तन की सम्भावना नहीं होती तो नियोजन का विशेष महत्व नहीं रहता। एक बार कार्य प्रणाली निश्चित करने के पश्चात सदा उसी का अनुसारण किया जाता, परन्तु व्यवहार में देखा जाता है कि भविष्य अनिश्चित होता है। व्यवसाय सम्बन्धी कोई भी तत्व, जैसे– प्रतिस्पर्द्धा, रोकड़ की स्थिति, उत्पाद की मांग, उत्पादन क्षमता, लागत, राजकोषीय नीति, हड़ताल व तालाबन्दी आदि निश्चित और अपरिवर्तनशील नहीं होता। इसके अतिरिक्त भौतिक जोखिमों; जैसे– भूकम्प, बाढ़, अग्निकाण्ड आदि की आशंका बनी रहती है। अतः प्रत्येक प्रबन्धक इन अनिश्चिताओं एवं परिवर्तनों का सामना करने के लिए पहले से ही अनुमान लगाकर तद्नुसार योजना बना लेते हैं।

2. लक्ष्यों पर ध्यान केन्द्रित करने के लिए–नियोजन के अन्तर्गत उपक्रम के उद्देश्यों को स्पष्ट किया जाता है और इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए योजनाएं बनाई जाती है। नियोजन का प्रमुख ध्येय संस्था के लक्ष्यों की ओर समस्त प्रबन्धकों का ध्यान केन्द्रित करना होता है। परिणामस्वरूप उपक्रम का प्रत्येक विभाग, अधिकारी और कर्मचारी उपक्रम के लक्ष्यों की प्राप्ति के प्रति सदैव जागरूक एवं सजग रहता है और प्राप्ति हेतु निरन्तर प्रयास करते रहते हैं। प्रत्येक विभागाध्यक्ष अपने विभाग की नीतियों, कार्यविधियों, कार्यक्रमों और रणनीतियों को अन्य विभागों का प्रतिद्वन्द्वी न बनाकर पूरक बनाने का प्रयत्न करता है, फलस्वरूप लक्ष्य प्राप्ति सरल हो जाता है। इस प्रकार नियोजन उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध को सफल बनाता है।

3. विभिन्न कार्यों में एकता व समन्वय–नियोजन के द्वारा उपक्रम के विभिन्न विभागों एवं क्रियाओं में तालमेल और समन्वय स्थापित होता है। नियोजन के द्वारा यह प्रयत्न किया जाता है कि सम्पूर्ण संगठन संरचना में कार्यों के दोहरेपन से बचा जाय और विभिन्न क्रियाओं में टकराव न उत्पन्न हो। उपक्रम के सभी विभाग और प्रबन्धकीय क्रियाएं एक दूसरे से कदम मिलाकर निश्चित लक्ष्य की प्राप्ति की ओर अग्रसर हों, यह नियोजन के ही द्वारा सम्भव हो पाता है। नियोजन के क्रियाओं में समानता, उद्देश्य की एकता एवं एकरूपता आती है।

4. संगठन की प्रभावशीलता में वृद्धि–नियोजन से संगठन की प्रभावशीलता में भी वृद्धि सम्भव होती है। कार्यों में अनावश्यक विलम्ब न होने से लागत में भी कमी आती है, लालफीताशाही समाप्त हो जाती है और कार्य निष्पादन में तेजी आने से श्रम और समय दोनों की बचत होती है।

5. नियंत्रण में सुगमता—नियोजन तो नियंत्रण का प्राण है। नियोजन के द्वारा भावी निष्पादन के लिए प्रमाप निर्धारित किये जाते हैं और वास्तविक निष्पादन की प्रमापों से तुलना करके विचरणांश विश्लेषण किये जाते हैं। विचरणों के प्रतिकूल होने पर सुधारात्मक कदम उठाये जाते हैं, ताकि भविष्य में क्रियाएं प्रतिकूल परिणाम न प्रदान करें। नियोजन नियंत्रण कार्य के लिए आधार प्रस्तुत करता है।

6. उतावले निर्णयों पर रोक— लुइस ऐलन के अनुसार ''नियोजन के माध्यम से उतावले निर्णयों और अटकलबाजियों को समाप्त किया जाता है।'' नियोजन के अन्तर्गत विभिन्न विकल्पों में से सर्वश्रेष्ठ विकल्प का चयन तत्कालीन परिस्थितियों, समस्याओं व समय के सन्दर्भ में किया जाता है। नियोजन भूल और सुधार के मार्ग से मुक्ति दिलाकर एक सुविचारित प्रगति का मार्ग प्रशस्त करता है। नियोजन के अभाव में जल्दबाजी अनिश्चितता और बेवकूफी झलकती है।

7. नई खोजों एवं सृजनात्मकता को प्रोत्साहन—एक सुविचारित नियोजन प्रबन्धकों को नये ढंग से काम करने के लिये सोचने को प्रेरित करता है। इससे एक खुले वातावरण में काम करने को प्रोत्साहन मिलता है। प्रबन्धकों एवं कर्मचारियों में नव—प्रवर्तन, शोध एवं सृजनात्मकता को प्रोत्साहन मिलता है।

8. मनोबल एवं अभिप्रेरणा में वृद्धि—एक कुशल नियोजन पद्धति प्रत्येक स्तर पर कर्मचारियों की सहभागिता को प्रोत्साहित करती है जिससे उनके मनोबल एवं अभिप्रेरण में वृद्धि होती है। संगठन में विश्वास का वातावरण, उत्तरदायित्व की भावना, एकता, कर्मचारियों में संतोष पनपता है जिसके कारण औद्योगिक भ्रान्तियों और संघर्षों में कमी आती है।

9. प्रभावपूर्ण सन्देशवाहन एवं भारार्पण—सुप्रभावी नियोजन पद्धति के क्रियान्वयन से प्रभावपूर्ण सन्देशवाहन होता है। उद्‌देश्य नीतियाँ, कार्यपद्धतियाँ, रणनीतियाँ, कार्यक्रम, बजट आदि संस्था के समस्त कर्मचारियों को भली—भांति ज्ञात रहते हैं। इस कारण से विविध स्तरों पर अधिकारों का प्रतिनिधायन ठीक से हो पाता है। यह अधिकारों के विकेन्द्रीकरण को प्रोत्साहित करता है।

10. राष्ट्रीय महत्व—पूर्वानुमान और नियोजन केवल एकाकी व्यावसायिक उपक्रम के लिए ही नहीं, बल्कि समग्र राष्ट्र के लिए भी उपयोगी होते हैं। प्रगतिशील राष्ट्रों में व्यावसायिक पूर्वानुमानों द्वारा व्यवसाय चक्रों पर नियंत्रण, सन्तुलित आर्थिक विकास, बेकारी की समस्या का समाधान, गरीबी में कमी आदि उद्‌देश्य प्राप्त हो जाते हैं। भारत इसका ज्वलन्त उदाहरण है जिसने पंचवर्षीय योजनाओं में उल्लेखनीय प्रगति की है और 21वीं सदी में नियोजन प्रणाली के तहत तेज प्रगति की ओर अग्रसर है।

11. अन्य महत्व—1. प्रतिस्पर्द्धात्मक शक्ति में सुधार 2. लागत में कमी 3. साधनों का सही उपयोग 4. दूरदर्शिता एवं 5. मानवीय व्यवहार में सुधार।

किसी भी संस्था की सफलता उस संस्था के भौतिक संसाधनों एवं कर्मचारियों के प्रभावी उपयोग के नियोजन पर निर्भर करती है। कर्मचारी एक सक्रिय सजीव साधन है, जबकि भौतिक संसाधन निर्जीव होते है। भौतिक संसाधनों (जैसे मशीन) के निर्जीव होने के कारण उनसे हम अपनी इच्छानुसार कार्य

करा सकते है, परन्तु कर्मचारियों के सक्रिय सजीव साधन होने के कारण बलपूर्वक अपनी इच्छानुसार कार्य नही कराया जा सकता। अतः प्रबन्ध सफल नियोजन के द्वारा उन्हें प्रेरित करते हैं।

5.7 नियोजन की परिसीमाएँ

कुछ विद्वान नियोजन को समय, श्रम एवं धन की बरबादी एवं बरसाती ओले कहकर इसका विरोध करते हैं। उनकी धारणा है कि व्यावसायिक योजनाएँ अनिश्चित एवं अस्थिर परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में तैयार की जाती है। जब इनका आधार ही अनिश्चित है तो फिर यह कैसे माना जा सकता है कि नियोजन के द्वारा निर्धारित बातें शतप्रतिशत सत्य ही होंगी। इस विरोध का मूल कारण नियोजन में उत्पन्न विभिन्न कठिनाइयों एवं सीमाओं का होना है जिनके कारण इसकी कटु आलोचनाएं की जाती हैं। इनका संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है–

(1) विश्वनीय आंकड़ों का अभाव –नियोजन की सफलता तथ्यों, सूचनाओं व आंकड़ों की विश्वसनीयता पर निर्भर करती है। ऐसे शुद्ध एवं विश्वसनीय आंकड़ों का समय पर उपलब्ध होना अपने आप में एक समस्या है। इसके अतिरिक्त नियोजन की अवधि जितनी अधिक लम्बी होगी, यह समस्या उतना ही उग्र और व्यापक रूप धारण करेगी।

(2) खर्चीली प्रक्रिया –नियोजन क्रिया के लिए अपार समय, श्रम एवं धन की आवश्यकता होती है जिससे लागत बढ़ जाती है। इस हेतु विशेषज्ञों की नियुक्ति करनी पड़ती है और पृथक् नियोजन विभाग की स्थापना करनी पड़ती है। सूचना एकत्रण, विश्लेषण और निर्णयन में बहुत सारा पैसा और समय लगता है जो छोटे उद्यमियों के बूते की बात नहीं होती। नियोजन से प्राप्त होने वाला लाभ किसी भी तरह उसके ऊपर आने वाले लागत से कम नहीं होना चाहिए।

(3) सही पूर्वानुमानों का अभाव–पूर्सानुमान तो नियोजन की आधारशिला होते हैं। लेकिन भविष्य की अनिश्चितता एवं परिवर्तनशीलता के कारण भावी घटनाओं का पूर्णतया सही–सही पूर्वानुमान लगाना अति कठिन होता है। पूर्वानुमान जितना अधिक समय के लिए लगाए जाते हैं उनकी विश्वसनीयता एवं प्रभावशीलता घटती जाती है।

(4) सर्वोत्तम विकल्प के चुनाव में कठिनाई –नियोजन के अन्तर्गत उपलब्ध विकल्पों का चयन एक विकट समस्या है। आज जिस विकल्प को सर्वोत्तम माना जाता है, हो सकता है कि कल वह सर्वोत्तम परिवर्तित दशाओं में न रहे। निःसन्देह नियोजन के कार्य में सर्वोत्तम विकल्प का चुनाव एक महत्वपूर्ण बाधा है।

(5) अलोचपूर्णता –नियोजन से कभी–कभी अलोचपूर्णता और कठोरता का उदय होता है। व्यक्तिगत रुचि, मौलिकता, पहलपन और स्वतंत्रता का नियोजन गला घोंट कर कार्यविधियों में कठोरता, लालफीताशाही एवं विलम्ब को बढ़ावा देता है। इस दोष से पर्याप्त सीमा तक बचा जा सकता है बशर्ते कि विभागीय योजनाओं में कुछ सीमा तक संशोधन व समायोजन करने का अधिकार विभागीय अधिकारियों

को सौंप दिया जाए।

(6) कठिन मानसिक प्रक्रिया –नियोजन में गहन बौद्धिक चिन्तन, अत्यधिक कागजी कार्यवाही विश्लेषण एवं मूल्यांकन की जरूरत होती है जिसके लिए योग्य विशेषज्ञों का सर्वथा अभाव पाया जाता है। बहुत से प्रबन्धक इस कष्टकारी से बचकर केवल अल्पकालीन कार्यों को सम्पादित करना ही श्रेष्ठ मानते हैं।

(7) परिवर्तन का विरोध –बहुत से लोग आमतौर पर परिवर्तन को पसन्द नहीं करते, उना सनातनी दृष्टिकोण नियोजन के लिए एक सीमा बन जाता है। नए नियोजन से परिवर्तन होने लगते हैं और जब अधीनस्थों से नई चीजें सीखने, प्रशिक्षण लेने और पुराने आदतों, परम्पराओं, विश्वासों व मूल्यों को छोड़ने को कहा जाता है तो वे इसका विरोध करते हैं और संगठन का वातावरण अशान्त और तनावूपर्ण हो जाता है।

5.8 नियोजन और पूर्वानुमान में अन्तर

बहुधा लोग नियोजन और पूर्वानुमान को समानार्थी मानकर दोनों शब्दों को एक ही अर्थ में प्रयोग करते हैं, जबकि ऐसा नहीं है। यद्यपि दोनों ही क्रियाएं भविष्य से सम्बन्धित हैं और भविष्य की अनिश्चितताओं का सामना करने के लिए प्रयुक्त होती हैं। परन्तु दोनों में अन्तर है। नियोजन एक व्यापक प्रक्रिया है जिसे प्रबन्ध भविष्य की अनिश्चितताओं से लड़ने के लिए बनाता है। पूर्वानुमान नियोजन का एक औजार है जिससे प्रबन्धक यह अनुमान लगाता है कि भविष्य में क्या होगा। पूर्वानुमान नियोजन प्रक्रिया को सरल बनाता है। यदि भविष्य के बारे में पूर्वानुमान ठीक से लगा लिए जाए तो व्यावसायिक नियोजन सुगम और सरल हो जाता है। प्रबन्ध विज्ञान के जनक **हेनरी फेयोल** का मत है कि 'भविष्य को देखना' प्रबन्ध का सार है। उनके अनुसार 'भविष्य को देखने' में 'भविष्य का अनुमान' (पूर्वानुमान) और 'भविष्य के लिए व्यवस्था करना' (नियोजन) सम्मिलित है। यही तो पूर्वानुमान और नियोजन का अन्तर है। पूर्वानुमान भविष्य का अनुमान होती है जबकि नियोजन भविष्य की व्यवस्था होती है। यह बात पूर्णतया सत्य है कि पूर्वानुमान भविष्य का अनुमान होती है जबकि नियोजन भविष्य की व्यवस्था होती है। यह बात पूर्णतया सत्य है कि पूर्वानुमान ही भावी नियोजन का महत्वपूर्ण आधार होते हैं। पूर्वानुमान जितने सत्य और वास्तविकता के निकट होंगे, नियोजन उतना ही अधिक प्रभावी और सफल होगा।

5.9 प्रभावी नियोजन के सिद्धान्त

निगमित नियोजन उत्पादन, प्रौद्योगिकी, मानव, वित्तीय तथा भौतिक संसाधन, संगठन के कार्यशील आन्तरिक व बाह्य वातावरण पर निर्भर करता है। फिर भी, निम्नलिखित सिद्धान्तों का अनुसरण करके एक सुदृढ़ नियोजन किया जा सकता है–

(1) समयशीलता का सिद्धान्त –नियोजन में समय तत्व का स्थान सर्वोपरि होना चाहिए।

नियोजन करने में समय पर विशेष ध्यान रखना चाहिए ताकि सभी कार्यक्रम और उपयोजनाएं निर्धारित समयावधि पर पूरे हो सकें।

(2) कार्यकुशलता का सिद्धान्त –नियोजन की कार्यकुशलता का सिद्धान्त इस बात पर बल देता है कि सीमित लागतों एवं न्यूनतम प्रयत्नों से संसाधनों का सर्वाधिक कुशल उपयोग हो।

(3) लोचशीलता का सिद्धान्त –लोचशीलता का सिद्धान्त यह प्रतिपादित करता है कि योजनाएं यथासम्भव लोचशील होनी चाहिए जिससे कि अप्रत्याशित घटनाओं के कारण होने वाली हानि को न्यूनतम करने हेतु इनमें अपेक्षित परिवर्तन किया जा सके।

(4) उद्देश्यपूर्ति में योगदान का सिद्धान्त –नियोजन का मूल ध्येय भविष्य में उपक्रम के उद्देश्यों की प्राप्ति में योगदान देना होता है और किसी भी नियोजन को जब तक उद्देश्योन्मुख नहीं किया जाता तब तक वह अच्छे परिणाम नहीं दे सकता है।

(5) स्वीकार्यता का सिद्धान्त –इस सिद्धान्त के अनुसार नियोजन तभी सफलतापूर्वक क्रियान्वित हो सकता है जब उसके निर्माण की प्रक्रिया में सभी कर्मचारियों की सहभागिता हो। ऐसी दशा में उसे वे समझकर स्वीकार करेंगे। इस स्वीकार्यता हेतु कर्मचारियों को योजनाओं का उचित संदेशवाहन जरूरी होता है।

(6) नियोजन आधारों का सिद्धान्त –यह सिद्धान्त इस बात पर बल देता है कि नियोजन के आधार पर मान्यताओं का सही, स्पष्ट व पूर्ण ज्ञान चाहिए। नियोजन के आन्तरिक व बाह्य तत्वों का आकलन करके उनके अनुसार योजना बनानी चाहिए।

(7) व्यापकता का सिद्धान्त –नियोजन एक इतनी व्यापक क्रिया है जिसकी आवश्यकता प्रबन्ध के सभी स्तरों को होती है। अतः नियोजन प्रबन्ध के सभी स्तरों के अनुकूल होनी चाहिए।

(8) प्रतिबद्धता का सिद्धान्त –इस वचनबद्धता सिद्धान्त के अनुसार नियोजन इस प्रकार से किया जाना चाहिए कि प्रबन्धकों ने संस्था से जो वायदा किया है उसे निर्धारित समय में पूरा कर सके।

(9) नाविकीय परिवर्तन का सिद्धान्त –इस सिद्धान्त के अनुसार जिस प्रकार नाविक परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार पतवार की सहायता से नाव का रूख मोड़ता रहता है, उसी प्रकार, प्रबन्धकों को भी वांछित लक्ष्य की दिशा में अग्रसर रहने हेतु अपने पथ की निरन्तर समीक्षा करते रहना चाहिए और वांछित लक्ष्य की प्राप्ति हेतु आवश्यकतानुसार उसमें परिवर्तन करते रहना चाहिए।

(10) अन्य सिद्धान्त–कुछ अन्य सिद्धान्त भी हैं जैसे–

(अ) प्राथमिकता का सिद्धान्त,

(ब) सहयोग का सिद्धान्त,

(स) विकल्पों का सिद्धान्त, व

(द) सीमित घटकों का सिद्धान्त,

5.10 सारांश

नियोजन के आधार तत्व –नियोजन प्रबन्ध का प्रथम एवं सर्वाधिक प्रमुख कार्य है,नियोजन एक मानसिक प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत क्या करना है, कब करना है, कैसे एवं कहाँ करना है, किसे करना है, आदि बातों का पूर्व–निर्धारण किया जाता है। नियोजन से आशय निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए वैकल्पिक उद्देश्यों, नीतियों, कार्यविधियों एवं कार्यक्रमों में से सर्वोत्तम का चुनाव करने से लगाया जाता है।

कुण्ट्ज एवं ओ'डोनेल के अनुसार ''नियोजन एक बौद्धिक प्रक्रिया है जो उद्देश्यों, तथ्यों एवं सुविचारित अनुमानों पर आधारित भावी कार्य–पथ का निर्धारण है।''

नियोजन प्रक्रिया में निहित आवश्यक चरण

1. उद्देश्य निर्धारण,
2. पूर्वानुमान लगाना,
3. विकल्पों का निर्धारण,
4. विकल्पों का तुलनात्मक मूल्यांकन,
5. श्रेष्ठतम विकल्प का चयन,
6. आवश्यक योजना एवं उपयोजना का निर्माण,
7. कर्मचारियों के सहयोग की प्राप्ति, एवं
8. अनुगमन।

योजनाएँ विभिन्न प्रकार के हो सकती हैं, क्योंकि उन्हें विभिन्न आवश्यकताओं, समयों, परिस्थितियों एवं उद्देश्यों के आधार पर निर्मित किया जाता है। विभिन्न दृष्टिकोणों से नियोजन को निम्नांकित प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है–

1. **समय के आधार पर** – (अ) अल्पकालीन नियोजन, एवं (ब) दार्घकालीन नियोजन।
2 **प्रबन्धकीय स्तर के आधार पर** – (अ) उच्चस्तरीय नियोजन, (ब) मध्यस्तरीय नियोजन, एवं (स) निम्नस्तरीय नियोजन।
3. **समग्रता के आधार पर** –(अ) संगठनात्मक नियोजन, एवं (ब) क्रियात्मा नियोजन।

4. **औपचारिकता के आधार पर – (**अ) औपचारिक या लिखित नियोजन, एवं (ब) अनौपचारिक या गर्भित नियोजन।

5. **प्रभावी नियोजन के सिद्धान्त** –(1) समयशीलता का सिद्धान्त, (2) कार्यकुशलता का सिद्धान्त, (3) लोचशीलता का सिद्धान्त, (4) उद्देश्यपूर्ति में योगदान का सिद्धान्त, (5) स्वीकार्यता का सिद्धान्त, (6) नियोजन आधारों का सिद्धान्त, (7) व्यापकता का सिद्धान्त, (8) प्रतिबद्धता का सिद्धान्त, एवं (9) नाविकीय परिवर्तन का सिद्धान्त।

उपक्रम चाहे वह छोटा हो अथवा बड़ा, चाहे उसकी क्रियाओं का क्षेत्र स्थानीय हो, प्रादेशिक हो अथवा अन्तर्राष्ट्रीय, चाहे वह निजी क्षेत्र की हो, सार्वजनिक क्षेत्र की हो अथवा मिश्रित क्षेत्र की हो, सभी के लिए नियोजन एक अपरिहार्य आवश्यकता है। नियोजन पग–पग पर व्यवसायी का मार्गदर्शन करता है, भावी कठिनाइयों एवं खतरों के प्रति सेचत करता है और उन पर विजय का मार्ग सुझाता है।

नियोजन प्रबन्धक को भावी अनिश्चितता एवं परिवर्तनों का सामना करने में, लक्ष्यों पर ध्यान केन्द्रित करने में, विभिन्न कार्यों में एकता व समन्वय, नियन्त्रण में सुगमता, मनोबल एवं अभिप्रेरणा में वृद्धि आदि को प्राप्त या लागू करने में महत्वपूर्ण भूमिका करने के लिए अनेक कठिनाईयों का सामना करना पड़ता हैं – जैसे विश्वसनीय आंकड़ों का अभाव, सही पूर्वानुमानों का अभाव, सर्वोत्तम विकल्प के चुनाव में कठिनाई, परिवर्तन का विरोध, आदि।

5.11 महत्वपूर्ण शब्दावली

- **नियोजन** – नियोजन संस्था के निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए भावी कार्य–कलापों के विषय में वैकल्पिक क्रियाओं में से सर्वोत्तम का चयन है।
- **पूर्वानुमान** – पूर्वानुमान नियोजन का एक औजार है जिससे प्रबन्धक यह अनुमान लगाता है कि भविष्य में क्या होगा।
- **औपचारिक नियोजन** – यह नियोजन तथ्यों के व्यवस्थित संकलन व विश्लेषण, विकल्पों की खोज व तुलनात्मक अध्ययन, गहन चिन्तन आदि के बाद किया जाता है।
- **अनौपचारिक नियोजन** – इस प्रकार का नियोजन मौखिक व अस्पष्ट होता है। ऐसा नियोजन भटके हुए विचारों, कदाचित घटनाओं, भावनाओं व मानवीय संवेदनाओं से उत्पन्न होता है।

5.12 आवश्यक प्रश्न

1. ''नियोजन मूलतः चयन करता है और नियोजन की समस्या तब पैदा होती है जबकि वैकल्पिक कार्यपथ की खोज होती है।'' इस कथन का विस्तार कीजिए और नियोजन प्रक्रिया में निहित चरणों को इंगित कीजिए।

2. नियोजन से आप क्या समझते हैं? क्या नियोजन की कुछ सीमाएं भी हैं? यदि हां, तो उन पर कैसे विजय प्राप्त की जा सकती है?

3. नियोजन को परिभाषित कीजिए। इसे आधुनिक विश्व में व्यावसायिक प्रबन्धक का आवश्यक कार्य क्यों माना जाता हैं? संक्षेप में, इसकी सीमाएं बताइए।

4. नियोजन के विभिन्न लक्षणों एवं प्रकारों की विवेचना कीजिए।

5. नियोजन को प्रबन्ध का प्राथमिक कार्य क्यों कहा जाता है? आधुनिक उच्च तकनीकी संगठनों में नियोजन की प्रक्रिया की विवेचना कीजिए।

6. प्रभावी नियोजन के विभिन्न सिद्धान्तों का वर्णन कीजिए। नियोजन किस प्रकार पूर्वानुमान से भिन्न है?

7. ''प्रबन्धकीय नियोजन तेजी से बदलते वातावरण में एक अनुष्ठान मात्र है।'' इस कथन के आलोक में नियोजन की सीमाओं और प्रक्रिया की व्याख्या कीजिए।

कुछ उपयोगी पुस्तकें

- प्रबन्ध के सिद्धान्त एस के सिंह प्रयाग पुस्तक भवन इलाहाबाद 2006
- व्यावसायिक प्रबन्ध ओ. पी. राय बी. के. सिंह वैभवसम्मी प्रकाशन, वाराणासी, 2012
- औद्योगिक संगठन एवं प्रबन्धन, आर.सी. गुप्ता, साहित्य भवन पब्लिकेशन आगरा, 2003
- व्यवसायिक संगठन, जगदीश प्रकाश, प्रयाग पुस्तक भवन, 2014
- औद्योगिक प्रबन्ध, जे.के. जैन, प्रतीक प्रकाशन आगरा, 2001

इकाई – 6 : योजना, नीतियाँ, अनुसूचियाँ और कार्यविधियाँ

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध

6.3 नीतियाँ

6.4 नियम

6.5 अनुसूची अथवा कार्यक्रम

6.6 बजट

6.7 परियोजनाएं

6.8 रणनीति

6.9 सारांश

6.10 महत्वपूर्ण शब्दावली

6.11 आवश्यक प्रश्न

6.0 उद्देश्य

इस अध्याय के अध्ययन के उपरान्त आप निम्न प्रश्नों के उत्तर से अवगत होगों।

❖ योजनाएं कितने तरह के होते हैं ?

❖ उद्देश्य के लक्षण बताइए।

❖ उद्देश्यों में परिवर्तन कैसे होता है।

❖ नीतियों का तात्पर्य और प्रकार क्या है ?

❖ उद्देश्य और नीति में क्या अन्तर है ?

❖ एकल उपयोग योजनाओं के प्रकार बताइए।

6.1 प्रस्तावना

प्रबन्धकीय नियोजन तो योजनाओं के द्वारा ही किया जाता है। प्रत्येक संस्था अपने प्रकृति के अनुसार योजनाएं अवश्य ही बनाती है। व्यावसायिक प्रबन्ध के क्षेत्र में योजनाएं दो प्रकार की होती है:

1. स्थायी या निरन्तर उपयोग की योजनाएं, व

2. एकल उपयोग या तदर्थ योजनाएं।

योजनाओं के प्रकार को ही **नियोजन के तत्व , संघटक अथवा क्षेत्र** भी कहा जाता है, जिससे उददेश्य, नीतियां, कार्यविधि, नियम , मोर्चा बन्दी , कार्यक्रम बजट परियोजना सभी को सम्मिलित किया जाता है।

जो योजनाएं किसी व्यावसायिक उपक्रम में स्थायी रूप से बनायी जाती है अर्थात बारम्बार उपयोग के लिए बनायी जाती है उन्हें स्थायी योजनाएं कहते है। इन योजनाओं का प्रयोग तब किया जाता है जब इनकी आवश्यकता पड़ती है। इन योजनाओं के प्रमुख उदाहरण में संस्था के उददेश्य, नीतियां, कार्यविधि , नियम आदि उल्लेखनीय हैं। यह नियोजन संस्था के छः मूल प्रश्नों क्या, कहाँ, कब, कैसे क्यों, और कौन का स्पष्ट जवाब दे कर के सही निर्णयन को प्रोत्साहित करता है। स्थायी योजनाओं की एक बार स्थापना के बाद वे तब तक लागू रहती है जब तक कि उनका त्याग या संशोधन न किया जाए।

एकल उपयोग योजनाएं अस्थायी व विशेश उददेश्य की प्राप्ति के लिए होती है और इनका उपयोग एक बार ही किया जाता है। अल्पकालीन और तदर्थ उददेश्य की प्राप्ति के लिए इनका निर्माण किया जाता है। ऐसी योजनाएं मध्यवर्गीय प्रबन्धकों, पर्यवेक्षकों व कर्मचारियों की क्रियाओं के मार्गदर्शन हेतु बनायी जाती हैं। उन्हें बार–बार विशेश उददेश्य के अनुसार बनाना पड़ता है। इनमें कार्यक्रमों, परियोजनाओं, बजट आदि को शामिल किया जाता है।

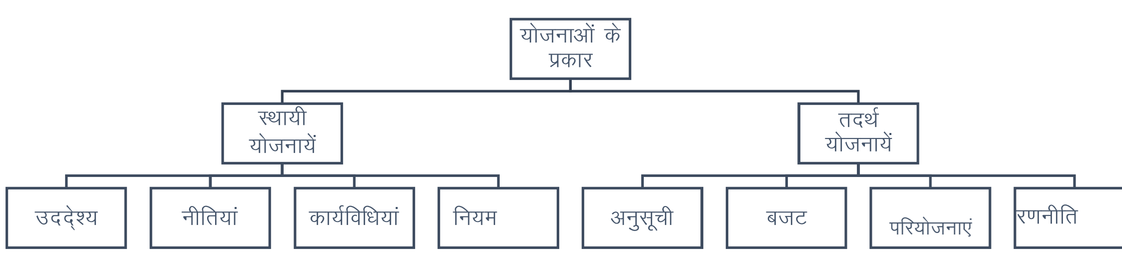

इस प्रकार नियोजन के समग्र रूप में आठ तत्व उददेश्य, नीतियां, कार्यविधि, नियम, अनुसूची, बजट, परियोजनाएं, रणनीति को समन्वित किया जाता है।

6.2 उद्देश्य

संगठनों या उपक्रमों का निर्माण कुछ उददेश्य की प्राप्ति के लिए किया जाता है। उददेश्य वे अन्तिम व अभीश्ट परिणाम या साध्य होते हैं, जहां तक पहुचने के लिए संगठनात्मक प्रयत्नों को समन्वित किया जाता है। उददेश्य मात्र अच्छे विचार नही होते हैं। बल्कि निश्चित समयावधि के भीतर कुछ विशिष्ट परिणामों तक पहंचने की प्रतिबद्वता को दर्शाते हैं।

उददे्श्य का आशय– उददे्श्य ऐसे लक्ष्य होते हैं जिन्हें प्राप्त करने के लिए उद्यम की समस्त क्रियाएं प्रयत्नशील रहती है। **कुण्ट्स एवं ओ' डोनेल** के शब्दों में, ''उददे्श्य ऐसे स्थापित लक्ष्य है जिसे प्राप्त करने के लिए कम्पनी और उसके प्रत्येक संघटन निर्देशित होते है।'' न्यूमैन और समर के शब्दों में, '' प्रबन्धकीय दृष्टिकोण से उददे्श्य उन परिणामों को कहा जाता है, जिन्हें हम प्राप्त करना चाहते हैं।''आर. सी. एप्पले तो लिखते हैं, '' उददे्श्य लक्ष्य है। ये ऐसे लक्ष्य हैं जिन्हें प्रबन्ध संगठन के द्वारा प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहता है।''

उददे्श्य के लक्षण एवं प्रकृति–व्यासायिक उददे्श्य का आशय समझने के बाद हम इसकी प्रकृति को समझने का प्रयास करेंगें :

(1) उददे्श्य की प्रकृति विविधात्मक है -किसी भी उपक्रम के उददे्श्य एक न होकर अनेक होते हैं। उपक्रम के बहुत से उददे्श्य होने का प्रमुख कारण यह है कि इसके उनके दावेदार (Stakeholders) या हित–समूह होते हैं। इन दावेंदारों में अंशधारी, लेनदार, कर्मचारी, ग्राहक, पूतिकर्ता, सरकार और समाज प्रमुख हैं। **पीटर एफ. ड्रकर** का कहना है कि एक व्यवसाय के प्रबन्ध करने का आशय है, विभिन्न उददे्श्यों में साम्य स्थापित करना। संस्था को लाभ अधिकतमीकरण उददे्श्य के स्थान पर सामाजिक सेवा के संग अनुकूलतम लाभ उददे्श्य पर बल देना चाहिए। आधुनिक प्रतिस्पार्धां युग में विविध उददे्श्य जैसे– अस्तित्व रक्षा, संवृद्धि, लाभ, कुशलता, उत्पादकत, नव प्रवर्तन, कर्मचारी विकास आदि होते हैं। प्रबन्धक को परस्पर संघर्शरत बहुआयामी उददे्श्यों के मध्य आवश्यक सन्तुलन स्थापित करना चाहिए।

(2) उददे्श्य की अवधारणा प्रयोजन, ध्येय और लक्ष्य से भिन्न है-प्रायः प्रयोजन, ध्येय, लक्ष्य और उददे्श्य जैसे चार शब्द पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त होते हैं, परन्तु सूक्ष्म रूप में इनके शब्दार्थ में अन्तर है। प्रयोजन किसी उपक्रम की सफलता के मूल मंतव्य को दर्शाता है। जैसे किसी औषधालय को स्थापित करने का प्रयोजन, रोगियों को चिकित्सा–सुविधा मुहैया कराना हो सकता हैं। किसी उपक्रम का प्रयोजन तब ध्येय (मिशन) का रूप धारण कर लेता है जब इसके साथ कुछ विचारधारा का समावेश हो जाता है। यह विचारधारा धार्मिक या नैतिक या सामाजिक मूल्यों से सम्बन्धित हो सकती हैं। उपक्रम का प्रवर्तनकर्ता मनोवैज्ञानिक रूप से मिशन को प्राप्त करने के लिए प्रतिबद्ध होता है। प्रयोजन की तुलना में उद्देश्य अधिक विशिश्ट होते हैं और समय से जुड़े होते हैं। लक्ष्य वास्तव में उददे्श्य के रूपान्तिरित हिस्सा को कहा जाता है। उददे्श्य विवरणात्मक परिवेश में प्रस्तुत होते हैं जबकि लक्ष्य परिणात्मक परिवेश में। फिर भी आमतौर पर लक्ष्य और उददे्श्य को समानार्थी ही माना जाता है।

(3) उददे्श्यों में क्रमबद्धता होती है - यह सही है कि उपक्रम के उददेश्यों की संख्या एक से अधिक होती है। परन्तु इसका यह कदापि अर्थ नहीं है कि सभी उददेश्य समान महत्व के होते हैं। उन्हें महत्व के आधार पर क्रमानुसार वरीयता दी जाती है। उददेश्यों को प्राथमिक और द्वितीयक वर्ग में बांटा जा सकता है। उपक्रम के उददेश्यों की क्रमबद्वता इस रूप में प्रदर्शित भी होती है कि उन्हें सामान्यतया

संगठनात्मक, विभागीय, अनुभागीय और वैयक्तिक उददे्श्यों में विभाजित किया जाता है। इस प्रकार के विभाजन से उददेश्यों की क्रमबद्धता बनती है और ऊपर से नीचे तक एक पिरामिकड रूप धारण कर लेते हैं।

सर्वप्रथम संगठन के उददे्श्यों का निर्धारण समग्र रूप से होता है। संगठनात्मक उददे्श्यों के परिप्रेक्ष्य में विभागीय उददे्श्य निर्धारित होते है, इसी प्रकार उपविभाग और अनुभाग के उददे्श्य वर्गीकृत किये जाते हैं। अन्त में अनुभागीय उददे्श्यों की प्राप्ति के लिए व्यक्तियों के उददेश्य निर्धारित किये जाते हैं। इससे उददेश्यों में क्रमबद्धता और पारस्परिक सम्बद्धता उत्पन्न होती है। जैसे–जैसे हम क्रमबद्धता के नीचे की ओर बढ़ते हैं वैसे–वैसे उददे्श्य अधिक विशिष्ट और अधिक संख्या वाले होते चले जाते हैं और इनके साथ जुड़ी समयावधि का आयाम लघु होता है।

उददे्श्यों की क्रमबद्धता से एक अन्य विशेषता यह भी प्रकट होती है उन्हें साधन–साध्य श्रंखला के रूप में देखा जा सकता है। प्रत्येक नीचे के स्तर के उददे्श्य ऊपर के स्तर के उददे्श्य के लिए साधन एवं ऊपर के उददे्श्य नीचे के उददे्श्य के लिए साध्य का माम करते हैं और इस प्रकार साधन साध्य की श्रृंखला में बधे होते हैं।

(4) उददे्श्य दीर्घकालीन एवं अल्पकालीन हो सकते हैं–समय की दृष्टि से व्यावसायिक उददे्श्य दीर्घकालीन एवं अल्पकालीन हो सकते हैं। उदाहरण के लिए, अस्तित्व एवं विकास एक दीर्घकालीन उददे्श्य है जबकि बिक्री एवं लाभ अधिकतमीकरण, कुशलता, उत्पादकता, नव प्रवर्तन, कर्मचारी विकास, सामाजिक उत्तरदायित्व आदि अल्पकालीन उददेश्य हो सकते हैं। दीर्घकालीन उददेश्यों को दीर्घ भावी अवधि के लिए मोटे तौर पर अनुमान के आधार पर निर्धरित किया जाता है और इसमें अस्पष्टता होती है। अल्पकालीन उददेश्य विशिष्ट, निश्चित और स्पष्ट होते है और इनका सम्बन्ध तत्कालीन भविष्य से होता हैं। दीर्घकालीन उददेश्यों की अवधि पाँच से दस वर्ष तक हो सकती है और उनमें समय, परिस्थितियों और संसाधनों के अनुकूल परिवर्तन भी होता रहता है। दीर्घकालीन उददे्श्यों की प्राप्ति में अल्पकालीन उददे्श्यों का योगदान होता है और प्रायः वार्षिक होने का कारण परिवर्तन का संशोधन की आवश्यकता नही पड़ती है।

(5) अन्य लक्षण - उददे्श्यों में कुछ अन्य लक्षण निम्न प्रकार होते हैंः–

(अ) उददे्श्य समय–काल और परिस्थिति के सापेक्ष होते हैं। परन्तु ध्यान रहे परिवर्तन का समायोजन इतने बार जल्दी–जल्दी न किया जाए कि भ्रम व उलझन की स्थिति पैदा हो।

(ब) उददे्श्य परस्पर निर्भर और संबंधित होते हैं। वे एक दूसरे का सहयोग, समन्वय और समर्थन करते हैं।

(स) उददे्श्य योजनाओं का आधार है और इसीलिए वर्तमान युग में उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध को सफलता की श्रेष्ठतम तकनीकी माना जाता है।

(द) उद्देश्यों को व्यावहारिक क्षेत्र में आदर्शवादी–यथार्थवादी, मूर्त–अमूर्त (ख्याति, मनोबल, संतोष, शान्ति, अमूर्त उददेश्य हैं जिन्हें सुनिश्चित ढंग से निर्धारित नहीं कर सकते), आर्थिक–अनार्थिक वर्गों में भी विभक्त कर सकते हैं।

उददेश्यों मे परिवर्तन–संगठन एक गतिशील एवं सामाजिक इकाई होती है अतः उददेश्यों की समय–समय पर समीक्षा करके उनमें संशोधन, परिवर्द्धन, प्रतिस्थापन व विस्थापन के द्वारा परिवर्तन किया जाता है। कभी तो यह अधिकारिक व औपचारिक रूप से जान–बूझकर बदले जाते हैं तो कभी ये अनौपचारिक व अचेत रूप में स्वयं बदल जाते हैं। उददेश्य परिवर्तन की इन दशाओं को (अ) उददेश्य प्रतिस्थापन, (ब) उददेश्य विस्थापन, व (स) उददेश्य विरूपण कहा जाता है।

(अ) उददेश्य प्रतिस्थापन –जब पुराने उददेश्यों को नए उददेश्यों से अधिकृत रूप में जान–बूझकर प्रतिस्थापित किया जाता है तो इसे उददेश्य प्रतिस्थापन कहते हैं। इसके अग्रलिखित कारण हो सकते हैं : (1) **जब विद्यमान उददेश्य** प्राप्त हो जाते हैं तो संगठन को भविष्य में चालू रखने के लिए उनका प्रतिस्थापन नये उददेश्यों से किया जाता है। उदाहरणार्थ, कांग्रेस पार्टी का भारतवर्ष के स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरान्त देश स्वतंत्रता का उददेश्य पूरा हो गया। तब उसे अपने अस्तित्व को कायम रखने के लिए नए राजनैतिक उददेश्य से प्राचीन उददेश्य को प्रतिस्थापित करना पड़ा। (2) कभी–कभी आन्तरिक व बाह्य दशाओं में परिवर्तन होने पर पुराने उददेश्य असंगत या बेकार हो जाते हैं तो उनके स्थान पर नए अनुकूल उददेश्यों की स्थापना आवश्यक हो जाती है। (3) कभी–कभी उपक्रम अपने वर्तमान उददेश्यों को पाने मे विफल हो जाता हैं और फिर भी अस्तिव में रहना चाहता है तो उसे अपने उददेश्यों मं नयापन लाना पड़ता है (4) यदि कोई संगठन किसी छोटे से उददेश्य से प्रारम्भ होता है और बाद में स्थापित एवं विकास होने पर विविध उददेश्य जुड़ जाते हैं। उदाहरण के लिए, बीमारियों की चिकित्सा के उददेश्यों से अस्पताल की स्थापन की जाती है एवं बाद में शिक्षा व प्रशिक्षण हेतु उसका रूप मेडिकल कॉलेज का हो जाता है। ऐसी दशा में, प्रारम्भिक उददेश्य को कभी–कभी त्याग भी दिया जाता है। (5) आपत्तिकाल मे भी अधिकार सीमाओं के अन्तर्गत उददेश्य प्रतिस्थापना स्वीकृत होते हैं।

(ब) उददेश्य विस्थापन –यह उददेश्य विस्थापन अनाधिकृत व अनजाने रूप में होता है, जिसकी औपचारिक घोषणा भी नही की जाती है। वास्तव में, संगठन के अधिकृत उददेश्य वही पुराने रहते हैं किन्तु व्यवहार में संगठन अन्य किसी उददेश्य का अनुसरण करने लगता है। उददेश्य विस्थापन तब होता है जब प्रबन्धक और कर्मचारी अपने प्रयासों और उपक्रम के प्रवाह को इसके पूर्व–नियोजित और वांछित उददेश्य से दूर ले जाते हैं। उददेश्य विस्थापन के कारण अग्रलिखित हो सकते हैः (1) जब प्रबन्धकों और कर्मचारियों द्वारा अपने **वैयक्तिगत उददेश्यों को वरीयता** दी जाती है तो उददेश्य विस्थापन होता है। वे ऐसा करते हुए यह प्रदर्शित करते हैं कि संगठनात्मक लक्ष्यों पर ध्यान दे रहें हैं। उदाहरण के लिए, प्रबंधक संस्था हित का उददेश्य बताते हुए अपने रिश्तेदारों की नियुक्ति करें। (2) जब साधनों को ही साध्य मान लिया जाता है तो उददेश्य विस्थापन हो जाता है। उदाहरण के लिए, एक महाविद्यालय या विश्वविद्यालय की स्थापना तो शिक्षा के मौलिक उददेश्य से की जाती है किन्तु

प्रकारान्तर में इसे सगे–सम्बन्धियों को रोजगार दिलाने व निजी हितों के प्रयोग करने से उददे्श्य विस्थापन व्यवहार में हो जाता है। यद्यपि अधिकृत रूप से उददे्श्य वही रहते हैं। (3) जब संस्था के प्रबन्धक मूल उददेश्यों को भूलाकर नियमों , कार्य–विधियों , पूर्व उदाहरणें आदि पर अत्यधिक जोर देने लगते हैं तो उददे्श्य का विस्थापन हो जाना लाजिमी हो जाता है। ऐसा अधिकतर नौकरशाही संगठनों में घटित होता है जहां पर प्रबन्धक अपनी सुरक्षा के लिए नियमों को ढाल बना लेते हैं, भले ही संगठन के मूल उददेश्य विस्थापित होते रहें। उदाहरणार्थ किसी आपत्ति काल में भी प्रबन्धक आवश्यक खर्चा से मना इसलिए कर दे कि बजट प्रावधान नही है। (4) कभी–कभी कर्मचारी संगठन मे अपनी अवसरवादिता, पदोन्नति व वेतन संशोधन आदि के लिए वास्तविक उददेश्यों से ध्यान हटाने के लिए अनर्गल वार्तालाप में समय एवं शक्ति गवां देते हैं। इस व्यक्तिगत वार्तालाप में मूल उददे्श्य धरे रहे जाते हैं और विस्थापित उददे्श्य ही प्रमुख हो जाता है।

(स) उददेश्य विरूपण –कभी–कभी जाने या अनजाने मे उददेश्यों का विरूपण या विकृति भी हो जाती है। हम वास्तविक उददेश्य और अभिव्यक्त उददेश्य का अन्तर ही नहीं समझ पाते हैं। यह उद्देश्य का विकृतीकरण प्रबन्धक, कर्मचारी और संगठन के स्तर पर निम्न कारणों से हो सकता है : (1) संदेशवाहन में बाधा, विलम्ब, जोड़–तोड़ समझदारियों में अन्तर या निजी स्वार्थों के कारण उददेश्यों का विरूपण हो जाता है। (2) कभी–कभी विभागीय अध्यक्ष अपनी प्रभुसत्ता बढ़ाने के वास्ते संगठन के ऊपर विभागीय उददेश्यों को थोपने का प्रयत्न करते हैं और संगठन के उददे्श्यों का विरूपण हो जाता है। (3) संगठन के विभिन्न स्तर, वातावरण और पृष्ठभूमि उददे्श्यों का सही सन्दर्भ प्रकट होने की जगह पर अस्पष्ट चित्रण प्रस्तुत करते हैं, इस स्थिति में उददेश्यों का विरूपित हो जाना स्वाभाविक है।

सुनिश्चित उददेश्य निर्धारण का महत्व एवं सीमाएं

संगठन एक उददे्श्यशील विकासोन्मुख इकाई होती है। उददे्श्य किसी संगठन के क्रिया–कलापों के आदि और अन्त दोनों होते है। प्रत्येक संगठन के निर्माण के पीछे कोई न कोई उददेश्य अवश्य होता है जो इसके निर्माण की सार्थकता को सिद्व करता है। सुनिश्चित उददे्श्य निर्धारण से संगठन को विभिन्न लाभ होता है जैसे (1) नियोजन में निश्चितता व स्पष्टता, (2) कार्यकुशलता मे वृद्धि, (3) समन्वय मे सुविधा, (4) कार्य की प्रगति व निशपादन पर समुचित नियंत्रण, (5) साधनों का कुशलतम उपयोग एवं निर्देशन, (6) उदे्श्यों द्वारा प्रबन्ध सम्भव, (7) झगड़ों एवं भ्रान्तियों में कमी, व (8) संगठन मे विखराव व भटकाव पर रोक।

सैद्वान्तिक रूप में उददे्श्यों में सुनिश्चितता अच्छी प्रतीत होती है परन्तु व्यवहार में उददेश्य निर्धारण में कुछ कठिनाइयाँ आती है जैसे (1) व्यावसायिक व संगठनात्मक उददेश्यों को संख्यात्मक एवं गुणात्मक दोनों रूपों में व्याख्या करना कठिन है। (2) उददेश्यों में बाहुल्य होती है जिससे पारस्परिक टकराव उनकी प्राप्ति में बाधा उत्पन्न करती है। (3) व्यावसायिक उददे्श्याों में आमतौर पर लोचहीनता होती है और वे जड़ता के शिकार में जाते हैं। (4) कभी–कभी अल्पकालीन उददेश्यों को वरीयता और प्रधानता दी जी जाती है और दीर्घकालीन उददे्श्यों की अवहेलना हो जाती हैं। (5) आमतौर पर बड़े

महत्वाकांक्षी उद्देश्य निर्धारित किये जाते हैं और वे स्त्रोंतो की सुलभता से नहीं जोड़े जाते । यह निपुणता बढ़ाने की जगह निराशा का कारण बनते हैं। यदि कर्मचारी अपने सर्वोत्तम यत्नों के साथ भी अपने उद्देश्य प्राप्त कर सकें तो उनका जोश ठन्डा पड़ जाता है।

6.3 उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध

'उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध' की अवधारणा को विकसित करने और उसे लोकप्रिय बनाने का श्रेय पीटर एफ0 ड्रकरको दिया जाता है, जिन्होंने अपनी पुस्तक 'Practice of Management' में सन् 1954 में सर्वप्रथम इस शब्दावली का प्रयोग किया था। इन्हीं को इस प्रबन्ध प्रविधि का जन्मदाता माना जाता है। परन्तु ड्रकर का स्वयं कहना था कि ''मैंने एम0बी0ओ0 का आविष्कार नहीं किया। वास्तव में **'एलफ्रेड स्लोअन'** ने सन् 1950 में इस शब्दावली का सर्वप्रथम प्रयोग किया था। मैंने तो इसे प्रबन्ध के क्षेत्र में एक केन्द्रीय स्थिति प्रदान की है, जबकि पहले इसे पार्श्व प्रभाव के रूप में देखा जाता रहा है।''

उद्देश्यों द्वरा प्रबन्ध एक दर्शन है और यही कारण है कि इतने कम समय में इस तकनीक को व्यापक मान्यता प्राप्त हो सकी है। व्यावसायिक और प्रबन्धकीय जगत में एक ऐसे तकनीक की कमी अनुभव की जा रही थी जो कि व्यक्तिगत सुदृढ़ता और उत्तरदायित्व के लिए पूर्ण अवसर प्रदान करे और साथ ही दूरदर्शितापूर्ण निर्देशन करे, दल भावना का विकास करे एवं सामूहिक लक्ष्यों के साथ व्यक्तिगत लक्ष्यों का सामंजस्य स्थापित करे।

समस्त प्रबन्धकीय क्रियाओं को उद्देश्योन्मुख बनाना ही 'उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध' कहलाता है। प्रबन्धन का यह एक ऐसा तकनीक है जिसमें कार्यों व क्रियाओं के बजाय सुपरिभाषित उद्देश्यों की पूर्ति पर प्रकाश डाला जाता है। यह तकनीक उपक्रमों में प्रत्येक प्रबन्धक का ध्यान और प्रयास समग्र संगठनात्मक उद्देश्यों की ओर निर्देशित करता है। प्रत्येक प्रबन्धक यह जानता है कि उसका संगठन में क्या अस्तित्व है, वह संगठन के किस लिए है, संगठनात्मक लक्ष्यों की पूर्ति में वह कैसे योगदान देगा, और उससे किन परिणामों की अपेक्षा की जाती है। उच्चाधिकारी भी यह भली–भांति जानते है कि वह अधीनस्थों से क्या अपेक्षा रखते है तथा किन मापदण्डों पर उनका मूल्यांकन किया जायेगा। पूर्वनिर्धारित लक्ष्यों से विचलनों क पहचान की जाती है और सुधारात्मक कदम उठाये जाये है।

विभिन्न विद्वानों द्वारा इस तकनीक के सम्बन्ध में निम्न परिभाषाएं दी गई है:

जार्ज एस0 ऑडियर्न के अनुसार, ''उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध एक प्रणाली है जिसके अन्तर्गत संगठन के शीर्ष व अधीनस्थ प्रबन्ध सामूहिक रूप से संगठना के सामान्य उद्देश्यों का निर्धारण करते हैं, प्रत्येक व्यक्ति के उत्तरदायित्व को उससे अपेक्षित परिणामों के संदर्भ में परिभाषित करते है एवं इकाई के संचालन तथा उसके प्रत्येक सदस्य के योगदान का मूल्यांकन करने में इन्हीं मापदण्डों का उपयोग किया जाता है।''

टोसी एवं कैराल के अनुसार, ''उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें प्रबन्धक तथा अधीनस्थ उन क्रियाओं, लक्ष्यों, तिथियों एवं उद्देश्यों के समूह के सम्बन्ध में मिलकर सहमत होते है

जो अधीनस्थों के कार्य–निष्पादन एवं मूल्यांकन हेतु आधार के रूप में प्रयोग में लाये जायेंगे।''

हिक्स एवं गुलेट के भाब्दों में, ''उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध अभिप्रेरण की एक पद्धति है जो कर्मचारी एवं उनके अधिकारियों को कर्मचारियों के भावी निष्पादन के लक्ष्य निर्धारण की स्वीकृति देती है।''

मैसी एवं डगलस के अनुसार, ''उद्देश्यों की व्यवस्थित सोपानिकता 'उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध' कहलाती है।''

इस प्रकार विभिन्न विद्वानों के विचारों से स्पष्ट हो जाता है कि उद्देश्यों के अनुसार प्रबन्ध एक ऐसी प्रबन्ध प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत किसी संस्था के प्रबन्धक एवं अधीनस्थ आपस में मिलकर सामान्य उद्देश्यों के अनुरूप, विभिन्न क्रियाओं के उद्देश्यों का निर्धारण करते हैं और फिर उनकी प्राप्ति हेतु प्रबन्धकीय क्रियाओं का संचालन करते है जिससे संसाधनों का प्रभावकारी उपयोग किया जा सके और व्यक्ति संगठन तथा पर्यावरण में एकीकरण स्थापित किया जा सके।

उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध के उद्देश्य –इसके उद्देश्य निम्नांकित होते है–

1. अधीनस्थों की कार्यक्षमता को उद्देश्योन्मुखी बनाकर उसमें वृद्धि करना,
2. प्रत्येक व्यक्ति के उद्देश्यों को संस्था के आधारभूत उद्देश्यों से समन्वित करना,
3. संदेशवाहन की विधियों को उद्देश्यों के अनुसार व्यवस्थित करना,
4. उद्देश्यों के निर्धारण द्वारा अन्तिम परिणाम प्राप्त करना,
5. कार्य–निष्पादन का माप करना,
6. वेतन एवं पदोन्नति योग्यता के आधार पर प्रदान करना,
7. नियंत्रण को अधिक प्रभावशाली बनाना, एवं
8. उद्देश्यों एवं उपलब्धियों द्वारा सभी को अभिप्रेरित करना।

6.4 नीतियां

उद्देश्य संस्था के लक्ष्य होते हैं जबकि नीतियां लक्ष्य प्राप्ति के सशक्त माध्यम। उद्देश्य इस बात का संकेत करते हैं कि प्रशासकों व प्रबन्धकों को क्या करना है और नीति यह बतलाती है कि किन सिद्धान्तों के अनुसार और किस प्रकार अमुक कार्य करना है। **जार्ज आर. टेरी** के मतानुसार, ''नीति एक मौखिक अथवा गर्भित समग्र दिशा–निर्देश है जो प्रबन्धकीय क्रियाओं को दिशा–निर्देश प्रदान करता है और क्रिया क्षेत्र की सीमायें भी स्थापित करता है।'' **कुण्ट्ज एवं ओ डोनेल** के शब्दों में, ''नीतियां एक क्षेत्र सीमा निर्धारित करती हैं जिसके अन्तर्गत निर्णय लिया जाता है तथा यह आश्रस्त करती हैं

कि निर्णय संगत एवं उददेश्यों की पूर्ति में सहायक होंगे।,'' **भाोरविन डगलस** के असार,'' नीति एक सदैव चालू रहने वाला निर्णय निर्देश हैं जो उच्च प्रबन्धकों द्वारा मध्यम एवं प्रथम स्तर के प्रबन्धकों की सहायता के लिए प्रारम्भ में ही निश्चित कर दिया जाता हैं।''

इस प्रकार नीतियां व्यवसाय में सामान्य सहमतियां ही होती हैं जो व्यवसाय में उसके कार्यों का मार्गदर्शन किया करती हैं । नीतियों का निर्माण उच्च प्रबन्धकीय स्तर पर किया जाता है। इनकी सहायता से प्रबन्धक नियंत्रण अपने हाथ में सुरक्षित रखते हुए अधिकारों को अपने अधीनस्थों को अन्तरण कर सकता है। व्यावसायिक उपक्रम की नीतियों के कुछ प्रमुख उदाहरण निम्न हैं– (1) वस्तुओं का निर्माण भारतीय मानक संस्थान के मानकों के अनुसार किया जाना है अथवा निजी मानकों के अनुसार (2) प्रयुक्त कच्चा माल देशी हो अथवा विदेशी; (3) उच्च पदाधिकारियों की नियुक्ति बाहर से की जाए अथवा संस्था के आन्तरिक कर्मचारियों की पदोन्नति से; (4) माल का विक्रय केवल नगद हो अथवा उधार भी; (5) माल का विक्रय अंकित मूल्य पर ही किया जाय अथवा छूट पर; (6) उत्पादन का आकार छोटा हो या बड़ा।

विशेषतायें–उपरोक्त वर्णन से नीतियों की निम्न विशेषतायें स्पष्ट होती है:

1. नीतियां सदैव जारी रहने वाले निर्णय–निदेश हैं जो आवर्तक होती हैं:
2. नीतियां अधीनस्थों के निर्णय लेने की सीमा, क्षेत्र, अधिकार व स्वतंत्रता के स्पष्ट करती है।
3. नीतियां नियोजन के तकनीकों जैसे बजटों, कार्यक्रमों, नियमों व कार्य–विधियों को रूपरेखा प्रदान करते हैं।
4. नीतियां वे साधन हैं जो हमें उददेश्य तक पहुंचने का रास्ता बताती हैं। अतः नीतियां साध्य नहीं साधन हैं।
5. नीतियों की अभिव्यक्ति लिखित, मौखिक या प्रबन्धकों के हाव–भाव से गर्भित ढंग से व्यक्त हो सकती हैं।

नीतियों का वर्गीकरण–नीतियों के प्रमुख प्रकार इस प्रकार हैं–

(1) **प्रमुख एवं सहायक नीतियां**-प्रमुख नीतियां वे होती हैं जो उच्चस्तरीय प्रबन्धकों द्वारा निर्धारित की जाती हैं और वे सम्पूर्ण उपक्रम के मार्गदर्शन के लिए मूलकथन होती है। इसके उदाहरण दीर्घकालीन उत्पाद चयन, विक्रय पूर्वानुमान, उपक्रम का आकार, मशीन चयन, प्लान्ट निश्चयन आदि है। इसके विपरीत, क्षेत्रीय, विभागीय व मध्यस्तरीय प्रबन्धकों द्वारा बनायी गयी नीतियां सहायक होती है। इनका सरोकार विभाग विशेष से होता है। क्रय, विक्रय, उत्पाद या वित्त की नीतियां उसके उदाहरण हैं।

(2) लिखित एवं मौखिक नीतियां - लिखित नीतियां प्रामाणिक, अधिकृत, स्थायी व दीर्घ प्रकृति की

होती हैं। उनमें लोच का अभाव होता हैं। मौखिक अथवा अलिखित नीतियां परम्पराओं व सुविधाओं से बनी होती है जिनमें आवश्यकतानुसार सरलता से परिवर्तन किया जा सकता हैं। फिर भी अलिखित नीतियां उपक्रम में भ्रम और विवाद को बढ़ावा दे सकती है और कर्मचारियों में स्वच्छन्दता का भाव लाती हैं।

(3) आन्तरिक एवं बाह्य नीतियां - आन्तरिक नीतियों का निर्माण संस्था के प्रबन्धक वर्ग द्वारा किया जाता है। ये नीतियां उच्च, मध्य और निम्न–स्तरीय हो सकती है। उच्च स्तरीय नीतियां उपक्रम के मध्य और निम्न–स्तरीय नीतियों का आधार होती हैं। बाह्य नीतियों का निर्माण उपक्रम के बाहर के किसी अधिकारी अथवा संस्था द्वारा किया जाता हैं। जैसे सरकार, व्यापारिक संघ, बैक, चैम्बर ऑफ कामर्स के द्वारा बनायी गयी बाह्य नीतियां व्यावसायिक उपक्रमों पर अनिवार्यतः लागू हुआ करती हैं।

(4) **स्पष्ट और गर्भित नीतियां -** स्पष्ट नीतियां औपचारिक ढंग से समस्त अधिकारियों एवं कर्मचारियों को सूचित होती हैं जिससे भ्रान्तियों, झगड़ों, भिन्नताओं पर रोक लगा करके पहलपन व विवेक को प्रश्रय मिलता है। इसके विपरीत, गर्भित नीतियां प्रायः मौखिक और स्पष्ट होती है जो संगठन की परम्पराओं, रूढ़ियों एवं प्रशासनिक व्यवहार से उत्पन्न होती हैं। गर्भित नीतियों से कर्मचारियों में सन्देह, चिन्ता, विसंगति आदि बढ़ाते हैं जिससे कि कर्मचारियों का मनोबल गिरता हैं।

उददे्श्य और नीतियों में अंतर

आधार	उददेश्य	नीतियां
1. आशय	उददे्श्य मंजिल अर्थात् 'क्या करना है' को निर्धारित करते हैं।	नीतियां मंजिल तक पहंचने का मार्ग अर्थात 'कैसे करना हैं' को निर्धारित करते हैं।
2. आवयकता	उददे्श्य निर्धारण प्रत्येक संगठन की अनिवार्यता है।	नीतियां जरूरी हो सकती है पर अपरिहार्य नही।
3. क्षेत्र	उददे्श्य संगठन के दर्शन औचित्य और अभीष्ट परिणामों की व्याख्या करते हैं।	नीतियां आवर्ती प्रश्नों का उत्तर देती हैं और उददे्श्यों को विषय–विषय वस्तु प्रदान करती हैं।
4. प्रबन्धकीय स्तर	उददे्श्य समान्यतया सर्वोच्च प्रबन्धकों के द्वारा निर्धारित	नीतियों को प्रबन्ध का उच्च, मध्य और निम्न स्तर आवश्यकतानुसार निर्धारित

	किए जाते हैं।	करता हैं।
5. क्रम	उददे्श्यों का निर्माण पहले किया जाता है और वे मूल विचारों का मार्गदर्शन करते हैं।	नीतियां उददे्श्यों के अनुरूप बाद में बनायी जाती हैं और व्यावहारिक कार्यों का पथ पदर्शन करती हैं।

प्रभावी नीतियों के निर्माण के सिद्धान्त

नीतियां प्रबन्ध द्वारा निर्मित आधारभूत कानून होते हैं जो उपक्रम की गतिविधियों को पथ प्रदर्शित करती हैं। प्रभावी नीति निर्माण हेतु निम्न सिद्वान्तों का पालन किया जाना चाहिए:

1. नीतियां उददे्श्य–परक होनी चाहिए न कि व्यक्ति–परक।
2. नीतियां निश्चित, स्पष्ट, और सरल होनी चाहिए।
3. नीति व्यावहारिक होनी चाहिए।
4. नीति लोचशील होने के साथ–साथ काफी अंश तक स्थिर भी होनी चाहिए।
5. नीति तथ्यों एवं ठोस निर्णय पर आधारित होने चाहिए।
6. नीतियों का निर्माण आर्थिक सिद्धान्तों, सरकारी कानूनों और जनहित के अनुरूप होना चाहिए। नीति में न्यायसंगतता, उचितता और समतामूलकता का गुण होना चाहिए।
7. नीति इतने विस्तृत होने चाहिए कि उनमें समस्त आवश्यक क्रियाओं का समावेश हो सकें।
8. नीतियो को नियंत्रित व अद्यतन रखना चाहिए।
9. नीतियों का लिखित रूप में नीति पुस्तिका के रूप में प्रकाशित करा देने से सहज उपलब्धता सम्भव होती है।

नीतियों का महत्व–नीतियां संगठनात्मक उददेश्यों की प्राप्ति कि लिए निम्न कारणों से महत्वपूर्ण मानी जाती हैं– (1) नीतियों के निर्माण से प्रत्येक कर्मचारी नियोजित खाका व मार्ग के आधार पर कार्य करता है इससे कार्य में विचलन की सम्भावनाएं लगभग समाप्त हो जाती है। (2) इनमें निर्णयन में एकरूपता बनी रहती है। (3) क्रियाओं में क्रमबद्वता बनी रहती है। (4) मनमानी लगभग खत्म हो जाती हैं। (5) नीतियां व्याख्या की अनुमति देती हैं। नीति में मुख्य पक्ष तो दिए जाते हैं पर इसको अमल में लाने की प्रक्रिया का फैसला सम्बन्धित कर्मचारी को करना होता है। (6) प्रबन्धकीय समस्याओं का समाधान सरलतापूर्वक हो जाता है। (7) संस्था की ख्याति में वृद्धि हो जाती है।

नीतियों की सीमाएं—व्यवहार में नीतियों का निर्माण एवं प्रभावी क्रियान्वयन एक दुरूह कार्य है। नीतियां हर समस्या का तैयार चित्र नही कर पाती हैं। अतः इनकी निम्नलिखित समस्याएं हैं—

(1) **सार्वभौमिक** हल **नहीं** -नीतियां समस्त समस्याओं का सर्वव्यापक हल प्रस्तुत नही करती है। नीतियां जिस खास हालात में बनाई जाती है, उन हालातों के होते हुए अमल करने योग्य होती हैं। शीघ्रता से बदल रहे आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक हालातों में नई नीतियों के अमलीकरण की आवश्कता होती हैं।

(2) **तुरन्त समाधान नहीं**-नीतियां स्वयं किसी समस्या का फौरी समाधान नही करती हैं। वे केवल निर्णय करने की दिशा देती हैं। समाधान तो नीतियों के परिपेक्ष्य में प्रबन्धक ही खोजते हैं। किसी भी दशा में नीतियां मानवीय सूझ की जगह नही ले सकती हैं।

(3) **मानवीय पहल को समाप्त करती है** -बहुधा नीतियां प्रबन्धकों की पहलकदमी को समाप्त कर देती हैं। वह केवल नीतियों के अनुसार जब काम करना सीख **जाते** हैं तो उनकी अपनी पहलपन की भावना समाप्त होने लगती है।

(4) **मानवीय निर्णयों का विकल्प नहीं** -नीतियां सारी समस्याओं का आदर्श हल नही पेश करती हैं। प्रबन्धकों को वातावरण की परख के अनुसार स्वंय निर्णय लेने ही पड़ते हैं। कोई भी नीति मानव के निर्णयों का स्थानापन्न नही बन सकता है।

(5) **क्रियान्वयन में कठिनाई** -नीतियों के क्रियान्वयन में निम्न कारणों से बहुत समस्याएं आती है : (अ) नीतियों में भाषागत कारणों व शब्दों की अनेकार्थकता के कारण स्पष्टता का अभाव होता है। (ब) संगठन की घोषित और अनुसरणगत नीतियों में बहुधा अन्तर होता है। (स) नीतियों का सही प्रकार से संदेशवाहन और व्याख्या नहीं किया जाता है।

कार्यविधियां

कार्यविधि में किसी कार्य को करने के लिए एक विशिष्ट कार्य प्रणाली का चयन किया जाता है और भविष्य में उसे उपयोग में लाया जाता है। कार्यविधियां नीतियों द्वारा निर्धारित मार्ग को पार करने की एक विधि होती है।प्रत्येक उपक्रम में नीतियों को क्रियान्वयन करने के लिए निश्चित कार्य विधियाँ अपनायी जाती हैं। यह किसी एक कार्य के सम्पूर्ण चरणों से सम्बन्धित होती हैं और उस कार्य को विविध छोटी—छोटी उप—क्रियाओं में विभाजित करके उनका क्रम और दायित्व तय कर देती हैं। इस प्रकार नीतियां निर्णयों की मार्गदर्शक होती है तो कार्यविधि वास्तविक कार्यवाही की मार्गदर्शक होती हैं। कार्यविधि नीतियों से अधिक मुखर, स्पष्ट और निश्चित होती हैं।

जी.आर. टेरी के शब्दों में, ''कार्यविधि सम्बन्धित क्रियाओं की एक ऐसी श्रंखला है जो उनके निष्पादन के कालक्रम के निर्धारण के साथ—साथ काम करने की विधि है।'' **बिली ई. गोइट्ज** लिखते हैं, ''नीतियां सापेक्ष रूप से सामान्य एवं काफी हद तक स्थायी प्रबन्धकीय योजनाएं होती हैं। इसके

विपरीत, कार्यविधियां कम सामान्य होती हैं तथा तुलनात्मक दृष्टि से अधिक स्थायी होती हैं।'' इस प्रकार स्पष्ट है कि कार्यविधियां किसी कार्य को करने का तरीका एवं उनका क्रम निर्धारित करता है। उदाहरणार्थ विश्वविद्यालय और महाविद्यालय के कर्मचारियों को वर्ष में 14 दिन का आकस्मिक अवकाश दिये जाने का प्रावधान एक नीति है। फिर भी, अवकाश का प्रार्थना–पत्र किसके द्वारा किसे, कब, क्यों दिया जायेगा, अवकाश की कार्यविधि बतलाती है।

एक अच्छी कार्यविधि में अर्गलिखित विशेषताएं होनी चाहिएः (1) यह तथ्यों पर आधारित होना चाहिए, मात्र अनुमानों पर नहीं। (2) यह स्थिर होना चाहिए और खास दशाओं में लोचशील भी। (3) यह कम्पनी के उददेश्यों एवं नीतियों के अनुरूप होना चाहिए। (4) इसमें कार्य सम्पादन की श्रेष्ठ विधि बतानी चाहिए। (5) यह तक्रयुक्त होनी चाहिए। (6) यह उत्तरदायित्व एवं जवाबदेही के निर्धारण को सुलभ बनाने वाली होनी चाहिए।

महत्व एवं परिसीमाएं—कार्यविधि के प्रमुख व्यावहारिक महत्व इस प्रकार हैं— (1) कार्य सम्पादन में सुगमता, (2) मानवीकरण को प्रोत्साहन, (3)समन्वय में सुविधा , (4) निर्णय में सरलता, (5) नियन्त्रण का आधार (6) स्थिरता व (7) कार्यकुशलता में वृद्धि। फिर भी कार्यविधियों से क्रियाओं में जड़ता आती है और उत्साह में कमी आती है। कार्यविधियों को प्रभावशाली बनाये रखने के लिए उन्हें समयानुकूल बनाना आवश्यक हो जाता है जिसके लिए आवश्यक कांट–छांट जरूरी हो जाता है।

नीति व कार्यविधि **में अतंर**—नीति व कार्यविधि में प्रमुख अंतर निम्नलिखित हैंः

1. नीति सोचने व निर्णयन का पथ प्रदर्शक होती है, जबकि कार्यविधि कार्य सम्पादन का पथ प्रदर्शन करती है।
2. नीति का निर्माण उददेश्य के अनुसार होता है जबकि कार्यविधि का निर्माण नीति के परिपेक्ष्य में होता हैं।
3. नीतियां अधिक व्यापक व विस्तृत क्षेत्र से सम्बन्धित होती हैं जबकि कार्यविधियों का क्षेत्र सीमित होता हैं।
4. नीतियां अक्सर सर्वोच्च प्रबन्धक द्वारा बनायी जाती है जबकि कार्यविधियां प्रबन्ध के निचले स्तर द्वारा भी बनायी जाती हैं।
5. सामान्यतः नीतियां स्थायी प्रकृति की होती है तथा उनमें विशिष्ट दशाओं में ही परिवर्तन किया जाता है। इसके विपरीत, कार्यविधियां अधिक लोचपूर्ण होती हैं।

6.5 नियम

नियम से आशय उन विन्दुओं से है जो स्पष्ट करते हैं कि विशिष्ट परिस्थितियों में क्या करना है और क्या नही करना है। इस प्रकार "Dos and Don'ts"की सूची ही नियम कहलाते हैं। नियम कोई बात अधीनस्थों की स्वेच्छा और स्वविवेक पर नही छोड़ते हैं। नियम लोचरहित और दृढ़ होते हैं और इसी

दृढ़ता पर संस्था की दृढ़ता, संस्था की कार्यकुशलता निर्भर करती है। **कुण्ट्ज एवं ओ' डोनेल** के शब्दों में, ''नियम से तात्पर्य उन योजनाओं से है। जो आवश्यक क्रियाओं का मार्ग बताते हैं और इनका चयन, अन्य योजनाओं की तरह विकल्पों में से होता है।'' नियत सख्त और निश्चित होते हैं और प्रबन्धक न तो नियमों का उल्लंघन कर सकते हैं और न ही निश्चित मार्ग से भटक सकते हैं।

नियम और नीतियों में अंतर –नीतियों का कार्य निर्णयन के लिए विचारों का मार्गदर्शन करना होता है जबकि नियम कार्य की निश्चित रीति बताते हैं। नियम यह निर्देश देते हैं कि क्या करना है और क्या नही करना है। नीतियों की तुलना में नियम ज्यादा कठोर होते हैं तथा व्यक्तिगत विवेक की स्वतंत्रता नही देते।

6.6 अनुसूची अथवा कार्यक्रम

कार्यक्रम उन क्रियाओं से सम्बन्ध रखता है जिनका कुछ विशेष ध्येय और समय सारणी होती है। कार्यक्रम विशेष उददेश्य की प्राप्ति के लिए संक्षिप्त योजना होती है जिसमें अनुसूचीकरण की प्रमुख भूमिका होती है। कार्यक्रम अल्पकालीन, दीर्घकालीन, सीमित, आधारभूत, विशिष्ट अथवा साधारण हो सकते हैं। कार्यक्रम को सामान्यतः आवश्यक पूंजी एवं क्रियान्वयन बजट का समर्थन प्राप्त होता है। विस्तार कार्यक्रम, प्रशिक्षण कार्यक्रम, प्रबन्धकीय विकास कार्यक्रम आदि इसके उदाहरण हैं।

लक्षण– कार्यक्रम के प्रमुख लक्षण इस प्रकार है– (1) यह एक निश्चित उददेश्य के लिए बनाया जाता है और तब तक चलता रहता है जब तक कि निश्चित उददेश्य प्राप्त नही होता हैं। (2) एक कार्यक्रम के पीछे उनके छोटी–छोटी योजनाएं होती हैं। (3) कार्यक्रम की पूर्ति के लिए कठोर समय सूची बनायी जाती हैं। (4) विभिन्न कार्यक्रमों में समन्वय होना आवश्यक है।

लाभ एवं सीमाएं– सुव्यवस्थित कार्यक्रम बनाने के लाभ इस प्रकार हैं– (1) सभी साधनों का कुशल उपयोग, (2) कार्य की सुनिश्चितता, (3) समय का पूर्ण सदुपयोग, (4) कर्मचारी उत्साह में वृद्धि। इनकी सीमाएं इस प्रकार हैं– (1) यदि कार्यक्रम ध्यान के साथ न बनाया जाये तो उसके असफल होने का डर रहता है। (2) पूरा तालमेल न होने का डर हमेशा रहता है। (3) बड़े कार्यक्रमों की पूर्ति के लिए छोटे–छोटे कार्यक्रम होने चाहिए। इनकी पूर्ति में रह गई कोई भी काम को खतरे में डाल सकती है।

6.7 बजट

किसी भी व्यावसायिक उपक्रम की गतिविधियों के पूर्वानुमान पर आधारित आंकिक प्रस्तुतीकरण ही बजट कहलाता है। बजट एक योजना है जिसमें अनुमानित परिणामों का विवरण अंकों में रहता है। बजट के अनेक रूप हो सकते हैं; जैसे– रोकड़ बजट, आय–व्यय बजट, विक्रय बजट, मास्टर बजट आदि। बजट के माध्यम से उपक्रम की क्रियाओं पर नियंत्रण रखा जा सकता है। बजट भूतकाल के आंकड़ों के आधार पर भविष्य के लिए बनाया जाता है, जिसमें लचीलापन होना चाहिए। बजट की तैयारी एवं क्रियान्वयन में विभिन्न स्तरों पर काम कर रहे कर्मचारियों का सहयोग मिलना जरूरी होता है।

6.8 परियोजनाएं

परियोजनाएं किसी बड़े कार्यक्रम के हिस्से होते हैं। इन्हें सुस्पष्ट रूप से समूहीकृत क्रियाओं के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। परियोजना के लिए निश्चित उददे्श्य, समय व विशिष्ट योग्यता के कर्मचारी निर्धारित होते हैं। किसी कार्यक्रम का एक स्वतंत्र विभाग या अंग एक परियोजना कहलाता है। उदाहरण के लिए, किसी व्यवसाय में विक्रय सम्वर्द्धन हेतु एक व्यापक कार्यक्रम बनाकर उसके प्रचार कार्य की एक पृथक् योजना बनाई जाए तो इसे प्रचार कार्य परियोजना कहेंगे। परियोजना अधिकारी अपने क्षेत्र का एक अनुभवी एवं विशेषज्ञ होता है।

6.9 रणनीति

रणनीति (पर्यायवाची–मोर्चाबन्दी, व्यूह–रचना, कार्यनीति, दांव–पेंच) की अवधारणा वास्तव में सैन्य विज्ञान से लिया गया है और प्रबन्ध विज्ञान में इस शब्द का प्रयोग अभी हाल ही की बात है। रणनीति का शाब्दिक अर्थ प्रतिद्धन्दियों की योजनाओं के काट करने व प्रभावहीन बनाने के लिए निर्मित प्रतियोजनाओं से है। जब दो या दो से अधिक व्यक्ति या व्यावसायिक उपक्रम एक ही लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहें हों तो उनमें प्रतिद्वन्द्विता का होना लाजिमी है। अतः प्रतिद्वन्द्वियों की योजनाओं का सामना करने के लिये रणनीति बनानी पड़ती है। यह रणनीति आन्तरिक तथा बाह्य दोनों प्रकार की हो सकती है। संस्था के भीतर प्रबन्धक को अपने अधीनस्थों से तथा बाहर प्रतियोगियों से प्रतिद्वन्द्विता करनी पडती है। रणनीति का निर्माण विभिन्न प्रकार के कार्यक्रमों के लिए किया जाता है, जैसे– उत्पाद रणनीति, बाजार रणनीति, वित्त रणनीति, सेविवर्गीय रणनीति आदि।

परिभाशा एवं विशेषता– कुण्ट्ज एवं ओ डोनेल के अनुसार , ''रणनीति साधनों का चुनाव है जिसमें मानवीय तथा भौतिक साधनों का कठिनाइयों के बीच में, चयन किये गये लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए अवसरों कों अधिकतम बनाने के लिए प्रयोग किया जाता है।'' इसी प्रकार **मैकफारलैंड** शब्दों में, ''रणनीति प्रबन्धकों द्वारा कम्पनी के निजी उदद्श्यों की प्राप्ति के लिए मुकाबले के वातावरण में दूसरों के अमल में आने वाली नीति पर सफलता प्राप्त करने की योजना है।'' इन दोनों परिभाषाओं से रणनीति की निम्न विशेषतएँ स्पष्ट होती है–

1. रणनीति एक प्रतियोजना होती है जो प्रतिद्वन्द्वियों की योजनाओं के जवाब में उनके काट करने के लिए बनायी जाती है।
2. रणनीति का मूल उददे्श्य उपक्रम के मानवीय व भौतिक साधनों का अनुकूलम उपोग करना होता है।
3. रणनीति एक स्थिर तत्व नही हैं, कालातीत होने पर उनमें परिस्थिति के अनुसार संशोधन, नियंत्रण व निरीक्षण आवश्यक होता है जिसके लिए स्व–मूल्यांकन करना पड़ता है।
4. रणनीति आन्तरिक व बाह्य दोनों तरह की हो सकती है।

5. रणनीति केवल उच्च स्तर पर ही बनायी जाती है जिसे निचले स्तर के प्रबन्धक लागू करते हैं।

रणनीतियों के प्रकार

रणनीति आमतौर पर निम्न प्रकार प्रयुक्त होती है–

1. **समय पर चोट करो** -इस रणनीति का मतलब है जब परिस्थिति अनुकूल हो, उसका लाभ उठाने के लिए रणनीति बनाकर तुरन्त अमल करना। लोहा तब गरम हो तभी उस पर चोट करने से इच्छित फल प्राप्त होता है।

2.**कनात में ऊंट का सिर** -इस रणनीति में उच्च मानक तय किये जाते हैं जिसे कुछ ही लोग मंजूर करते हैं, अन्दरूनी तौर पर व्यापक स्वीकृति हेतु एक अनुकूल परिवेश निर्मित किया जाता है धीरे–धीरे बहुसंख्यक लोग योजना को मंजूर करने लगते हैं जिससे कि योजना अनुकूल ढंग से लागू की जा सकती है।

3.**एकता में बल** -इच्छित परिणाम प्राप्त करने के लिए एक विभाग का अध्यक्ष दूसरों को इकठ्ठे होने को कह सकता है, ताकि काम में मिली जुली शक्ति लगाई जा सके। उदाहरणार्थ, एक कार्यकारी प्रबन्धक वेतन वृद्धि चाहता है तो दूसरे प्रबन्धक से मिलकर वह अपनी मांग मगवाने के लिए साझा मंच बना सकता है।

4.**फूट डालों और राज करो** -राजनीति की पुरानी रणनीति 'फूट डालों और राज करो' ओद्योगिक क्षेत्र में भी सफलता हेतु प्रयोग की जा सकती है। चूंकि हर आदमी पद–पैसा चाहता है तो कुछेक को छोटे–मोटे लाभ देकर दूसरों के विरूद्ध प्रयोग किया जा सकता है। यह रणनीति लम्बे समय तक सफलता नही प्रदान कर पाती है।

5.**समय सबसे बड़ी दवा है** -कई बार समस्याएं लम्बे समय तक लटका दी जाती हैं ताकि इनका बल समय के साथ अपने आप ही कम कम हो जाए। प्रबन्धक कभी–कभी रणनीति के तहत जान–बूझकर समस्याओं को बिना सुलझाए छोड़ देता है। लोगों की स्मरणशक्ति कमजोर होती है और समय के साथ अपने आप दीर्घकाल में हल निकलता है। यह विस्फोटक स्थिति को ठन्डा करने में सहायक होती है।

6.**एक कदम आगे** -एक रणनीति यह भी हो सकती है प्रतियोगियों से एक कदम आगे रहा जाए। वे काम कर लेना चाहिए जिसके बारें में विराधियों ने सोचा भी न हो। इस रणनीति से लाभ में वृद्धि और प्रतियोगी पर विजय मिलता है।

रणनीति के निर्माण के चरण

एक प्रभावी एवं संभाव्य रूप से सफल रणनीति के निर्माण एवं विकास करने के निम्न चरण हैं:–

1.परिस्थितियों का सर्वेक्षण–किसी भी रणनीति के विकास करने के लिए प्रबन्धकों को सर्वप्रथम आन्तरिक एवं बांह्य परिस्थितियों जैसे सरकारी नीति, बाजार रूख, प्रतियोगिता, श्रम पूर्ति, लागत आदि

का सर्वेक्षण कर लेना चाहिए। प्रबन्धकों को इस बात का आकलन करना चाहिए कि क्रेताओं की रूचि, पसन्द और प्रवृति को किस सीमा तक अनुकूल बनाया जा सकता है।

2.**स्व–मूल्यांकन**–प्रभावी रणनीति विकसित करने के लिए प्रबन्धकों को अपने उपक्रम की शक्ति, कमजोरियों, अवसर, सीमाओं, सामर्थ्य आदि का ठीक–ठीक मूल्यांकन कर लेना चाहिए। यह एक आत्म–परीक्षा होती है जिससे कि अपनी पहचान, शक्ति, कमजोरी का पता लगा करके प्रभावी रणनीति बनायी जा सके और उचित ढंग से तालमेल बिठाया जा सके।

3.**रणनीति को लिखित रूप देना**–स्व–मूल्यांकन करने के बाद प्रबन्धकों को चाहिए कि रणनीति को लिखित रूप में लिपिबद्ध करें। लिखित रणनीतियां सदेशवाहन की बाधाओं को दूर करके स्पष्ट व्याख्या करती हैं। प्रशासनिक कार्यों मे गति और सुगमता आती हैं।

4.**रणनीति को सिखाना**–प्रबन्धकों को रणनीति के सफल क्रियान्वयन हेतु उसे कर्मचारियों में संदेशवाहित करके उचित ढंग से व्याख्या करके समझना और सिखलाना चाहिए। अधीनस्थ जब तक समझेंगे नही उसे क्रियान्वयन नही कर पायेंगे। लिखित आदेश दे देना ही पर्याप्त नही होता है, उसे समझा देने से अविश्वास नही पैदा होता हैं।

5.**नियंत्रण एवं संशोधन** –रणनीति एक गतिशील तत्व है। उसमें नवीन लक्ष्यों, परिवेश, प्रतियोगी गतिविधि के अनुसार पुनर्विचार करके नियंत्रण व संशोधन करना पड़ता है। प्रमुख रणनीति के लागू करने हेतु रणनीति का निर्माण एवं संशोधन किया जा सकता है। कालातीत हो नयी नीतियों में नवीनता व स्पष्ट व्याख्या जरूरी होता है।

स्थायी तथा एकल उपयोग में अन्तर

अन्तर का आधार	स्थायी उपयोग योजनाएं	एकल उपयोग योजनाएं
1. **अवधि**	ये लम्बी अवधि के बनायी जाती हैं।	इनकी अवधि कम होती है और अवधि समाप्त होने पर पुनः निर्मित की जाती हैं।
2. **उददेश्य**	ये संस्था के व्यापक उददेश्य हेतु बनायी जाती हैं और निरन्तर क्रियाशील रहती हैं।	ये विशेष उददेश्य और परिस्थिति के समाधान हेतु तदर्थ रूप से निर्मित होती हैं।
3. **आधार**	ये संस्था के मूल उददेश्य पर आधारित होती हैं।	ये स्थायी उपयोग योजनाओं पर आधारित होते हैं।
4. **प्रकार**	इनके प्रकार उददेश्य, नीतियां, कार्य विधियां और नियम होते हैं।	इनके प्रकार मोर्चाबन्दी, कार्यक्रम, बजट और परियोजना होते हैं।

5. **प्रबन्ध का स्तर**	इन्हें सर्वोच्च प्रबन्ध द्वारा बनाया जाता हैं।	इन्हें मध्य–स्तरीय प्रबन्धकों द्वारा बनाया जाता हैं।

6.10 सारांश

प्रत्येक संस्था अपने प्रकृति के अनुसार योजनाएं अवश्य ही बनाती है। व्यावसायिक प्रबन्ध के क्षेत्र में योजनाएं दो प्रकार की होती हैः 1. स्थायी या निरन्तर उपयोग की योजनाएं, व2. एकल उपयोग या तदर्थ योजनाएं। जो योजनाएं किसी व्यावसायिक उपक्रम में स्थायी रूप से बनायी जाती है अर्थात बारम्बार उपयोग के लिए बनायी जाती है उन्हें स्थायी योजनाएं कहते है। एकल उपयोग योजनाएं अस्थायी व विशेष उददे्श्य की प्राप्ति के लिए होती है और इनका उपयोग एक बार ही किया जाता है। और इस प्रकार नियोजन के समग्र रूप में आठ तत्व उददे्श्य, नीतियां, कार्यविधि, नियम, अनुसूची, बजट, परियोजनाएं, रणनीति को समन्वित किया जाता है।

संगठनों या उपक्रमों का निर्माण कुछ उददे्श्य की प्राप्ति के लिए किया जाता है। उददे्श्य वे अन्तिम व अभीष्ट परिणाम या साध्य होते हैं, जहां तक पहुचने के लिए संगठनात्मक प्रयत्नों को समन्वित किया जाता है। **न्यूमैन और समर** के शब्दों में, '' प्रबन्धकीय दृष्टिकोण से उददे्श्य उन परिणामों को कहा जाता है, जिन्हें हम प्राप्त करना चाहते हैं।''समस्त प्रबन्धकीय क्रियाओं को उद्देश्योन्मुख बनाना ही 'उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध' कहलाता है। प्रबन्धन का यह एक ऐसा तकनीक है जिसमें कार्यों व क्रियाओं के बजाय सुपरिभाषित उद्देश्यों की पूर्ति पर प्रकाश डाला जाता है।

उददे्श्य संस्था के लक्ष्य होते हैं जबकि नीतियां लक्ष्य प्राप्ति के सशक्त माध्यम। **जार्ज आर. टेरी** के मतानुसार, ''नीति एक मौखिक अथवा गर्भित समग्र दिशा–निर्देश है जो प्रबन्धकीय क्रियाओं को दिशा–निर्देश प्रदान करता है और क्रिया क्षेत्र की सीमायें भी स्थापित करता है।''नीतियों का निर्माण उच्च प्रबन्धकीय स्तर पर सामान्य सहमतियों से किया जाता है। कार्यविधियां नीतियों द्वारा निर्धारित मार्ग को पार करने की एक विधि होती है। प्रत्येक उपक्रम में नीतियों को क्रियान्वित करने के लिए कार्यविधियां अपनाई जाती है। **जी.आर. टेरी** के शब्दों में, ''कार्यविधि सम्बन्धित क्रियाओं की एक ऐसी श्रंखला है जो उनके निष्पादन के कालक्रम के निर्धारण के साथ–साथ काम करने की विधि है।''

अनुसूची अथवा कार्यक्रम–उन क्रियाओं से सम्बन्ध रखता है जिनका कुछ विशेष ध्येय और समय सारणी होती है। कार्यक्रम विशेष उददे्श्य की प्राप्ति के लिए संक्षिप्त योजना होती है जिसमें अनुसूचीकरण की प्रमुख भूमिका होती है। बजट किसी भी व्यावसायिक उपक्रम की गतिविधियों के पूर्वानुमान पर आधारित आंकिक प्रस्तुतीकरण है।इसके अनेक रूप हो सकते हैं; जैसे– रोकड़ बजट, आय–व्यय बजट, विक्रय बजट, मास्टर बजट आदि। परियोजनाएं किसी बड़े कार्यक्रम के हिस्से होते हैं। इन्हें सुस्पष्ट रूप से समूहीकृत क्रियाओं के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। परियोजना के लिए निश्चित उददे्श्य, समय व विशिष्ट योग्यता के कर्मचारी निर्धारित होते हैं। रणनीति का आशय

प्रतिद्वन्दियों की योजनाओं के काट करने व प्रभावहीन बनाने के लिए निर्मित प्रतियोजनाओं से है।

कुण्ट्ज एवं ओ डोनेल के अनुसार , ''रणनीति साधनों का चुनाव है जिसमें मानवीय तथा भौतिक साधनों का कठिनाइयों के बीच में, चयन किये गये लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए अवसरों कों अधिकतम बनाने के लिए प्रयोग किया जाता है।''

6.11 महत्वपूर्ण शब्दावली

- **उद्देश्य** – उददेश्य वे अन्तिम व अभीष्ट परिणाम या साध्य होते हैं, जहां तक पहुचने के लिए संगठनात्मक प्रयत्नों को समन्वित किया जाता है।
- **उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध** –समस्त प्रबन्धकीय क्रियाओं को उद्देश्योन्मुख बनाना ही 'उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध' कहलाता है।
- **नीतियां** –नीति एक सदैव चालू रहने वाला निर्णय निर्देश हैं जो उच्च प्रबन्धकों द्वारा मध्यम एवं प्रथम स्तर के प्रबन्धकों की सहायता के लिए प्रारम्भ में ही निश्चित कर दिया जाता हैं।
- **नियम**– नियम से आशय उन विन्दुओं से है जो स्पष्ट करते हैं कि विशिष्ट **परिस्थिति**यों में क्या करना है और क्या नही करना है।
- **रणनीति** – रणनीति प्रबन्धकों द्वारा कम्पनी के निजी उददश्यों की प्राप्ति के लिए मुकाबले के वातावरण में दूसरों के अमल में आने वाली नीति पर सफलता प्राप्त करने की योजना है।

6.12 आवश्यक प्रश्न

1. ''प्रबन्धकीय नियोजन में उद्देश्यों, नीतियों, कार्यविधियों, नियमों, कार्यक्रमों, बजटों, परियोजनाओं और रणनीतियों का विकास निहित है।'' इस कथन का विस्तार कीजिए।
2. स्थायी योजनायें क्या होती है? इनमें किन–किन उप–योजनाओं को शामिल किया जाता है? उनका वर्णन कीजिए।
3. उद्देश्य, प्रयोजन, ध्येय और लक्ष्य में अन्तर कीजिए। संगठनात्मक उद्देश्यों के मुख्य लक्षण क्या है?
4. उद्देश्य के आशय एवं लक्षण को बताइए। उद्देश्य प्रतिस्थापन एवं उद्देश्य विस्थापन को समझाइए एवं अन्तर स्पष्ट कीजिए।
5. उद्देश्य प्रतिस्थापन, विस्थापन एवं विरूपण की अवधारणा स्पष्ट कीजिए। संगठन में सुनिश्चित उद्देश्य निर्धारण के महत्व का परीक्षण कीजिए।
6. नीतियों को परिभाषित कीजिए। नीतियां उद्देश्यों से किस प्रकार भिन्न है? नीतियों के प्रमुख प्रकार क्या है ?

7. रणनीति का आशय एवं प्रकार बताइए इसके निर्माण के चरण स्पष्ट कीजिए।

8. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए :

(अ) उद्देश्य प्रतिस्थापन एवं विस्थापन,

(ब) रणनीति,

(स) नियम,

(द) कार्यक्रम।

9- ''नीतियां आवर्तक परिस्थितियों में कार्यों को शासित करने हेतु कम्पनी द्वारा स्थापित मार्गदर्शन सिद्धान्त होते है।'' विवेचना कीजिए और उद्देश्यों तथा नीतियों में अन्तर्भेद कीजिए

कुछ उपयोगी पुस्तकें

- प्रबन्ध के सिद्धान्त एस के सिंह प्रयाग पुस्तक भवन इलाहाबाद 2006
- व्यावसायिक प्रबन्ध ओ. पी. राय बी. के. सिंह वैभवसम्मी प्रकाशन, वाराणासी, 2012
- औद्योगिक संगठन एवं प्रबन्धन, आर.सी. गुप्ता, साहित्य भवन पब्लिकेशन आगरा, 2003
- व्यवसायिक संगठन, जगदीष प्रकाश, प्रयाग पुस्तक भवन, 2014
- औद्योगिक प्रबन्ध, जे.के. जैन, प्रतीक प्रकाशन आगरा, 2001

इकाई—07 संगठना I

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 संगठना का अर्थ, परिभाषाएं और स्वभाव

7.3 संगठन की प्रकृति और विशेषताएं

7.4 संगठन प्रक्रिया के अन्तर्निहित आवश्यक कदम

7.5 संगठन का महत्व

7.6 संगठन के सिद्धान्त

7.7 सारांश

7.8 महत्वपूर्ण शब्दावली

7.9 आवश्यक प्रश्न

7.0 उद्देश्य

इस अध्याय के अध्ययन से आप निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर दे पायेंगे।

- ❖ संगठन के क्षेत्र का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।
- ❖ संगठन के तत्व कौन—कौन से है?
- ❖ संगठन और प्रबन्ध में अन्तभेद कीजिए।
- ❖ कर्नल एल. उर्विक के अनुसार संगठन के सिद्धान्त कौन—कौन से है?
- ❖ कुसंगठन के लक्षण और दोष संक्षेप में बताइए।
- ❖ एक आदर्श संगठन की विशेषताएँ क्या है ?

7.1 प्रस्तावना

संगठन प्रबन्ध का एक तन्त्र होता है जिसके द्वारा प्रबन्ध अपना कार्य सम्पादित करता है। जब दो या दो से अधिक व्यक्ति मिलकर प्रशासन द्वारा निर्धारित उददे्श्य की प्राप्ति के लिए कार्यशील होते हैं तो संगठन की आवश्यकता पड़ती ही है। प्रत्येक उपक्रम में नियोजन कार्य करने के बाद संगठन कार्य किया जाता है।संगठन उत्पत्ति के साधनों में मैत्रीपूर्ण संयोजन की प्रक्रिया होती है। आधुनिक युग में

व्यवसाय की सफलता के लिए पांच 'M'- Men, Money, Machine, Material, Mathods का समुचित उपयोग करने हेतु व प्रभावपूर्ण सहयोग स्थापना हेतु संगठन आवश्यक होता है।

प्रबन्ध जगत में संगठन में अभिरूचि एफ.डब्ल्यू. टेलर ने वैज्ञानिक प्रबन्ध की आख्या में सर्वप्रथम लिया। परन्तु प्रथम बार विस्तृत और विधिवत् ढंग से मूने तथा रैले ने सन् 1931 में अपनी पुस्तक व्दूंतक पदकनेजतल में संगठन के बारे में लिखा। बाद में यही पुस्तक Organisationतथा **ऐलन** की पुस्तक Managment and Organisation आधुनिक प्रबन्ध साहित्य में बेजोड़ मानी जाती है। आधुनिक समाजशास्त्र के जन्मदाता मैक्स वेबर ने भी संगठन पर अपने प्रभावशाली और उत्तेजक विचार रखें हैं। अर्थशास्त्र के क्षेत्र में एडम स्मिथ ने उत्पादन के पांच साधनों, भूमि, श्रम, पूंजी, संगठन और साहस में भी संगठन की महत्ता स्थापित किया।

7.2 संगठन का अर्थ और परिभाशा

आंग्ला भाषा के शब्द Organisationकी उत्पत्ति Organismसे हुई है। जिसका आशय शरीर के टुकडों अर्थात् अंगों से है जो परस्पर इस प्रकार सम्बन्धित है कि एक गुण इकाई के रूप में कार्य करतें हैं। संगठन के दो महत्वपूर्ण भाग हैं–(1) संघटक,और (2) उनके पारस्परिक सम्बन्ध। उदाहरण के लिए मानव शरीर की संरचना को ही लिजिए। शरीर के विभिन्न छोटे–छोटे अंग जैसे हाथ, पैर,, मुंह आंख नाक और मस्तिक आदि की अपनी अपनी सुनिश्चित एवं स्पष्ट क्रियाएं निर्धारित हैं। ये सभी क्रियाएं पारस्परिक रूप से एक दूसरे अंग की क्रियाओं पर आश्रित रहती है। चलने, दौड़ने, खाने, लिखने में सभी आवश्यक अंग प्रभावपूर्ण सहयोग से कार्य करते हैं। इस प्रकार, वाणिज्य एवं प्रबन्ध में विभिन्न साधनों में प्रभावपूर्ण सहयोग स्थापित करने की कला को ही संगठन कहते हैं।

संगठन शब्द प्रबन्ध विज्ञान की दृष्टि से बहुअर्थी है। संगठन के अर्थ को समझने के लिए विभिन्न परिभाषाओं को निम्न वर्गों में विभक्त करना अधिक उपयुक्त होगा।

(अ) संज्ञा के रूप में संगठना -संज्ञा के रूप में संगठन व्यक्तियों का एक समूह होता है जो सामान्य उददेश्यों के लिए मिलकर कार्य करता है। इस बारे में यह स्मरणीय है कि भीड़ को संगठन नहीं कह सकते क्योंकि वहां पर व्यक्तियों का समूह होने के बावजूद सामान्य उददेश्य नही होता। **मूने व रैले**के शब्दों में, ''संगठन सामान्य हितों की पूर्ति के लिए बनाया गया मनुष्यों का एक समुदाय है।'' **मैकफरलैन्ड** के अनुसार, ''संगठन का आशय व्यक्तियों के एक विशेष समूह से है जो निश्चित उददेश्यों की प्राप्ति क लिए मिलकर कार्य करते हैं।

(ब) सम्बन्धों के संरचना के रूप में संगठन -इस दृष्टि से संगठन मानवीय व भौतिक साधनों तथा कार्यों का परस्पर जटिल सम्बन्ध है जो एक तन्त्र के संरचना के रूप में माना जाता है। यह संरचना व्यक्तियों के लम्बवत् एवं समतल सम्बन्धों, अधिकारों, दायित्वों व कर्तव्यों को दर्शाता है। जिससे कि समस्त कर्मचारी एक एकीकृत इकाई के रूप में कार्य करें। **निओल तथा ब्राण्टन** के शब्दों में, ''संगठन अंशतः संरचनात्मक सम्बन्धों का प्रश्न है तथा अंशतः मानवीय सम्बन्धों का मामला है।'' **हॉज**

एव जॉनसन के अुनसार, ''संगठन मानवीय एवं भौतिक संसाधनों तथा कार्यों का परस्पर जटिल सम्बन्ध है जो एक तन्त्र के अन्तर्जाल के रूप में बनाया जाता है।'' इस प्रकार व्यक्तियों व भौतिक साधनों (भवन, मशीन, फर्नीचर, माल आदि) की वह संरचना है जिसके अन्तर्गत सहयोग व एकीकृत ढंग से लक्ष्यों को प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है।

(स) एक प्रकिया के रूप में संगठन -इस रूप में संगठन विभिन्न क्रियाओं की एक प्रक्रिया है जिससे कि हिकारी प्रयत्न हो सके। इस प्रक्रिया के प्रमुख अंग निम्न हैं–**(1)** संस्था में किए जाने वाले कार्य का का निर्धारण करना, **(2)** उस कार्य का छोटी–छोटी उप–क्रियाओं में बांटना, **(3)** समानता के आधार पर उपक्रियाओं का विविध वर्ग बनाना, **(4)** उन क्रियाओं को करने के लिए उपयुक्त व्यक्तियों का चुनाव व कार्य सौंपना, **(5)** नियुक्त व्यक्तियों को उपयुक्त अधिकार प्रदान करना, **(6)** पारस्परिक सम्बन्धों को निर्धारित करना। **एल.उर्विक (L.Urwick)**के अनुसार, ''किसी कार्य को सम्पन्न करने के लिए किन–किन क्रियाओं को किया जाये, इसका निर्धारण एवं उन क्रियाओं को व्यक्तियों में वितरण की व्यवस्था करना ही संगठना है।'' **लुईस. ए.ऐलन (Louis A. Allen)**के शब्दों में, ''संगठन किये जाने वाले कार्यों को निश्चित एवं श्रेणीबद्ध करने, दायित्वों एवं अधिकारों को परिभाषित एवं आरार्पित करने एवं उददेश्यों की प्राप्ति हेतु व्यक्तियों को सर्वाधिक प्रभावशाली ढंग से काम करने के लिए सम्बन्ध स्थापित करने की प्रकिया है।''

7.3 संगठन की प्रकृति और विशेषताएं

संगठन की प्रकृति का अनुमान उसके निम्न विशेषताओं से लगाया जा सकता है–

(1) उददे्श्य–प्रत्येक संगठन के लिए निश्चित उददे्श्य का होना आवश्यक है। प्रशासन द्वारा निर्धारित उददे्श्यों की प्राप्ति का संगठन एक प्रभावी तन्त्र होता है जिसे प्रबन्ध द्वारा प्रयोग किया जाता है।

(2) सहयोगपूर्ण सम्बन्ध–संगठन समूह के सदस्यों के मध्य सहयोगपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करता है। संगठन एक व्यक्ति के साथ अस्तित्व में नहीं आता। इसलिए कम से कम दो या अधिक व्यक्तियों की आवश्यकता होती है। संगठना एक प्रणाली है जो भिन्न–भिन्न व्यक्तियों के मध्य अर्थपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने में सहायता करता है। सम्बन्ध समानान्तर स्तर तथा निम्न से उच्च स्तर दोनों के साथ होने चाहिए। सम्बन्धों की संरचना इस प्रकार की होना चाहिए कि यह अधीनस्थ कर्मचारियों को सामूहिक रूप से प्रभावशाली और सुयोग्यतापूर्ण विधियों से काम करने के लिए प्रोत्साहित करे।

(3) मानवीय व भौतिक संसाघनों में समन्वय–संगठन क्रियाओं को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है– मानवीय संगठन व भौतिक संगठन। मानवीय संगठन में कर्मचारियों की आवश्यक क्रियाओं का निर्धारण, वर्गीकरण, नियुक्ति पदोन्नति, प्रशिक्षण, अनुशासन, परिवेदना निवारण, श्रम कल्याण, अधिकार का प्रतिनिधायन, विकेन्द्रीकरण आदि को सम्मिलित किया जाता है। इसके विपरीत, भौतिक

साधनों के संगठन में भवन, मशीन, औजार, फर्नीचर , माल, पत्राचार आदि की समुचित व्यवस्था और सुप्रयोग सम्मिलित होता है। इस प्रकार संगठन क्रियायों के विस्तृत क्षेत्र में मानवीय और भौतिक साधनों का अनुकूलम साम्य स्थापित करके प्रभावपूर्ण उपयोग सुनिश्चित किया जाता है।

(4) सम्बन्धों का ढांचा—ई.एफ.एल.बेच, डेनियल काट्ज, डेविड क्लीपलैण्ड, कारनैल व अन्य प्रबन्ध विद्वान संगठन को सम्बन्धों का ढांचा मानते हैं जिसमे विभिन्न अधिकारियों के आपसी सम्बन्ध, सम्पर्क, अधिकारों एवं उत्तरदायित्वों को दर्शाया जाता है। **ब्रेच** के अनुसार, ''संगठन ढांचे से अधिक कुछ नही है जिसके अन्तर्गत संस्था के प्रबन्ध के उत्तरदायित्वों का निष्पादन किया जाता है।''

(5) प्रबन्ध का प्रमुख कार्य—प्रबन्ध के बहुतेरे कार्यों में एक प्रमुख कार्य संगठन है। उपक्रम के विकास, स्थायित्व, संसाधनों के समुचित उपयोग, लागत में कमी, प्रभावशीलता में वृद्धि, मानवीय सम्बन्धों में मधुरता, सेवा भावना को प्रोत्साहन, संस्था के सामाजिक दायित्वों के निर्वाह हेतु प्रबन्ध का प्रमुख संगठन होता है।

7.4 संगठन प्रक्रिया के अन्तर्निहित आवश्यक कदम

संगठन प्रक्रिया प्रत्येक प्रबन्ध को पूरी करनी पड़ती है, जिसके लिए क्रमानुसार निम्न कदम उठाने होते हैं—

(1) क्रियाओं की पहचान और विभाजन – संगठन प्रक्रिया का पहला कदम निश्चित उद्दश्यों की प्राप्ति के लिए की जाने वाली क्रियाओं की पहचान करनी होती है। किये जाने वाले समस्य कार्यों को पहचानने एवं स्पष्ट परिभाषित करने के बाद उनकी प्रकृति, आकार, एवं निहित उत्तरदायित्व को ध्यान में रखते हुए उप–क्रियाओं में विभाजित किया जाता है। इन उप–क्रियाओं की एक सूची तैयार कर लेनी चाहिए।

(2) समस्य क्रियाओं का समूहीकरण –क्रियाओं की पहचान एवं विभाजन के बाद समान प्रकार की क्रियाओं को विपणन, सेविवर्गीय, वित्त, उत्पादन, सूचना तकनीक आदि विभागों में श्रेणीबद्ध किया जा सकता है। इसके बाद विभागीय क्रियाओं को भी उप–खण्डों में बांटा जा सकता हैं। उदाहरणार्थ, विपणन विभाग की क्रियाओं को क्रय, विक्रय, विज्ञापन, विक्रयोपरान्त सेवा, विपणन अनुसन्धान आदि उप–खण्डों में बांट सकते हैं। विभिन्न विभागों पर कार्य–भार समान रूप से वितरित होना चाहिए जिससे उपक्रम के कार्य–संचालन में सन्तुलन और समता बनी रहे। उपक्रम के सुचारू संचालन हेतु विविध विभागों के कार्य–भार का समय–समय पर मूल्यांकन करते रहना आवश्यक होता हैं।

(3) कर्मचारियों के मध्य कार्य का आवंटन – आवश्यक क्रियाओं के समूहीकरण के पश्चात् उनका वितरण विभिन्न कर्मचारियों में उनकी योग्यता, अनुभव एवं रूचि के अनुसार किया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति को यह बता दिया जाता है कि वह किन क्रियाओं के लिए उत्तरदायी होगा, इससे कार्य सम्पादन में गति, निश्चतता और अनुशासन बढ़ता है। यदि आवश्यकता हो तो कर्मचारियों को प्रशिक्षण

भी दिया जा सकता है।

(4) अधिकारी का प्रतिनिधायन –प्रत्येक कर्मचारी या अधिकारी को अपने **उत्तदायि**त्वों का निर्वाह करने के लिए उसको अधिकार का प्रतिनिधायन (भारार्पण) आवश्यक होता है। संगठन के इस चरण में अधीनस्थों को उनके कर्तव्यों व दायित्यों के स्वाभाव के अनुसार उचित अधिकार प्रदान किए जाते हैं। अधिकार एवं दायित्व में चोली–दॉमन का साथ होता है। बिना उचित अधिकार प्रदान किए दायित्व को सौंपनें से कार्य अवरूद्ध होता है, इसके विपरीत, दायित्व से अधिक अधिकार प्रदान करने से अधिकारों के दुरूप्योग की सम्भावना बढ़ती है। कोई भी प्रबन्धक अकेले सारे कार्य नहीं कर सकता अतः' उसे अधिकार और दायित्व में समानता रखते हुए उन्हें अधीनस्थों में हस्तातरण करना पड़ता है।

(5) भौतिक साधनों की व्यवस्था –मात्र कर्मचारियों की नियुक्ति, प्रशिक्षण, कार्य आवंटन, अधिकार प्रतिनिधाय से संगठन कार्य पूरा नहीं होता। बल्कि भौतिक साधनों जैसे स्थान, भवन, मशीन, औजार, फर्नीचर, हवा, प्रकाश, सर्दी–गर्मी, आर्द्रता आदि की व्यवस्था भी संगठन में करनी पड़ती है। मानवीय व भौतिक साधनों के अनुकूलतम साम्य से ही संगठन प्रक्रिया पूरी होती है।

(6) संगठनात्मक और दायित्व चार्ट की तैयारी–अधिकार व दायित्व का **विवि**ध स्तरीय कर्मचारियों में स्पष्ट विभाजन के बाद इसे दर्शाने वाले एक स्पष्ट चार्ट बनाया जाना चाहिए जिससे कि सबको स्पष्ट पता हो कि किसे कहां से अधिकार मिले है और कहां पर जवाबदेही है।

(7) संठनात्मक पुस्तिका की तैयारी -सुसंगठन प्रक्रिया हेतु संगठनात्मक **पुस्तिका** तैयार करनी चाहिए, जिससे कर्मचारियों की भूमिका, स्थान, स्थायी निर्देश, सुझाव विधि आदि स्पष्ट रूप से लिखी हो। इसे पुस्तिका में विविध शब्दों के अर्थों में सन्देह न हो इस हेतु एक शब्दकोष भी रहना चाहिए।

(8) समन्वय एवं सन्तुलन –संगठन प्रक्रिया का अन्तिम चरण विविध प्रबन्धकीय पदों और क्रियाओं के बीच समन्वय व सन्तुलन स्थापन है। इसकी आवश्यकता इसलिए है कि उपक्रम के सभी पद और विभाग मिलकर सामान्य लक्ष्य की प्राप्ति की दिशा में अग्रसर हो सकें। अधिकार सत्तात्मक सम्बन्धों और संदेशवाहन की व्यवस्थाओं के माध्यम से उपक्रम के विविध पदों और क्रियाओं के मध्य एकीकरण और समम्वय आता है। व्यक्तियों को संगठन सम्बन्धी सम्पूर्ण कलेवर से, उसमें अपने स्थान से, अन्य विभागों के सम्बन्ध से व अधिकारियों से भली–भांति परिचित होना चाहिए। कर्मचारियों को पता होनी चाहिए कि आवश्यकता पड़ने पर किन अधिकारियों से मार्गदर्शन व सहायता प्राप्त कर सकते हैं और वे किनके प्रति उत्तरदायी होंगे।

7.5 संगठन का महत्व

यूनाइटेड स्टेट्स स्टील कॉरपोरेशन के विक्रय के समय सन् 1901 में अमेरिका के सुप्रसिद्ध उद्योगपति एन्ड्रयू कानिगी ने कहा था कि ''हमारे सारे कारखाने, व्यापार, परिवहन सुविधाएं और धन हमसे ले लीजिए। संगठन के अतिरिक्त हमारे पास कुछ न छोड़िए और हम चार वर्षों में ही स्वयं को पुनर्स्थापित कर लेंगे।'' इस कथन के एक–एक शब्द से संगठन का महत्व झलक रहा है। इसी आशय

का विचार अमिताई एटजिओनी (Amitai Etzioni)ने इस प्रकार व्यक्त किया था, ''हम संगठन में ही जन्म लेते है, संगठन में ही शिक्षा प्राप्त करते हैं तथा हममें से अधिकांश लोग अपने जीवन का अधिकांश समय संगठन में ही व्यतीत करते हैं। हममें से अधिकांश लोग संगठन में ही मरेंगे तथा अन्त्येष्टि भी सबसे बड़े संगठन राज्य की आज्ञा के अनुसार होगी।'' संगठन को प्रबन्ध की आधारशिला कहना कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी। सुसंगठन की महत्ता को स्वीकारते हुए **सी, केनिथ** ने कहा है कि, ''एक कमजोर संगठन अच्छे उत्पाद को मिट्टी में मिला सकता है, किन्तु एक अच्छा संगठन जिसके पास कमजोर उत्पाद है, अच्छे उत्पाद को बाजार से भगा सकता है।'' व्यवसाय में संगठन का महत्व निम्नांकित विश्लेषण से स्पष्ट हो जायेगा–

(1) प्रबन्धकीय कार्यकुशलता में वृद्धि –संगठन एक संरचना और प्रक्रिया अपने दोनों ही रूपों में प्रबन्धकों की कार्यकुशलता में बढ़ोत्तरी करता है। श्रेष्ठ संगठन से कार्य के दोहरीकरण, निर्णयन में विलम्ब और निष्पादन के सम्बन्ध में संशय जैसी समस्याएं उत्पन्न नहीं होती है। उपक्रम के समस्त कर्मचारियों, योग्यताओं और गुणों का पूरा–पूरा लाभ संगठन उठाता है। निम्न प्रबन्ध स्तर के लोगों में कार्य का विभाजन करके उच्च प्रबन्ध को तुलनात्मक रूप से अधिक महत्वपूर्ण कार्य करने का सुअवसर प्राप्त होता है। औपचारिक सम्बन्धों की व्यवस्था होने से पारम्परिक मतभेद, द्वेष, संघर्ष, पुनरावृत्ति, देरी व भ्रान्ति की सम्भावना घटती है। फलतः प्रबन्ध व प्रशासन की कार्यक्षमता और उत्पादकता बढ़ती है।

(2) विशिष्टीकरण को प्रोत्साहन –संगठन एक श्रेष्ठ साधन है जिसके माध्यम से विशिष्टीकरण सम्भव होता है। इसके अन्तर्गत विभिन्न व्यक्तियों में कार्य विभाजन उनके योग्यतानुसार कार्य आबंटित किया जाता है। काफी समय तक एक ही कार्य करते रहने से कर्मचारी में विशेष दक्षता आ जाती है और अपने मशीन की छोटी–मोटी खराबी वह स्वयं सुधार लेता है। कुशल संगठन 'सही व्यक्ति को सही काम' दे करके विशिष्टीकरण को प्रोत्साहित करता है।

(3) विभिन्न गतिविधियों पर आनुपातिक एवं सन्तुलित बल -संगठन उपक्रम की विविध क्रियाओं को आनुपातिक एवं सन्तुलित महत्व प्रदान करता हैं। संगठन प्रक्रिया के अन्तर्गत उपक्रम की गतिविधियों को विभागों, अनुभागों, लघु कार्यां में विभाजित करके अधिक महत्वपूर्ण गतिविधि पर अधिक ध्यान दिया जा सकता है। प्रत्येक गतिविधि की महत्ता के अनुसार उस पर धन और समय लगाया जाता है। छोटी–मोटी एवं नैत्यक प्रकृति की समस्याएं निम्नस्तरीय प्रबन्ध द्वारा हल किये जाने के कारण उच्च स्तरीय प्रबन्ध महत्वपूर्ण और गम्भीर समस्याओं पर ध्यान ठीक से लगा पाता है।

(4) सुनिश्चित वातावरण –एक श्रेष्ठ संगठन कर्तव्यों व दायित्वों के निश्चित बंटवारे, अधिकारी–अधीनस्थ सम्बन्ध के स्पष्ट निर्धारण व कर्मचारियों के उचित चयन व प्रशिक्षण द्वारा संस्था में सुनिश्तिता एवं सहयोग का वातावरण उत्पन्न करता है। प्रत्येक विभाग व कर्मचारी कर्तव्य, अधिकार, दायित्व, साधन और लक्ष्य को भली–भांति जानते रहते हैं तो भ्रान्ति, झगड़े, कार्यों का दोहरापन व छूटने की सम्भावना बहुत कम हो जाती है।

(5) विकास व उत्पादकता को बढ़ावा –किसी भी उपक्रम के विकास व उत्पादकता का इतिहास वास्तव में अच्छे व स्वस्थ संगठन की ही कहानी होती है। **संगठन** ही विकास व उत्पादकता का मूल मंत्र होता है। खराब व रूग्ण संगठन ही पतन के सूचक होते है। कुशल संगठन भौतिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक वातावरण को सुन्दर बना करके पैमाने की बचतें प्रदान करते है और विकास व उत्पादकता को गति प्रदान करते हैं।

(6) समन्वय को सुविधाजनक बनाना -संगठन के अन्तर्गत विभिन्न विभागों, अनुभागों, पदों, कृत्यों, गतिविधियों को समाकलित किया जाता है। कुशल संगठन के द्वारा अनुशासन, आज्ञाकारिता, उत्तरदायित्व की भावना, आत्मविश्वास, रूचि, पहल, विश्वास, व्यवस्था व सहयोग का वातावरण पैदा होता है जिससे समन्वय का कार्य सुविधाजनक हो जाता है।

(7) कर्मचारियों का विकास और प्रशिक्षण -एक श्रेष्ठ संगठन **कर्मचारि**यों के विकास और प्रशिक्षण के लिए प्रयत्न करता है। कार्यों का युक्तिसंगत विभाजन कर्मचारियों की उपलब्ध योग्यता और विशेष गुणों का प्रयोग सुनिश्चित करता है। नए भर्ती कर्मचारी पाने के बारे में कार्य विभिन्न पदों पर प्रशिक्षण प्राप्त करते है। उनको अनुभवी कर्मचारियों के साथ लगा दिया जाता हैं। एक अच्छा संगठन विभिन्न पदों पर कर्मचारियों को अभ्यास का अवसर प्रदान करके उनके विकास और पदोन्नति को सम्भव बनाता है जिससे उनका मनोबल व संतोष बढ़ता है।

(8) अन्य महत्व -श्रेश्ठ संगठन के अन्य महत्व अग्रलिखित है : (क) **भ्रश्टाचार** पर रोक, (ख) अधिकारों के भारार्पण में सुगमता, (ग) उपक्रम के विकास व विस्तार में सहायक, (घ) तकनीकी सुधारों का अनुकूलतम उपयोग, (ङ) सौहार्द्रपूर्ण मानवीय सम्बन्ध, (च) सृजनात्मकता को प्रोत्साहन, (छ) प्रभावी सन्देशवहन, (ज) अनावश्यक हस्तक्षेप में कमी, (झ) नियोजन की सफलता, आदि।

7.6 संगठन के सिद्धान्त

एफ. डब्ल्यू. टेलर तथा हेनरी फेयोल ने संगठन के सिद्धान्तों के प्रतिपादन में पहल किया है। परन्तु इस क्षेत्र में सर्वाधिक योगदान **कर्नल लिण्डाल उर्विक** का माना जाता है जिनकी 1928 में प्रकाशित पुस्तक (Dictionary of Industrial Administration)में संगठन के सिद्धान्तों की स्पष्ट व्याख्या की गयी है। उर्विक की विचारधारा मूने एवं रैले तथा ग्रेकनास से सर्वाधिक प्रभावित हुई और उन्होंने अपने पूर्व प्रतिपादित सिद्धान्तों में समयानुसार संसोधन और परिमार्जन भी किया। तदुपरान्त अन्फर्ड एवं बीटी, हरबर्ट ए0 साइमन, कुण्ट्ज एवं ओ डोनेल आदि ने भी संगठन सिद्धान्तों के प्रतिपादन में उल्लेखनीय योगदान दिया है। इन सभी सिद्धान्तों की संक्षिप्त व्याख्या निम्न प्रकार है :

(1) उद्देश्य का सिद्धान्त –संगठन का निश्चित और स्पष्ट उद्देश्य होना चाहिए जो कि संस्था में कार्यरत प्रत्येक कर्मचारी को ठीक प्रकार से परिभाषित होना चाहिए तथा सभी विभागों व संगठन साधन का काम करता है अतः उद्देश्यों की स्पष्टता संगठनात्मक कार्यों को सही दिशा प्रदान करती

है।

(2) नियंत्रण के विस्तार का सिद्धान्त –अधिकारियों का नियंत्रण का क्षेत्र **सीमित** होना चाहिए क्योंकि नियंत्रण क्षेत्र व्यापक होने पर नियंत्रण का प्रभाव कम हो जाता है। **एल.उर्विक** के शब्दों में ''एक व्यक्ति अधिक से अधिक पांच या छः सहायक कर्मचारियों की क्रियाओं पर सफलतापूर्वक नियंत्रण रख सकता है।''

(3) व्याख्या का सिद्धान्त –एक कुशल संगठन के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक पदाधिकारी व कर्मचारी के अधिकार, कर्तव्य, दायित्व, अन्य अधिकारियों के साथ सम्बन्ध की स्पष्ट व्याख्या हो जिससे कि कार्य निष्पादन में किसी प्रकार की अस्पष्ट धारणा न रहे। अच्छा होगा यदि व्याख्या लिखित हो और सभी सम्बद्ध पक्षकारों को ज्ञात हो।

(4) समन्वय का सिद्धान्त -किसी व्यावसायिक संस्था के विभिन्न कार्य, साधनों, विभागों, उपविभागों की क्रियाओं में पूर्ण समन्वय होना चाहिए ताकि पूर्व निश्चित लक्ष्यों को प्राप्त किया जा सके।

(5) सन्तुलन का सिद्धान्त –संगठन की विभिन्न इकाइयों में सन्तुलन रखा जाना चाहिए। इस सिद्धान्त के अनुसार यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि कोई एक भाग या इकाई बहुत बड़ा और दूसरा भाग या इकाई बहुत छोटा न रह जाए। कुछ भागों को आवश्यकता से बहुत ज्यादा तो कुछ को बहुत कम काम नहीं दिया जाना चाहिए नहीं तो काम पर कुप्रभाव पड़ेगा। मानव शरीर के विभिन्न अवयवों के बीच जैसा सन्तुलन है वैसा ही संगठन के भागों में बरकरार रहना चाहिए।

(6) अधिकार का सिद्धान्त -साधारणतया सर्वोच्च अधिकार किसी एक स्तर पर केन्द्रित रहते हैं लेकिन संस्था का कार्य विभिन्न इकाइयों एवं क्रियाओं में विभाजित होने के कारण हर स्तर पर अधिकार दिया जाना आवश्यक है। बिना अधिकार के अधीनस्थ कर्मचारी कार्य सम्पन्न नहीं कर सकते हैं।

(7) उत्तरदायित्व का सिद्धान्त –अधिकार एवं उत्तरदायित्व एक ही सिक्के के दो पहलू होते हैं, इस सिद्धान्त के अनुसार अधीनस्थ कर्मचारियों के द्वारा किये गये कार्यों के लिए उच्च अधिकारियों का पूर्ण उत्तरदायित्व होता है। अधिकारी का कर्तव्य है कि वह अपने अधीनस्थों का पथ–प्रदर्शन करता रहे व उन्हें प्रेरणा भी देता रहे।

(8) निरन्तरता का सिद्धान्त -संगठन एक प्रक्रिया है जो निरन्तर चलती रहती है। अतः संगठन व्यवस्था में न केवल वर्तमान आवश्यकताओं बल्कि भविष्य की आवश्यकताओं को भी ध्यान में रखना चाहिए।

(9) एकरूपता का सिद्धान्त –एक ही प्रकार के समस्त कार्यों का समूह उससे सम्बन्धित विभाग को देना चाहिए इससे सफल निष्पादन होता है और कार्य के दो या अधिक बार सम्पादित होने का सन्देह समाप्त हो जाता है।

(10) विशिष्टीकरण का सिद्धात –अच्छे संगठन में व्यक्ति की क्षमता एवं इच्छा के अनुरूप ही

कार्य लगातार सौंपा जाना चाहिए जिससे कि वह लगन से हमेशा वही कार्य करते हुए उस कार्य में विशिष्टता हासिल कर ले। कर्मचारियों को उनकी कार्यक्षमता, इच्छा, अनुभव, योग्यता, व लगन के अनुरूप कार्य भार सौंपना ही विशिष्टीकरण को प्रोत्साहित करता है।

(11) लोच का सिद्धान्त –संगठन के अन्तर्गत समय एवं आवश्यकता के अनुसार परिवर्तन करने तथा उसे पुनर्संगठित करने के लिए पर्याप्त लोच होनी चाहिए। संगठन को अत्यधिक नियमन, लालफताशाही व कागजी नियंत्रण से यथासम्भव दूर रखा जाना चाहिए।

उपरोक्त सभी सिद्धान्त उर्विक द्वारा प्रतिपादित है जो सार्वभौमिक माने जाते है। इन्हें संगठन के परम्परागत अथवा चिरप्रतिष्ठित सिद्धान्त कहा जाता है। उपरोक्त के अतिरिक्त कुछ अन्य अग्रलिखित आधुनिक सिद्धान्त भी हैं :

(12) आदेश की एकता का सिद्धान्त –एक कर्मचारी के आदेश देने वाला एक ही अधिकारी होना चाहिए क्योंकि अनेक अधिकारियों द्वारा दिए गए आदेश एक दूसरे के प्रतिकूल भी हो सकते हैं। यह भी सत्य है कि एक व्यक्ति एक ही समय में दो अधिकारियों की सेवा नहीं कर सकता है। एक कर्मचारी की एक ही अधिकारी के प्रति जवाबदेही होने से कार्य–परिणामों के प्रति व्यक्तिगत उत्तरदायित्व की भावना रहती है।

(13) अपवाद का सिद्धान्त –इस सिद्धान्त के अनुसार उच्च प्रबन्धक को चाहिए कि यह अधीनस्थों के नैत्यक कार्यों में न्यूनतम हस्तक्षेप करे। असाधारण व अपवादात्मक दशाओं में ही उच्च अधिकारी का ध्यान आकृष्ट किया जाना चाहिए जिससे कि वे महत्वपूर्ण कार्यों में अधिक समय दे सकें।

(14) जांच एवं सन्तुलन का सिद्धान्त -इस सिद्धान्त के अनुसार किसी एक ही स्थान पर सत्ता का अधिक केन्द्रीकरण नहीं किया जाना चाहिए। किसी एक व्यक्ति समूह, शाखा, विभाग, **स्थान** द्वारा निष्पादित कार्यों की किसी दूसरी व्यक्ति, शाखा, विभाग, स्थान द्वारा जांच एवं सन्तुलित रखने का प्रयत्न किया जाना चाहिए।

(15) भूमिका निर्वाह का सिद्धान्त–इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक अधीनस्थ अपने अधि**कारी** से इस प्रकार की भूमिका निभाये जाने की आशा करता है। जैसा कि वह स्वयं अधिकारी बन जाने पर निभाता। अतः प्रबन्धक को अपने अधीनस्थों की इस मनोवृत्ति का ज्ञान होना चाहिए और यथासम्भव अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन करते रहना चाहिए।

(16) न्यूनतम सत्ता स्तारों का सिद्धान्त -इस सिद्धान्त के अनुसार संगठन में सत्ता स्तर न्यूनतम होने चाहिए। सत्ता स्तरों की अधिकता से निर्देश श्रृंखला लम्बी हो जाती है और **निम्नतम** स्तर पर कार्यरत कर्मचारियों को निर्देश प्राप्त होने से अनावश्यक विलम्ब होता है व सन्देशों की शुद्धता पर विपरीत प्रभाव पड़ता है।

(17) कार्यकुशलता का सिद्धान्त–इस सिद्धान्त के अनुसार मानव शक्ति का उपयोग **सर्वोत्तम** एवं अधिकतम कार्यकुशलता स्तर तक करना चाहिए। उनका चयन उनकी योग्यता व कुशलता के

आधार पर करके उचित प्रशिक्षण द्वारा कार्यक्षमता बढ़ानी चाहिए।

(18) सरलीकरण का सिद्धान्त–इस सिद्धान्त के अनुसार संगठनकर्ताओं को संरचना ऐसी बनानी चाहिए जो कि सरलतम हो और हर व्यक्ति को आसानी से बिना सन्देह के समझ में आ सके। एक उलझनपूर्ण संगठन संरचना कर्मचारियों में संदेह और विवाद पैदा करेगा और कई कार्यों में दोहरे प्रयत्न करने पड़ सकते हैं।

(19) सहभागिता का सिद्धान्त –इस सिद्धान्त के अनुसार संगठनात्मक समस्याओं के समाधान में संगठन के प्रत्येक स्तर से यथासम्भव विचार एकत्र करने चाहिए। प्रबन्धकों को विचार विनिमय, सहभागिता और सर्वस्वीकृति पर जोर देना चाहिए।

7.7 सारांश

संगठन प्रबन्ध का एक तन्त्र होता है कि जिसके द्वारा प्रबन्ध अपना कार्य सम्पादित करता है। जब दो या दो से अधिक व्यक्ति निकलकर प्रशासन द्वारा निर्धारित उद्देश्य की प्राप्त के लिए कार्यशील होते है तो संगठन की आवश्यकता पड़ती है। आधुनिक युग में व्यवसाय की सफलता के लिए पाँच M - Men, Money, Machine, Material, Mathords का समुचित उपयोग करने हेतु व प्रभावपूर्ण सहयोग स्थापन हेतु संगठन आवश्यक होता है। संगठन शब्द प्रबन्ध विज्ञान की दृष्टि से बहुअर्थी है। इसे समझने के लिए निम्न वर्गों में वर्गीकृत किया गया है।

(अ) संज्ञा के रूप में संगठन – संज्ञा के रूप में संगठन व्यक्तियों का एक समूह होता है जो सामान्य उद्देश्यों के लिए मिलकर कार्य करता है।

(ब) सम्बन्धों के संरचना के रूप में संगठन – इस दृष्टि से संगठन मानवीय व भौतिक साधनों तथा कार्यों का परस्पर जटिल सम्बन्ध है जो एक तन्त्र के संरचना के रूप में बनाया जाता है।

(स) एक प्रक्रिया के रूप में संगठन – इस रूप में संगठन विभिन्न क्रियाओं की एक प्रक्रिया के रूप में संगठन – इस रूप में संगठन विभिन्न क्रियाओं की एक प्रक्रिया है जिससे कि सहकारी प्रयत्न हो सकें।

संगठन प्रक्रिया के अन्तर्निहित आवश्यक कदम –(1) क्रियाओं की पहचान और विभाजन, (2) समस्य क्रियाओं का समूहीकरण, (3) कर्मचारियों के मध्य कार्य का आवंटन, (4) अधिकारी का प्रतिनिधायन, (5) भौतिक साधनों की व्यवस्था, (6) संगठनात्मक और दायित्व चार्ट की तैयारी, (7) संठनात्मक पुस्तिका की तैयारी, एवं (8) समन्वय एवं सन्तुलन।

संगठन का महत्व –(1) प्रबन्धकीय कार्यकुशलता में वृद्धि, (2) विशिष्टीकरण को प्रोत्साहन, (3) विभिन्न गतिविधियों पर आनुपातिक एवं सन्तुलित बल, (4)सुनिश्चित वातावरण, (5)विकास व उत्पादकता को बढ़ावा, (6) समन्वय को सुविधाजनक बनाना, एवं (7) कर्मचारियों का विकास और प्रशिक्षण।

संगठन के सिद्धान्त – (1) उद्देश्य का सिद्धान्त, (2) नियंत्रण के विस्तार का सिद्धान्त, (3) व्याख्या का सिद्धान्त, (4) समन्वय का सिद्धान्त, (5)सन्तुलन का सिद्धान्त, (6)अधिकार का सिद्धान्त, (7) उत्तरदायित्व का सिद्धान्त, (8)निरन्तरता का सिद्धान्त, (9) एकरूपता का सिद्धान्त, (10) विशिष्टीकरण का सिद्धात, (11) लोच का सिद्धान्त, (12) आदेश की एकता का सिद्धान्त, (13) अपवाद का सिद्धान्त, (14) जांच एवं सन्तुलन का सिद्धान्त, (15) भूमिका निर्वाह का सिद्धान्त, (16) न्यूनतम सत्ता स्तारों का सिद्धान्त, (17) कार्यकुशलता का सिद्धान्त, (18) सरलीकरण का सिद्धान्त, एवं (19) सहभागिता का सिद्धान्त।

7.8 महत्वपूर्ण शब्दावली

- **संगठन** – संगठन दो या दो से अधिक व्यक्तियों का समूह है जो निर्धारित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए एक साथ कार्यशील होते है।
- **उद्देश्य का सिद्धान्त**– संगठन का निि"चत और स्पष्ट उद्देश्य होना चाहिए जो कि संस्था में कार्यरत प्रत्येक कर्मचारी को ठीक प्रकार से परिभाषित होना चाहिए।
- **समन्वय का सिद्धान्त** – किसी व्यावसायिक संस्था के विभिन्न कार्य, साधनों, विभागों, उपविभागों की क्रियाओं में पूर्ण समन्वय होना चाहिए ताकि पूर्व निि"चत लक्ष्यों को प्राप्त किया जा सके।
- **अपवाद का सिद्धान्त** – इस सिद्धान्त के अनुसार उच्च प्रबन्धक को चाहिए कि यह अधीनस्थों के नैत्यक कार्यों में न्यूनतम हस्तक्षेप करे। असाधारण व अपवादात्मक द"ााओं में ही उच्च अधिकारी का ध्यान आकृष्ट किया जाना चाहिए जिससे कि वे महत्वपूर्ण कार्यों में अधिक समय दे सकें।

7.9 आवश्यक प्रश्न

1. 'संगठन' शब्द की व्याख्या कीजिए। यह ऐसा आधारशिला क्यों समझा जाता है जिस पर प्रबन्ध का पूरा ढांचा निर्मित होता है ? विवेचना कीजिए।
2. संगठन की प्रकृति, क्षेत्र और प्रक्रिया की संक्षिप्त विवेचना कीजिए।
3. संगठन किस प्रकार प्रबन्ध और प्रशासन से भिन्न है ? संगठन के विभिन्न सिद्धान्तों को लिखिए।
4. ''संगठन एक संज्ञा, सम्बन्धों की संरचना और प्रक्रिया है।'' इस कथन के आलोक में संगठन के आशय, प्रकृति और विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
5. एक स्वस्थ संगठन की क्या–क्या आवश्यक बाते हैं ? कुसंगठन के लक्षण और दोष गिनाइए।
6. संगठन की अवधारणा की व्याख्या कीजिए। संगठन प्रक्रिया में अन्तर्निदिष्ट आवश्यक कदम कौन से होते हैं ?

7. ''संगठन उद्यम के उद्देश्य हासिल करने का महत्वपूर्ण औजार है।'' इस कथन का स्पष्टीकरण दीजिए और संगठन की प्रक्रिया में निहित महत्वपूर्ण कदमों की विवेचना कीजिए।

कुछ उपयोगी पुस्तकें

- प्रबन्ध के सिद्धान्त एस के सिंह प्रयाग पुस्तक भवन इलाहाबाद 2006
- व्यावसायिक प्रबन्ध ओ. पी. राय बी. के. सिंह वैभवसम्मी प्रकाशन, वाराणासी, 2012
- औद्योगिक संगठन एवं प्रबन्धन, आर.सी. गुप्ता, साहित्य भवन पब्लिकेशन आगरा, 2003
- व्यवसायिक संगठन, जगदीष प्रकाश, प्रयाग पुस्तक भवन, 2014
- औद्योगिक प्रबन्ध, जे.के. जैन, प्रतीक प्रकाशन आगरा, 2001

इकाई–8 संगठन II

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य

8.1 प्रस्तावना

8.2 संगठन चार्ट

8.3 संगठन पुस्तिका

8.4 प्रबन्ध का विस्तार अथवा क्षेत्र

8.5 प्रबन्ध के विस्तार का ग्रेकुनास का सूत्र अथवा सिद्धान्त

8.6 औपचारिक तथा अनौपचारिक अवधारणा

8.7 औपचारिक व अनौपचारिक संगठन में अन्तर

8.8 सारांश

8.9 महत्वपूर्ण शब्दावली

8.10 आवश्यक प्रश्न

8.0 उद्देश्य

इस अध्याय के अध्ययन से आप निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर दे पायेंगे।

- ❖ संगठन संरचना, चार्ट और पुस्तिका की अवधारणा की व्याख्या कीजिए।
- ❖ प्रबन्ध विस्तार का संक्षिप्त उल्लेख कीजिए।
- ❖ ग्रेकुनास का प्रबन्ध के विस्तार का सूत्र क्या है ? इसकी सीमाएं लिखिए।
- ❖ संगठन पुस्तिका पर एक टिप्पणी लिखिए।
- ❖ वृत्तीय संगठन चार्ट से आप क्या समझते है?

8.1 प्रस्तावना

संगठन चार्ट किसी भी उपक्रम के संगठन संरचना को वर्णित करने का सुगमतम माध्यम होता है। यह संरचना को दर्शाने का एक चित्रमय साधन है। यह एक ऐसा चित्र होता है जिसमें संगठन की संरचना, संगठन के प्रमुख कार्य, मुख्य पदाधिकारी, उनके आपसी सम्बन्ध एवं स्थिति, उनमें निहित सत्ता, पर्यवेक्षण सम्बन्धी अधिकार आदि को प्रदर्शित किया जाता है। **जी. आर. टैरी** के शब्दों में – ''संगठन चार्ट एक रेखाचित्र होता है जो संस्था के प्रमुख कार्यों एवं उनके पारस्परिक सम्बन्ध, निरीक्षण की श्रृंखला एवं प्रमुख कार्यों के लिए उत्तरदायी प्रत्येक प्रभावी कर्मचारियों के अधिकारों को दर्शाता है।''

डी. ई. मैकफारलैण्ड के अनुसार – ''संगठन चार्ट एक प्रकार का अभिलेख है जो ऐसे औपचारिक संगठनात्मक सम्बन्धों को जिनका विकास करने की अधिशाषियों की योजना है, दर्शाता है।'' सामान्यतः संगठन चार्ट के माध्यम से पदों और पदासीन कर्मियों के औपचारिक अन्तर्सम्बन्धों को दर्शाया जाता है।

इसकी विशय–वस्तु में निम्नलिखित सुचनाएं प्रदर्शित की जाती हैं –(1) प्रबन्ध पद तथा पदाधिकारियों की संख्या, (2) प्रमुख कार्य, (3) रेखा तथा कर्मचारी सम्बन्ध, (4) अधिकार एवं दायित्वों का प्रवाह, (5) औपचारिक सन्देशवाहन की श्रृंखला, (6) पदोन्नति का मार्ग, (7) कामिकों के पारस्परिक सम्बन्ध, (8) प्रबन्ध के विविध स्तर एवं (9) वेतन सम्बन्धी आंकड़े, आदि।

8.2 संगठन चार्ट

संगठन चार्ट निम्न तीन प्रकार से बनाया जा सकता है :

(1) लम्बवत चार्ट -यह चार्ट परम्परागत रूप में संगठन के स्तरों का प्रदर्शन ऊपर से नीचे खड़े रूप में करता है। मुख्य अधिशाषी को सबसे ऊपर तथा अन्य अधिशाषियों को उनकी अवस्थिति एवं स्तर के अनुसार नीचे की ओर दिखलाया जाता है। ऐसे चार्ट प्रायः पिरामिड की आकृति के हो जाते है।

चित्र–1

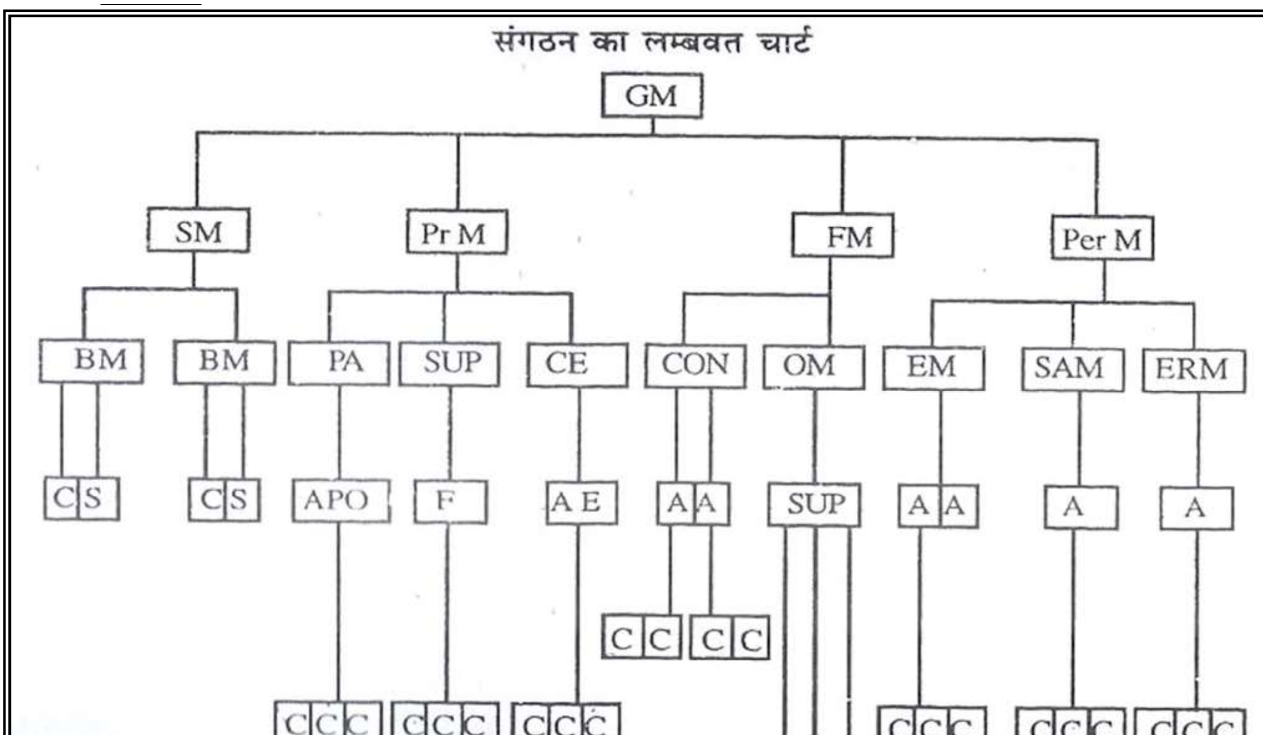

(2) समतल चार्ट –

इस प्रकार के चार्ट में शीर्ष अधिशासी को बायी ओर तथा अन्य अधिशाषियों को एक सीधी रेखा में दायीं ओर दिखाया जाता है। चित्र–2 में इसका स्वरूप दर्शाया गया है।

चित्र–2

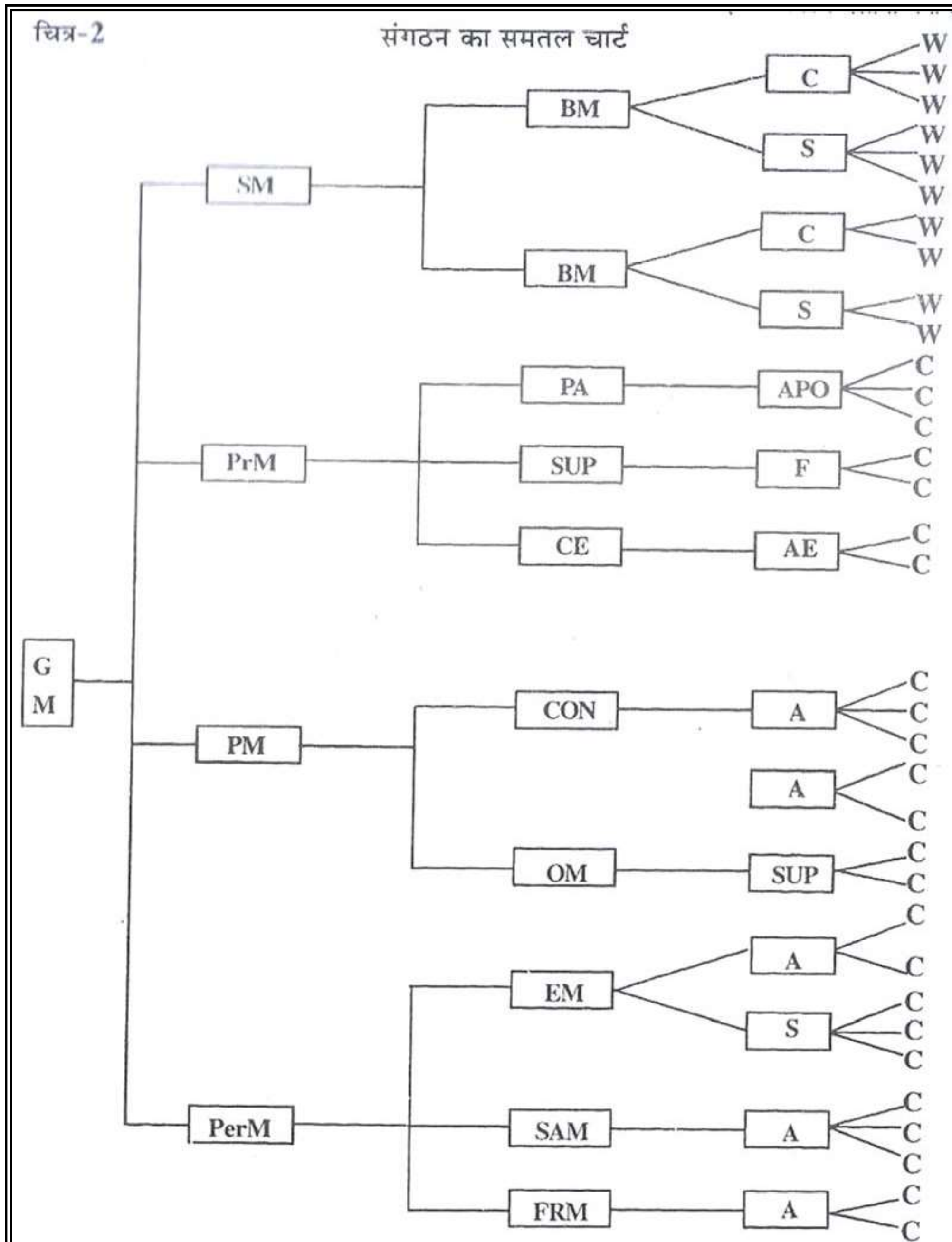

(3) वृत्तीय चार्ट –

इस प्रकार के चार्ट में शीर्ष अधिशाषी को वृत्त के बीच में दिखाया जाता है। अन्य अधिशाषियों एवं अधिकारियों को उस वृत्त के केन्द्र में क्रमशः दूर वृत्तों पर प्रदर्शित किया जाता है। समान अधिकार के अधिकारी एक ही वृत्त पर दिखाए जाते है। इसे चित्र–3 में दिखाया गया है। वृत्तीय चार्ट अस्पष्ट और भ्रामक होते है और बनाने में भी बड़ी कठिनाई आती है।

चित्र–3

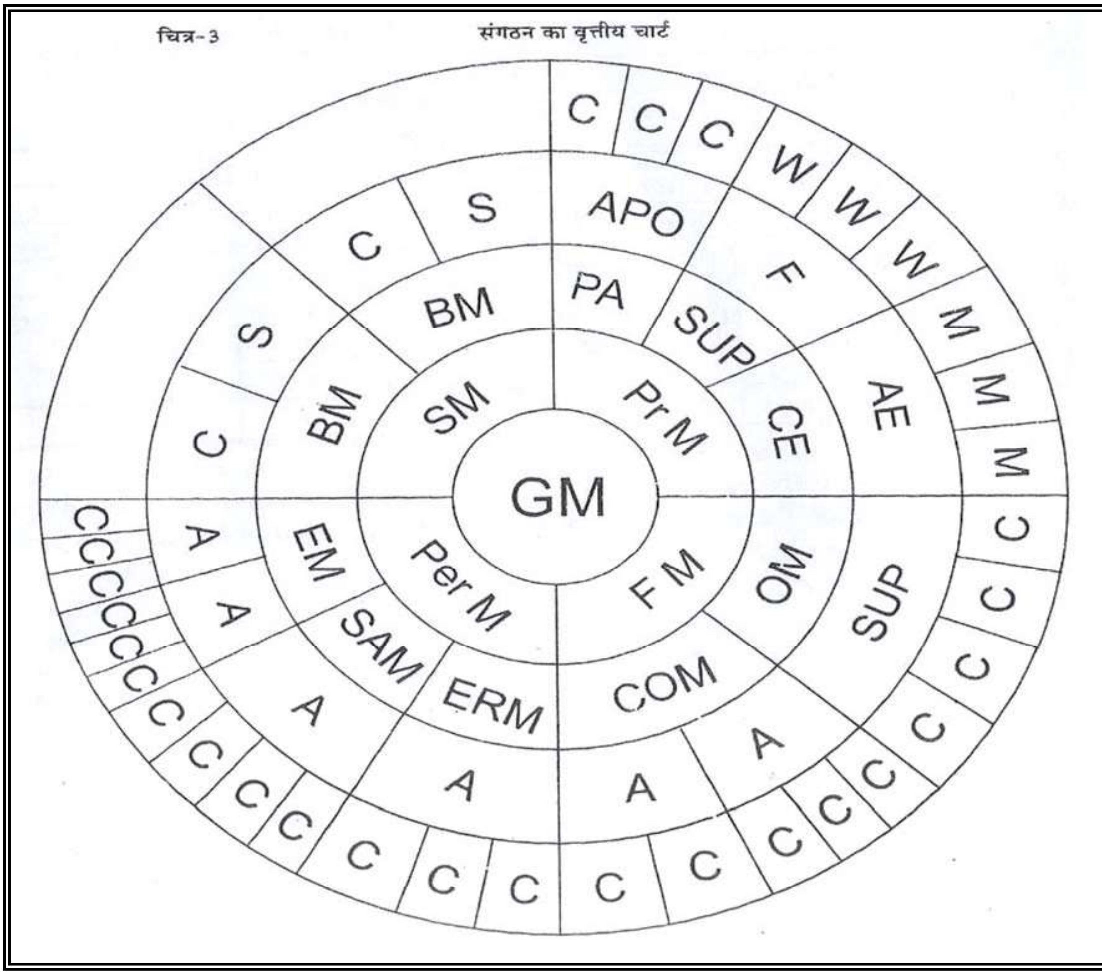

इन तीनों चित्रों में –

GM	General Manager	EM	Employment Manager
SM	Sales Manager	SAM	Salary and Administration
Pr M	Production Manager	ERM	Employee Relation Manager
FM	Finance Manager	C	Clerks
Per M	Personnel Manager	S	Salesman
BM	Branch Manager	APO	Assistant Purchase Officer

PA	Purchase Agent	F	Foreman
SUP	Speritandent	AE	Assistant Engineer
CE	Chief Engineer	A	Accountant
COM	Controller	W	Worker
OM	Office Manager	M	Mechanic

लाभ—संगठन चार्ट के प्रमुख लाभ अग्रलिखित है –

(1) प्रबन्ध का प्रमुख अस्त्र –संगठन चार्ट प्रबन्ध के हाथों में प्रमुख हथियार है जो कि विविध स्तरों एवं उनके सम्बन्धों का दिग्दर्शन कराता है। साथ ही, यह भी बताता है कि कौन किस अधीन और किसके प्रति उत्तरदायी है।

(2) संगठन की कमियों का ज्ञान –चार्ट के प्रयोग से सुनिश्चितता आती है और बहुत सी भ्रांतियां दूर हो जाती है। यह संगठन की कमियों और दोषों को भी स्पष्ट करने में सहायक सिद्ध होता है। संगठन रेखाओं में खाली जगह, दोहरापन, दोहरी अधीनस्थता, अनावश्यक संगठन इकाइयां या स्तर, अनावश्यक लम्बी आदेश श्रृंखलाएं, निरीक्षण का अधिक विस्तार आदि दोष संगठन चार्ट से स्वतः स्पष्ट हो जाते हैं। जिन्हें शीघ्रता से दूर किया जा सकता है।

(3) प्रशिक्षण कार्य में सुविधा –संगठन चार्ट से विभिन्न पदों व पदाधिकारियों का दूत परिचय प्राप्त हो जाता है। इससे नव नियुक्त कर्मियों के प्रशिक्षण की रूपरेखा तैयार करने में सुविधा हो जाती है।

(4) कार्यों में सुविधा –इनके प्रयोग से अधिकारों के प्रतिनिधायन, समन्वय, सन्देशवाहन एवं जवाबदेही के निर्धारण में सुविधा हो जाती हैं। यह उपक्रम के संगठन सम्बन्धी बातों का अधिकृत, नवीनतम व प्रमाणिक प्रलेख होता है।

दोष :–

(1) पुराने संगठन चार्ट कल के अखबार की भांति बेकार और अप्रचलित हो जाते हैं।

(2) अनौपचारिक वर्गों, अधिकारों और सम्बन्धों का इनमें प्रदर्शन नहीं हो पाता है।

(3) यह अधिकारी–अधीनस्थ में संघर्ष एवं कटुता को जन्म देता है।

(4) इनमें संशोधन करना प्रायः कठिन होता है।

(5) संगठन चार्ट संगठन के पूर्ण चित्र प्रस्तुत करने में असमर्थ रहते है।

8.3 संगठन पुस्तिका

संगठन पुस्तिका या नियमावली संगठन संरचना को समझने एवं प्रस्तुत करने का एक महत्वपूर्ण साधन है। पुस्तिका में कम्पनी के नाम, संक्षिप्त इतिहास, उद्देश्य, प्रमुख सिद्धान्त, कार्य–क्षेत्र व कार्य–विवरण, विभागों का वर्गीकरण, विभागाध्यक्षों के नाम, स्तर, अधिकार व कर्तव्य, विभागों के पारस्परिक सम्बन्ध आदि का उल्लेख रहता है। पुस्तिका को संगठन चार्ट का पूरक माना जाता है, और इस लिखित प्रलेख से कम्पनी का विशिष्ट परिचय प्राप्त हो जाता है।

लाभ :–

(1) पुस्तिका हरेक का उत्तरदायित्व निर्धारित कर देती है। अतः उत्तरदायित्व का खिसकाना सम्भव नहीं हो पाता है।

(2) इसके अध्ययन में चार्ट में दी गयी सूचना बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है।

(3) यह संघर्षों को निपटाने में सहायक होती है।

(4) इससे कर्मचारियों के चयन, प्रशिक्षण, पदोन्नति आदि में सुविधा हो जाती है।

(5) इससे निष्पादन मूल्यांकन का कार्य सरल हो जाता है।

(6) यह नये कर्मचारियों का पथ प्रदर्शन करता है।

दोष :–

(1) यह लिखित प्रलेख कर्मचारियों का कार्य–क्षेत्र सीमित करके पहलपन को समाप्त कर देता है।

(2) इसकी तैयारी में बहुत समय व धन लगता है।

(3) परिवर्तन को समाहित करना मुश्किल होता है।

(4) इनसे अनौपचारिक सम्बन्धों के बारे में जानकारी नहीं मिलती है।

(5) कार्य स्तरों की लिखित व्याख्या होने के कारण कर्मचारियों में ऊंच–नीच की भावना पैदा होती है।

(6) यह पूर्ण प्रलेख नहीं माना जा सकता है।

8.4 प्रबन्ध का विस्तार अथवा क्षेत्र

सरल शब्दों में, प्रबन्ध का विस्तार अधीनस्थों की उस संख्या का बोध कराता है जिसे एक उच्चाधिकारी अथवा प्रबन्धक सफलतापूर्वक नियंत्रित कर सकता है। प्रबन्ध के विस्तार को कई अन्य

नामों से भी जाना जाता हैं, जैसे– नियंत्रण का विस्तार, पर्यवेक्षण का विस्तार,अधिकार का विस्तार,उत्तरदायित्व का विस्तार आदि।

प्रबन्ध के विस्तार का सिद्धान्त सर्वप्रथम सैन्य अधिकारी सर यान हैमिल्टन द्वारा प्रथम विश्वयुद्ध काल में प्रतिवादन किया था। उनके अनुसार एक व्यक्ति तीन से छः व्यक्तियों पर नियंत्रण सफलतापूर्वक एक साथ कर सकता ळै। बाद में इस सिद्धान्त में फ्रांसीसी प्रबन्ध विशेषज्ञ बी0 ए0 ग्रेकुनास ने सन् 1936 में इसे गणितीय सूत्र देकर निश्चित प्रारूप दिया।

आशय – प्रबन्ध के विस्तार से आशय अधीनस्थों या सहायकों की उस संख्या से होता है जिनका एक प्रबन्धक प्रभावशाली ढंग से पर्यवेक्षण व प्रबन्ध कर सकता ळै। चूंकि कोई भी प्रबन्धक सारा काम अकेले नहीं कर सकता हैं अतः उसके नीचे सहायक कार्य करते है। जिनके काम का निरीक्षण करने आदेश देने एवं अभिप्रेरण का काम वह करता है। उच्च पद पर बैठे हुए प्रबन्धक की समय, शक्ति एवं ज्ञान की सीमाओं के कारण असीतिम संख्या में कर्मचारियों पर नियंत्रण सम्भव नहीं होता है। कोई भी अधिकारी केवल कुछ ही व्यक्तियों के गतिविधियों का भली–भाँति प्रबन्ध कर सकता है। इसी के 'प्रबन्ध का विस्तार' कहते है। संगठन संरचना के निश्चयन में विभिन्न अधिकारियों के प्रबन्ध विस्तार की सीमा और उसके औचित्य पर ध्यान देना आवश्यक होता है। **स्प्रीगल** के अनुसार– ''प्रबन्ध के विस्तार से आशय उन लोगों की संख्या से है जो प्रत्यक्ष रूप से सत्ता के प्रति उत्तरदायी है। प्रबन्ध के विस्तार के सिद्धान्त के अनुसार किसी भी एकांकी अधिशाषी के पास केवल उतने ही लोग होने चाहिए जिन्हें वह उचित रूप में परामर्श एवं नेतृत्व कर सकता है।'' **मैकफारलैण्ड** के शब्दों में – ''प्रबन्ध का विस्तार अधीनस्थों की वह संख्या है जिसका एक अधिकारी निरीक्षण करता है।'' **बुन एवं कुर्टज** के अनुसार– ''प्रबन्ध के विस्तार से तात्पर्य अधीनस्थों की अनुकूलतम संख्या से है जिसका प्रबन्धक प्रभावशाली ढंग से प्रबन्ध कर सके।''

प्रबन्ध के विस्तार का ग्रेकुनास का सूत्र अथवा सिद्धान्त

बी0 ए0 ग्रेकुनास पेरिस के प्रबन्ध परामर्शदाता थे। उन्होंने सन् 1936 में 'संगठन के सम्बन्ध' नामक एक लेख लिखा। उन्होंने उस लेख में यह बताया कि एक उच्चाधिकारी के अधीन अधीनस्थों की संख्या उतनी होनी चाहिए जितनी पर वह प्रभावी ढंग से नियंत्रण स्थापित कर सके। श्री ग्रेकुनास ने एक गणितीय सूत्र द्वारा अधिकारी और अधीनस्थों के मध्य बनने वाले सम्बन्धों की कुल संख्या का विवचेन किया जिसमें सम्बन्धों को तीन भागों में विभाजित किया है – (अ) प्रत्यक्ष सम्बन्ध (ब) आड़े सम्बन्ध,तथा (स) समूह सम्बन्ध। इन सम्बन्धों के लिए गणितीय सूत्र निम्न है :–

सम्बन्ध		
प्रत्यक्ष सम्बन्ध	**आड़े सम्बन्ध**	**समूह सम्बन्ध**
n	**n (n-1)**	$n(2^{n-1}-1)$

सम्बन्धों की कुल संख्या = $n(2^{n-1} + n-1)$

यहां पर n का आशय अधीनस्थों की संख्या से है।

उदाहरणार्थ – अगर संस्था में A अधिकारी और B, C, D तीन अधीनस्थ हो तो उनके सम्बन्ध और संख्या निम्न प्रकार होगीं :–

1. Direct = 3 (AB, AC, AD)

2. Cross = 6 (BC, BD, CB, CD, DB, DC)

3. Group = 9 (ABC, ACB, ACD, ABD, ADB, ABCD, ACDB, ADBC, ADCB)

इस प्रकार, प्रत्यक्ष सम्बन्ध 3, आड़े सम्बन्ध 6 एवं समूह सम्बन्ध 9 होंगे फलतः कुल सम्बन्ध 3 (2^2+3-1) अर्थात् 18 होंगे।

सम्बन्धों की गणना तालिका

अधीनस्थ संख्या	**सम्बन्ध संख्या**			
	प्रत्यक्ष **n**	**आड़े** **n (n-1)**	**समूह** **$n(2^{n-1}-1)$**	**कुल संख्या** **$n(2^{n-1}+n-1)$**
1	1	.	.	1
2	2	2	2	6
3	3	6	9	18
4	4	12	28	44
5	5	20	75	100
6	6	30	186	222
7	7	42	441	490
8	8	56	1016	1080

यह सिद्धान्त संगठनात्मक सम्बन्धों की विवेचना करने का एक महत्वपूर्ण तकनीक है। संगठनात्मक विस्तार के संग जो जटिलताएं उत्पन्न होती है। उनका प्रदर्शन करने का एक उपयोगी माध्यम है। उदाहरण के लिए, यदि किसी अधिशाषी के अधीन 4 अधीनस्थ कार्यरत हों तो 44 कुल सम्बन्ध होते

है। अब अगर वह 5 अधीनस्थ रखता है तो यह मात्र 1 अधीनस्थ की वृद्धि न होकर कुल सम्बन्ध 100 होंगे जिसमें से अतिरिक्त वृद्धि 56 होगी। इस तथ्य का संकेत **ग्रेकेनास सूत्र** करता है।

आलोचना–

(1) व्यवहार में प्रबन्ध का विस्तार ऐसे अनेक तत्वों से प्रभावित होता है। जिनका वर्णन इस सिद्धान्त में नहीं किया गया है। अतः ग्रेकुनास द्वारा अभिस्थापित प्रबन्ध का अधिकतम विस्तार व्यवहारिक जगत से मेल नहीं खाता है।

(2) इस सिद्धान्त में सम्बन्धों की आवृत्ति तथा प्रकृति के विषय में कुछ भी नहीं बताया गया है।

(3) इस सिद्धान्त में प्राकृतिक स्वाभाविक सम्बन्धों को शामिल नहीं किया गया है।

(4) इसमें सिद्धान्त के क्षेत्र के बारे में नहीं बताया गया है। यह सिद्धान्त स्वाभाविक सम्बन्धों की मात्र संख्या को बताता है ना कि वास्तविक सम्बन्धों की संख्या को।

(5) यह सिद्धान्त अनुकूलतम सम्बन्धों की व्याख्या न करने के कारण अपूर्ण है।

8.6 औपचारिक तथा अनौपचारिक

औपचारिक संगठन– औपचारिक संगठन से आशय एक ऐसे संगठन से है जिसमें प्रबन्ध के प्रत्येक स्तर पर काम करने वाले व्यक्तियों के अधिकार, कर्तव्य, पारस्परिक सम्बन्ध, कार्यक्षेत्र आदि की स्पष्ट रूप से व्याख्या की जाती है। इस प्रकार के संगठन में सत्ता का प्रत्यायोजन ऊपर से नीचे की ओर किया जाता है। इसमें संगठन चाटों का प्रयोग किया जाता है।

चेस्टर आई. बर्नार्ड के अनुसार, ''जब किसी संगठन के दो या दो से अधिक व्यक्तियों की क्रियाओं को किसी निश्चित लक्ष्य की प्राप्ति के लिए चेतनापूर्वक समन्वित किया जाता है, तो ऐसा संगठन अनौपचारिक संगठन कहलाता है।'' **एच.ए. हरबर्ट साइमन** के अनुसार, ''औपचारिक संगठन में अमूर्त एवं बहुत कुछ स्थायी नियमों का समावेश होता है जो प्रत्येक सहभागी मानवीय के व्यवहार को प्रभावित करते है।'' **रोथेलिस बर्गर तथा डिक्सन** के शब्दों में, ''औपचारिक संगठन से तात्पर्य मानवीय अन्तर्सम्बन्धों के ढंग से है जिसकी व्याख्या प्रणालियों, नियमों, नीतियों, तथा अर्थव्यवस्था के सम्बन्धों द्वारा की जाती है।''

विशेषतायें – औपचारिक संगठन की प्रमुख विशेषतायें निम्न हैं : (1) यह संगठन पूर्ण नियोजित होता है। (2) यह पूर्णतः अव्यक्तिगत होता है। (3) यह सामान्य उद्देश्य की पूर्ति हेतु स्वैच्छिक जागरूकता के साथ स्थापित किये जाते है। (4) इसमें प्रबन्ध के प्रत्येक स्तर के अधिकारी के अधिकारों, कर्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों की स्पष्ट रूप से व्याख्या की जाती है। (5) इसमें अधिकारों का प्रत्यायोजन ऊपर से नीचे की ओर होता है। (6) इसमें संगठन चाटों व पुस्तिकाओं का प्रयोग किया जाता है। (7)

इसमें श्रम विभाजन, विशिष्टीकरण और आदेश की एकता पायी जाती है। (8) ऐसे संगठन में निश्चित प्रणालियों, आदेशों, नीतियों, पद्धतियों और संचार व्यवस्था के अधीन कार्य होता है। (9) इसमें सत्ता का निश्चित क्रमबद्धता होती है जिसका पालन कठोरता से किया जाता है।

लाभ– औपचारिक संगठन के प्रमुख लाभ निम्नांकित हैं–

(1) इसमें प्रत्येक अधिकारी के अधिकार, कर्तव्य और दायित्व स्पष्ट रूप से व्याख्यापित होने के कारण किसी कार्य छूट जाने अथवा अतिच्छाद (Overlapping) की स्थिति उत्पन्न नहीं होती है।

(2) औपचारिक संगठन संस्थागत उद्देश्यों की प्राप्ति में सहायक सिद्ध होते है क्योंकि सभी बातें पूर्व नियोजित व स्पष्ट होती हैं।

(3) औपचारिक संगठन में सभी कार्य नियमानुसार व निश्चित सिद्धान्तों के अनुसार किए जाते हैं अतः पक्षपात किये जाने की सम्भावनायें न्यनतम रहती हैं।

(4) इसमें उत्तरदायित्व का खिसकाना और टालमटोली सम्भव नहीं होता है। कोई भी व्यक्ति अपनी असफलता का दोषारोपण अन्य किसी व्यक्ति पर नहीं कर सकता है।

(5) इसमें श्रम विभाजन और विशिष्टीकरण के लाभ प्राप्त होते हैं।

(6) इसमें कर्मचारियों के कार्य और कार्यकुशलता का मूल्यांकन बहुत आसानी से किया जा सकता है और पदोन्नति के बारे में कोई विवाद नहीं रहता है।

(7) अधिकार–दायित्व के स्पष्ट विभाजन से मतभेद की जगह पर मधुर सम्बन्ध का वातावरण रहता है।

(8) इसमें अन्तर्व्यक्तिगत टकराहट भी न्यूनतम रह जाता है।

(9) यह तर्कसंगत, व्यवस्थित और आदेशात्मक होता है।

(10) इसमें अपेक्षाकृत अधिक निश्चितता एवं स्थायित्व रहता है।

(11) सभी साधनों का अनुकूलतम उपयोग सम्भव होते है –

दोष – औपचारिक संगठन में निम्न दोष विद्यमान होते हैं–

(1) इसमें यान्त्रिक रूप से कार्य किया जाता है अतः कर्मचारियों में पहलपन की भावना क्षीण होती है।

(2) ऐसे संगठन में नौकरशाही एवं लालफीताशाही पनपती है जिससे कार्यरत कर्मचारियों में कुण्ठा एवं नैराश्यता बढ़ती है और अनावश्यक विलम्ब होता है।

(3) ऐसे संगठन में मानवीय भावनाओं की अनदेखी की जाती है, जबकि व्यक्ति बिना सामाजिक सम्बन्धों

के जीवित ही नहीं रह सकता है।

(4) यह संगठन अनौपचारिक सम्बन्धों के विकास एवं सन्देशवाहन में बाधा उत्पन्न करता है।

(5) यह संगठन समन्वय एवं नियंत्रण की समस्या को जन्म देता है क्योंकि कोई भी तनिक भी झुकने को तैयार नहीं होता है।

(6) इसमें अधिकार सत्ता के दुरूपयोग की सम्भावना रहती है।

(7) ऐसे संगठन में कर्मचारी नियम, कानून और आदेश के गुलाम बन कर ही रह जाते हैं और वे सामाजिक संगठन की मान्यताओं व भावनाओं को विस्मृत कर देते हैं।

(8) अधिकारी–अधीनस्थ सम्बन्ध तनावपूर्ण होने की सम्भावना रहती है।

(9) ऐसे संगठन में कर्मचारियों का दृष्टिकोण संकीर्ण हो जाता है।

अनौपचारिक संगठन– अनौपचारिक संगठनों की संरचना व्यक्तिगत सम्बन्धों, व्यक्तिगत संदेशवाहन तथा सामान्य ज्ञान के आधार पर होती है। ऐसे संगठन पूर्व नियोजित नहीं होते बल्कि अपने आप ही बन जाते है, संगठन के भीतर भी और बाहर भी। प्रत्येक संस्था में औपचारिक सम्बन्धों के आवरण के नीचे एक जटिल सामाजिक सम्बन्धों का जाल बिछा रहता है। इन्हीं सामाजिक सम्बन्धों को अनौपचारिक संगठन के नाम से जाना जाता है।

कीथ डेविस के अनुसार, ''अनौपचारिक संगठन व्यक्तिगत एवं सामाजिक सम्बन्धों का ऐसा जाल है जिसे स्थापित करने के लिए किसी औपचारिक संगठन की स्थापना की आवश्यकता नहीं पड़ती है।'' **चेस्टर आई. बर्नार्ड** के शब्दों में, ''अनौपचारिक संगठन एक प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति निरन्तर एक–दूसरे के सम्पर्क में रहते हैं, किन्तु उनके सम्बन्धों का नियंत्रण औपचारिक संगठन द्वारा नहीं किया जाता वरन् वे एक दूसरे से अन्तर–सम्पर्क करते है।'' अर्ल पी. स्ट्रांग के अनुसार, ''अनौपचारिक संगठन एक सामाजिक संरचना है जिसका निर्माण व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किया जाता है।''

व्यवहार में यह देखा जाता है कि एक ही विभाग में कार्य करने वाले अथवा समान कार्य करने वाले अथवा एक ही भाषा, जाति, धर्म अथवा एक ही स्थान पर रहने वाले व्यक्ति एक लम्बे समय तक आपस में मिलते–जुलते रहते है तो उनमें स्वाभाविक रूप से स्वतः अनौपचारिक सम्बन्ध स्थापित हो जाते हैं जो बाद में अनौपचारिक संगठन का रूप ग्रहण कर लेता है। वास्तव में औपचारिक और अनौपचारिक दोनों संगठन पूरक है। किसी भी सामूहिक कार्य के करने के लिए दोनों का होना वैसे ही आवश्यक है जैसे कैंची के दोनों फलक।

विशेषतायें – अनौपचारिक संगठन की प्रमुख विशेषतायें निम्न हैं– (1) अनौपचारिक संगठनों का निर्माण स्वतः अर्थात् अपने–आप होता है। (2) ये प्राकृतिक व सामाजिक सम्बन्धों पर आधारित होते है।

(3) ये औपचारिक संगठन के पूरक होते है और हर स्थान और हर स्तर पर पाए जाते है। (4) ऐसे संगठनों का संगठन चार्ट में कोई स्थान नहीं होता है। (5) इनके अपने नियम, परम्पराएं, प्रणालियां और पद्धतियां होती है। जिनका ये पालन करते हैं, परन्तु ये नियम, पद्धतियां व परम्पराएं लिखित नहीं होती है। (6) अनौपचारिक संगठनों का निर्माण सामाजिक समूहों के रीति–रिवाजों, धर्मों, जातियों, भाषाओं, क्षेत्रों, स्वभावों, विचारों, पारस्परिक सम्बन्धों, आदतों व लम्बे समय तक मिलते–जुलते रहने के कारण होता है। (7) अनौपचारिक संगठन सम्पूर्ण संगठन का आन्तरिक भाग है। (8) ये पदों की क्रमबद्धता से मुक्त होते हैं। (9) इनका निर्माण व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति, सामाजिक सन्तुष्टि, सांस्कृतिक मूल्यों की स्थापना, पारिवारिक स्नेह आदि के लिए की जाती है। (10) अनौपचारिक संगठन हमेशा क्षतिकारी नहीं होता है फिर भी समय–समय पर प्रबंधक के कार्य को कठिन बना देता है।

लाभ– अनौपचारिक संगठनों के प्रमुख लाभ निम्न हैं :

(1) ये कर्मचारियों को सन्तुष्टि प्रदान करते हैं और कार्य समूहों में स्थायित्व लाते है।

(2) ये संगठन कर्मचारियों को कार्य के प्रति प्रेरणा प्रदान करते है।

(3) ऐसे संगठनों में पारस्परिक समझ, समन्वय व सहयोग की भावना अधिक होती है।

(4) ये संगठन निर्बाध संदेशवाहन में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते है।

(5) इस प्रकार के संगठनों में कर्मचारियों में आपसी सम्बन्ध मधुर करते है।

(6) इन संगठनों में कर्मचारियों में आपसी सम्बन्ध मधुर होते है।

(7) ये कर्मचारियों में मैत्री भावना, आत्म सम्मान, सुरक्षा मान्यता की भावनायें बढ़ती है।

(8) ये कर्मचारियों को अधिक कार्य करने हेतु अभिप्रेरित करते है।

(9) इनमें ऊचं–नीच, भेदभाव और प्रदर्शन का अभाव रहने से मनोबल ऊंचा होता है।

(10) ये संगठन सांस्कृतिक मूल्यों की स्थापना और उन्हें चिरस्थायी बनाने में सहायक होते हैं।

दोष – अनौपचारिक संगठनों के दोष निम्न हैं–

(1) ये संगठन भीड़ प्रवृत्ति के अनुसार कार्य करते है।

(2) ये संगठन अफवाह और अनावश्यक भ्रम फैलाने में सहायक होते है।

(3) ये संगठन परिवर्तन का विरोध करते है।

(4) ये संगठन अस्थायी एवं अल्प आयु वाले होते है।

(5) ये संगठन कर्मचारियों को समूह के द्वारा स्थापित प्रतिमानों को स्वीकार करने के लिए बाध्य करते है।

(6) ये अकुशल श्रमिकों को अनावश्यक संरक्षण प्रदान करते है।

(7) इनमें उत्तरदायित्व का निर्धारण करना कठिन होता है।

(8) ये संगठन कभी–कभी विनाशकारी एवं नकारात्मक स्वभाव के होते है।

(9) ये संगठन उत्पादन वृद्धि की योजनाओं को निष्क्रिय बना देते हैं।

8.7 औपचारिक व अनौपचारिक संगठन में अन्तर

अन्तर का आधार	औपचारिक संगठन	अनौपचारिक संगठन
उत्पत्ति	इनकी उत्पत्ति अधिकारों के प्रतिनिधायन से होती हैं।	इनकी उत्पत्ति स्वतः पारस्परिक सामाजिक सम्बन्धों के कारण होती हैं।
सम्बन्ध	इसके सदस्यों में अव्यक्तिगत सम्बन्ध होता हैं।	इसके सदस्यों में व्यक्तिगत सम्बन्ध होता हैं।
आकार	इनका आकार लघु एवं बृहद् दोनों हो सकता हैं।	ये प्रायः लघु आकारीय होते है।
स्थायित्व	ये संगठन अधिक स्थायी एवं दीर्घकालीन होते हैं।	ये संगठन अपेक्षाकृत कम स्थायी एवं अल्प आयु वाले होते हैं।
नियोजन	इनकी स्थापना नियोजित ढंग से होती हैं।	इनकी स्थापना हेतु कोई विशेष नियोजन नहीं किया जाता हैं।
लिखित नियम	इनमें नियम, नीतियां, अधिकार, कर्तव्य एवं दायित्व सभी लिखित रूप में होते हैं।	इनमें लिखित रूप से कुछ भी नहीं होता हैं।
संगठन चार्ट व मैन्यूअल	इनमें संगठना चार्ट व मैन्यूअल का प्रयोग किया जाता हैं।	इनमें संगठन चार्ट व मैन्यूअल की विशेष आवश्यकता नहीं पड़ती हैं।
सत्ता का प्रवाह	इसमें सत्ता का प्रवाह ऊपर से नीचे की ओर होता हैं।	इनमें सत्ता का प्रवाह नीचे से ऊपर, ऊपर से नीचे अथवा समतल रूप से चलता हैं।
उद्देश्य	इनका उद्देश्य संगठन के उद्देश्य प्राप्त करना होता हैं।	ये प्रायः सामाजिक सन्तुष्टि के लिए बनाये जाते हैं।
निर्माण	इसका निर्माण शीर्ष अधिकारियों द्वारा	इनका निर्माण उन लोगों के द्वारा

	होता हैं।	होता है जो नियंत्रण करते हैं।
क्षेत्र	इसका क्षेत्र व्यापक होता हैं।	इनका क्षेत्र संकुचित होता हैं।

8.8 सारांश

संगठन चार्ट किसी भी उपक्रम के संगठन संरचना को वर्णित करने का सुगमतम माध्यम होता है। यह संरचना को दर्शाने का एक चित्रमय साधन है। यह एक ऐसा चित्र होता है जिसमें संगठन की संरचना, संगठन के प्रमुख कार्य, मुख्य पदाधिकारी, उनके आपसी सम्बन्ध एवं स्थिति, उनमें निहित सत्ता, पर्यवेक्षण सम्बन्धी अधिकार आदि को प्रदर्शित किया जाता है।

जी. आर. टैरी के शब्दों में – ''संगठन चार्ट एक रेखाचित्र होता है जो संस्था के प्रमुख कार्यों एवं उनके पारस्परिक सम्बन्ध, निरीक्षण की श्रृंखला एवं प्रमुख कार्यों के लिए उत्तरदायी प्रत्येक प्रभावी कर्मचारियों के अधिकारों को दर्शाता है।''

संगठन में संगठन चार्ट तीन प्रकार से बनाये जा सकते हैं।

(1) **लम्बवत चार्ट -** यह चार्ट परम्परागत रूप में संगठन के स्तरों का प्रदर्शन ऊपर से नीचे खड़े रूप में करता है।

(2) **समतल चार्ट –** इस प्रकार के चार्ट में शीर्ष अधिशासी को बायी ओर तथा अन्य अधिशाषियों को एक सीधी रेखा में दायीं ओर दिखाया जाता है।

(3) **वृत्तीय चार्ट –** इस प्रकार के चार्ट में शीर्ष अधिशाषी को वृत्त के बीच में दिखाया जाता है। अन्य अधिशाषियों एवं अधिकारियों को उस वृत्त के केन्द्र में क्रमशः दूर वृत्तों पर प्रदर्शित किया जाता है।

संगठन पुस्तिका या नियमावली संगठन संरचना को समझने एवं प्रस्तुत करने का एक महत्वपूर्ण साधन है। पुस्तिका में कम्पनी के नाम, संक्षिप्त इतिहास, उद्‌देश्य, प्रमुख सिद्धान्त, कार्य–क्षेत्र व कार्य–विवरण, विभागों का वर्गीकरण, विभागाध्यक्षों के नाम, स्तर, अधिकार व कर्तव्य, विभागों के पारस्परिक सम्बन्ध आदि का उल्लेख रहता है।

जिसमें हरेक का उत्तरदायित्व, उनके चयन, प्रशिक्षण पदोन्नति आदि की जानकारी होती है। इसको लिखित रूप में तैयार करने में बहुत समय तथा धन की बर्वादी होती है। साथ ही साथ कर्मचारियों में ऊंच–नीच की भावना भी पैदा होती है।

प्रबन्ध के विस्तार से आशय अधीनस्थों या सहायकों की उस संख्या से होता है जिनका एक प्रबन्धक प्रभावशाली ढंग से पर्यवेक्षण व प्रबन्ध कर सकता है। इस सिद्धान्त को सर्वप्रथम प्रतिपादन करने का श्रेय सैन्य अधिकारी सर यान हैमिल्टन को दिया जाता है तथा गणितीय रूप प्रस्तुत करने का श्रेय बी0 ए0 ग्रेकुनास को है। श्री ग्रेकुनास ने एक गणितीय सूत्र द्वारा अधिकारी और अधीनस्थों के

मध्य बनने वाले सम्बन्धों की कुल संख्या का विवेचना किया है। जिसमें सम्बन्धों को तीन भागों में विभाजित किया है – (अ) प्रत्यक्ष सम्बन्ध, (ब) आड़े सम्बन्ध, तथा (स) समूह सम्बन्ध।

औपचारिक संगठन से आशय एक ऐसे संगठन से है जिसमें प्रबन्ध के प्रत्येक स्तर पर काम करने वाले व्यक्तियों के अधिकार, कर्तव्य, पारस्परिक सम्बन्ध, कार्यक्षेत्र आदि की स्पष्ट रूप से व्याख्या की जाती है। जबकि अनौपचारिक संगठनों की संरचना व्यक्तिगत सम्बन्धों, व्यक्तिगत संदेशवाहन तथा सामान्य ज्ञान के आधार पर होती है।

8.9 महत्वपूर्ण शब्दावली

- **संगठन चार्ट** – संगठन चार्ट एक प्रकार का अभिलेख है जो ऐसे औपचारिक संगठनात्मक सम्बन्धों को जिनका विकास करने की अधिशाषियों की योजना है, दर्शाता है।
- **संगठन पुस्तिका** –संगठन पुस्तिका को संगठन चार्ट का पूरक माना जाता है। इसमें कम्पनी के नाम, संक्षिप्त इतिहास, उद्देश्य, प्रमुख सिद्धान्त, कार्य–क्षेत्र व कार्य–विवरण, विभागों का वर्गीकरण, विभागाध्यक्षों के नाम, स्तर, अधिकार व कर्तव्य, विभागों के पारस्परिक सम्बन्ध आदि का उल्लेख रहता है।
- **प्रबन्ध का विस्तार** – प्रबन्ध का विस्तार अधीनस्थों की उस संख्या का बोध कराता है जिसे एक उच्चाधिकारी अथवा प्रबन्धक सफलतापूर्वक नियंत्रित कर सकता है।
- **औपचारिक संगठन** – औपचारिक संगठन मानवीय अन्तर्संबंधों के ठंग से है जिसकी व्याख्या प्रणालियों, नियमों, नीतियों तथा अर्थव्यवस्था के सम्बन्धों द्वारा की जाती है।
- **अनौपचारिक संगठन** – अनौपचारिक संगठनों की संरचना व्यक्तिगत सम्बन्धों, व्यक्तिगत संदेशवाहन तथा सामान्य ज्ञान के आधार पर होती है। ऐसे संगठन पूर्व नियोजित नहीं होते बल्कि अपने आप ही बन जाते हैं संगठन के अन्दर भी और बाहर भी।

8.10 आवश्यक प्रश्न

1. औपचारिक तथा अनौपचारिक संगठन को समझाइए और दोनों में अन्तर स्पष्ट कीजिए।
2. संगठन चार्ट और पुस्तिका के आशय, महत्व एवं परिसीमाओं की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए।
3. प्रबन्ध के विस्तार से क्या आशय है? प्रबन्ध के विस्तार की मात्रा को प्रभावित करने वाले घटकों की विवेचना कीजिए।
4. ग्रेकुनास के संगठनात्मक सम्बन्धों के सिद्धान्त का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
5. 'प्रबन्ध के विस्तार' की अवधारणा क्या है? इसके ग्रेकुनास के सूत्र की आलोचनात्मक व्याख्या भी कीजिए।

6. ''अनौपचारिक संगठन वह रूप है जिसे प्रबन्धकों को अवश्य अपनाना चाहिए।'' व्याख्या कीजिए। 'औपचारिक' तथा 'अनौपचारिक' संगठन में स्पष्ट अन्तर्भेद कीजिए।

7. वर्तमान स्थितियों में अनौपचारिक संगठन के महत्व का निरूपण कीजिए।

कुछ उपयोगी पुस्तकें

- प्रबन्ध के सिद्धान्त एस के सिंह प्रयाग पुस्तक भवन इलाहाबाद 2006
- व्यावसायिक प्रबन्ध ओ. पी. राय बी. के. सिंह वैभवसम्मी प्रकाशन, वाराणासी, 2012
- औद्योगिक संगठन एवं प्रबन्धन, आर.सी. गुप्ता, साहित्य भवन पब्लिकेशन आगरा, 2003
- व्यवसायिक संगठन, जगदीष प्रकाश, प्रयाग पुस्तक भवन, 2014
- औद्योगिक प्रबन्ध, जे.के. जैन, प्रतीक प्रकाशन आगरा, 2001

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

DCB.Com.-101
प्रबन्ध सिद्धान्त

खण्ड

3

संगठन

इकाई–9 विभागीकरण	141–152
इकाई–10 अधिकार सम्बन्ध	153–166
इकाई–11 प्रतिनिधायन	167–178
इकाई–12 विकेन्द्रीकरण	179–184

विशेषज्ञ समिति

प्रो. अरविन्द कुमार — वाणिज्य संकाय, लखनऊ, विष्वविद्यालय लखनऊ,

प्रो. गीतिका — विभागाध्यक्ष, प्रबन्ध अध्ययन विद्याषाखा, एम.एम.एन.आई.टी. इलाहाबाद

प्रो. एच.के. सिंह — वाणिज्य संकाय, बी.एच.यू. वाराणसी

डॉ. ओमजी गुप्ता — निदेषक, प्रबन्धन अध्ययन विद्याषाखा इलाहाबाद

लेखक

डॉ. मीरा सिंह, — सहायक आचार्य वाणिज्य विभाग, यू.पी. कालेज, वाराणासी, उ.प्र.

सम्पादक

प्रो. सुधीर कुमार शुक्ला — वाणिज्य एवं प्रबन्धन संकाय, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणासी उ.प्र.

संयोजकः

डॉ देवेश रंजन त्रिपाठी, — सह.आचार्य, व्यापार प्रबन्धन, प्रबन्धन अध्ययन विद्याशाखा, उ. प्र. राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

अनुवाद की स्थिति में

मूल लेखक — अनुवाद

मूल सम्पादक — भाषा सम्पादक

मूल परिमापक — परिमापक

Printed year-2021
ISBN:978-93-83328-78-9

(c) उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद सर्वाधिकार सुरक्षित। इस पाठ्यसामग्री का कोई भी अंश उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।
नोट—पाठ्य सामग्री में मुद्रित सामग्री के विचारों एवं आकड़ों आदि के प्रति विश्वविद्यालय उत्तरदायी नहीं है।

खण्ड 02 योजना और संगठन

प्रस्तुत खण्ड प्रबन्ध के सिद्धान्त पाठ्यक्रम का तृतीय खण्ड है, जिसके अर्न्तगत कुल चार इकाइयों को समाहित किया गया है। यह खण्ड मूल रुप से विभागीकरण एवं अधिकार सम्बन्ध की अवधारणा पर आधारित है। इस खण्ड में प्रमुख रुप से विभागीकरण की अवधारणा, गुण व दोष, क्रियाओं का अवंटन, रेखा एवं कर्मचारी संगठन, क्रियात्मक संगठन, प्रतिनिधायन की अवधारणा इसके तत्व, सिद्धान्त तथा महत्त्व एवं प्रभावी प्रतिनिधायन में आने वाली बाधाएँ तथा इनके निराकरण के उपाय, विकेद्रीकरण को अवधारणा, इसके लाभ तथा सीमाओं को सम्मिलित किया गया है। आइये अध्ययनोपयोगी इन खण्ड की सभी इकाईयों की विषय वस्तु को क्रमषः समझाने का प्रयास करेः–

इकाई 09 – विभागीकरण की परिभाषाएँ, विभागीकरण की आवश्यकता, विभागीकरण के आधार, विभागीकरण के गुण व दोष, क्रियाओं का आबंटन।

इकाई 10 – में रेखा संगठन, रेखा एवं कर्मचारी संगठन, रेखा एवं कर्मचारी संगठन, रेखा संगठन तथा रेखा एवं कर्मचारी संगठन् में अन्तर, क्रियात्मक संगठन।

इकाई 11 – में प्रतिनिधायन के प्रमुख तत्व, प्रतिनिधायन के सिद्धान्त, प्रतिनिधायन का महत्त्व, प्रभावी प्रतिनिधायन में बाधाएँ, प्रभावी प्रतिनिधायन की बाधाओं को पार करने के लिये सुझाव।

इकाई 12 – विकेन्द्रीकरण को प्रभावित करने वाले घटक, विकेन्द्रीकरण के लाभ, विकेन्द्रीकरण की सीमाएँ।

इकाई– 09 : विभागीकरण

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य

9.1 प्रस्तावना

9.2 विभागीकरण का परिभाषाएं

9.3 विभागीकरण की आवश्यकता

9.4 विभागीकरण के आधार

9.4.1 कार्यानुसार विभागीकरण

9.4.2 उत्पादानुसार विभागीकरण

9.4.3 क्षेत्रानुसार विभागीकरण

9.4.4 ग्राहकानुसार विभागीकरण

9.4.5 प्रक्रियानुसार विभागीकरण

9.5 विभागीकरण के गुण–दोष

9.6 क्रियाओं का आबंटन

9.7 सारांश

9.8 महत्वपूर्ण शब्दावली

9.9 आवश्यक प्रश्न

9.0 उद्देश्य

इस अध्याय के अध्ययन से आप निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर दे पायेंगे।

- ❖ विभागीकरण से आप क्या समझते हैं ?
- ❖ प्रक्रियानुसार विभागीकरण क्या है ?
- ❖ कार्यानुसार विभागीकरण के किन्हीं चार हानियों को गिनाइए ?
- ❖ विभागीकरण के गुण–दोष बताइए ?
- ❖ विभागीकरण के लक्षण बताइए ?

9.1 प्रस्तावना

विभागीकरण संगठनात्मक संरचना के समतलीय आयाम से सम्बन्धित होता है। विभागीकरण का आशय किसी व्यावसायिक उपक्रम को विभिन्न विभागों व उप विभागों में बांटना होता है। किसी क्रियाशील संगठन को छोटी, लोचपूर्ण, स्वतन्त्र एवं सुविधाजनक इकाइयों में विभाजन ही विभागीकरण कहलाता है। उदाहरण के लिए, एक व्यावसायिक प्रतिष्ठान को हम क्रय , उत्पादन, वित्त, सविवर्गीय, विक्रय आदि विभागों में विभागीकृत कर सकते है। व्यवसाय के स्वभाव एवं आकार को ध्यान में रखते हुए यदि विभागीय प्रबन्धक चाहे तो कार्यकुशलता बढ़ाने हेतु वह अपने विभाग को समान प्रकार की क्रियाओं के आधार पर अनेक उप–विभागों में भी बांट सकता है। जैसे– विक्रय विभाग को प्रबन्धक द्वारा विज्ञापन विभाग, ग्राहक सेवा विभाग, विपणन अनुसन्धान विभाग, निर्यात सम्वर्द्धन विभाग आदि उप–विभागों में विभाजित किया जा सकता है।

9.2 विभागीकरण का परिभाशाएं

कुण्ट्ज एवं ओ डोनेल के अनुसार, ''विभागीकरण एक विशाल कार्यात्मक संगठन को छोटी–छोटी एवं लोचपूर्ण प्रशासकीय इकाइयों में बांटने की एक प्रक्रिया है।''

पीअर्स एवं राबिन्सन के शब्दों में, ''विभागीकरण कुछ संगठनात्मक कार्यों को पूरा करने हेतु कृत्यों, प्रक्रियाओं और संसाधनों का तार्किक इकाइयों में समूहीकरण है।''

विलियस एफ. ग्लूक के अनुसार, ''सम्पूर्ण उपक्रम के कार्यों को विभाजित करने अथवा कृत्यों के समूह को स्थापित करने के तरीके को ही विभागीकरण कहते हैं।'' इस प्रकार स्पष्ट है कि विभागीकरण किसी बड़े संगठन को छोटी–छोटी स्वतन्त्र एवं लोचदार इकाइयों में बांटने की प्रक्रिया है।

विभागीकरण के प्रमुख लक्षण निम्नलिखित है :–

(1) यह संगठन को छोटी–छोटी इकाइयों में विभाजित करता है।

(2) इसमें व्यक्ति और क्रिया दोनों का समूहीकरण किया जाता है।

(3) प्रत्येक इकाई अथवा विभाग अपनी क्रियाओं में लगभग स्वतन्त्र होता है।

(4) इसका उद्‌देश्य विशिष्टीकरण के लाभों की प्राप्ति और कार्यकुशलता में वृद्धि करना होता है।

(5) विभागों का नामकरण यूनिट, शाखा, डिवीजन, ब्यूरो, डिपार्टमेण्ट, कार्यालय आदि हो सकता है।

9.3 विभागीकरण की आवश्यकता

विभागीकरण की आवश्यकता अग्रांकित कारणों से होती है :–

(1) किसी एक अधिशासी की शारीरिक एवं मानसिक कार्यक्षमता प्रतिष्ठान के कार्य की तुलना में सीमित होने के कारण विभागीकरण करना जरूरी होता है।

(2) श्रम विभाजन एवं विशिष्टीकरण के प्रयोग विभागीकरण द्वारा ही सम्भव होते हैं।

(3) प्रबन्धकों के विकास हेतु भी विभागीकरण आवश्यक होता है।

(4) अधिकार प्रतिनिधायन एवं विकेन्द्रीकरण हेतु विभागीकरण आवश्यक होता है।

(5) स्वायत्तता की भावना के कारण निर्णयों की गुणवत्ता विभागीकरण से बढ़ती है।

(6) विभागीकरण से प्रबन्धकों के कार्यों का मूल्यांकन करना सरल हो जाता है।

(7) विभागीकरण प्रबंधकीय कार्य कुशलता में गुणोंत्तर बढ़ोत्तरी करता है।

9.4 विभागीकरण के आधार

किसी उपक्रम में विभागीकरण निम्नलिखित आधारों में से किसी एक या अधिक तरीके से किया जा सकता है :–

9.4.1 कार्यानुसार विभागीकरण

कार्यानुसार विभागीकरण सर्वाधिक महत्वपूर्ण और लोकप्रिय है जिसको प्रारम्भ करने का श्रेय श्री ओलिवर शैल्डन को है। इससें विभाग मूल कार्यों के आधार पर बनाए जाते हैं जैसे– क्रय विभाग, उत्पादन विभाग, विपणन विभाग, वित्त विभाग आदि। इन विभागों की संख्या उपक्रम की क्रियाओं पर निर्भर करती है। जैसे–जैसे उपक्रम की क्रियाएं बढ़ती जाती हैं, वैसे–वैसे विभागों की संख्या बढ़ती जाती है। बाद में विद्यमान विभागों को उप–विभागों में विभक्त किया जा सकता है। जैसे–विपणन विभाग को विज्ञापन, विक्रय अनुसन्धान में उप–विभाजित किया जा सकता है। कार्यानुसार विभागीकरण को निम्नांकित चित्र से स्पष्ट किया गया है:–

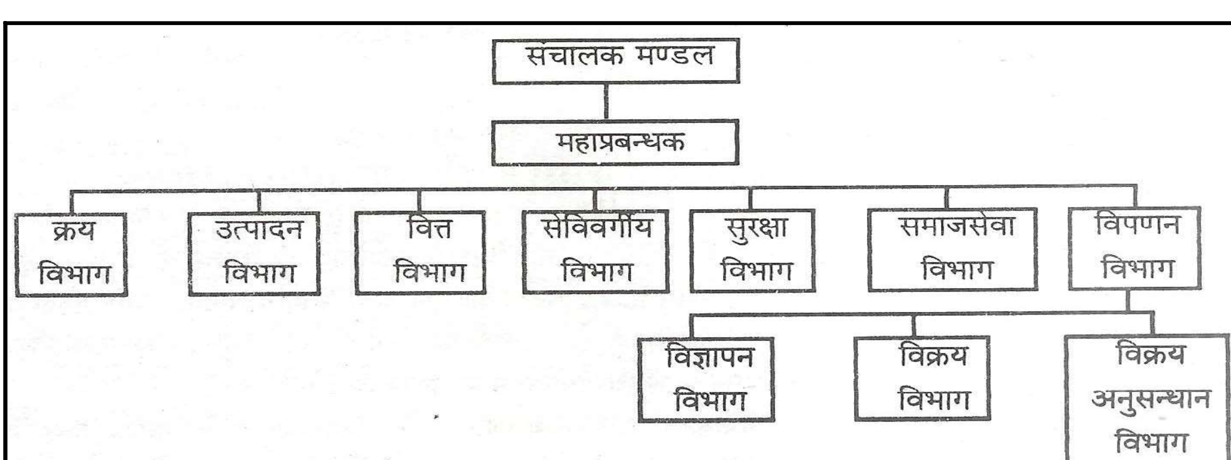

गुण–

(1) समान क्रियाओं के विशिष्ट विभाग में समाहित होने से विशिष्टीकरण और कुशलता को प्रोत्साहन मिलता है।

(2) इसके द्वारा मानवीय संसाधन का श्रेष्ठतम उपयोग किया जा सकता है।

(3) यह मितव्ययी, तर्क–सम्मत तथा समयोचित पद्धति है।

(4) यह पद्धति विभागीय स्तर पर समन्वय को सम्भव और सुगम बनाती है।

(5) इसमें अनुसंधान और विकास कार्य को प्रोत्साहन मिलता है।

(6) इसमें आदेश एवं निर्देश की एकता बनी रहती है।

(7) यह प्रभावशाली नियंत्रण स्थापित करने में सहयोग प्रदान करता है।

(8) इससे नियुक्तीकरण और प्रशिक्षण में सहायता मिलती है।

(9) यह सबसे सरल पद्धति है।

(10) यह एक लोचशील पद्धति है।

दोष–

(1) इसमें केन्द्रीकरण के दोष उत्पन्न हो जाते हैं।

(2) निर्णयन में विलम्ब होता है क्योंकि विभागीय समन्वय में शिथिलता रहती है।

(3) इसमें नियंत्रण का आभाव रहता है।

(4) इसमें पदोन्नति के सीमित अवसर ही कर्मचारियों को उपलब्ध होते हैं।

(5) यह पद्धति छोटे उपक्रमों के लिए तो उपयुक्त है परन्तु बड़े उपक्रम में एक व्यक्ति के लिए इतना अधिक उत्तरदायित्व ग्रहण करना मुश्किल हो जाता है।

(6) इसका उपयोगिता क्षेत्र सीमित है क्योंकि जिन संस्थानों में विविध उत्पादों का निर्माण होता है, वहां यह पद्धति अनुपयुक्त रहती है।

(7) विभिन्न प्रकार की उत्पाद रेखाओं का उपयोग असन्तोषजनक रहता है।

9.4.2 उत्पादानुसार विभागीकरण

विभागीकरण की इस पद्धति के अन्तर्गत किसी उपक्रम में विभागों की स्थापना उसके द्वारा निर्मित विभिन्न उत्पादों के आधार पर की जाती है। जिन बड़े उपक्रमों में विभिन्न वस्तुओं अथवा

सेवाओं का उत्पादन होता है उनमें हरेक वस्तु या निकट–सम्बन्धित वस्तु के लिए एक स्वतंत्र विभाग की स्थापना कर दी जाती है जो उपक्रम की सम्पूर्ण संरचना के अन्तर्गत कार्य करती है। इस प्रकार के विभागीकरण में एक उत्पाद से सम्बन्धित सभी कार्यों जैसे उत्पादन, वित्त, विक्रय, क्रय आदि के लिए एक अधिकारी उत्तरदायी होता है और उसे उन सभी क्रियाओं के बारे में विस्तृत अधिकार प्राप्त होते हैं। यह उत्पादानुसार विभागीकरण संगठन संरचना के द्वितीय स्तर पर ही किया जाता है। पहले सम्पूर्ण उपक्रम के लिए कार्यानुसार विभागीकरण होता है और ये विभाग, केन्द्रीय कार्यानुसार विभाग होते हैं। फिर उत्पाद के आधार पर उपक्रम को विभाजित करके प्रत्येक उत्पाद के लिए एक अधिकारी नियुक्त किया जाता है। वास्तव, में एक अतिरिक्त स्तर होता है, जिसके अन्तर्गत फिर वही मूल केन्द्रीय विभाग कार्यानुसार खोले जाते है। इसे निम्नांकित रेखाचित्र के द्वारा स्पष्ट किया गया है:–

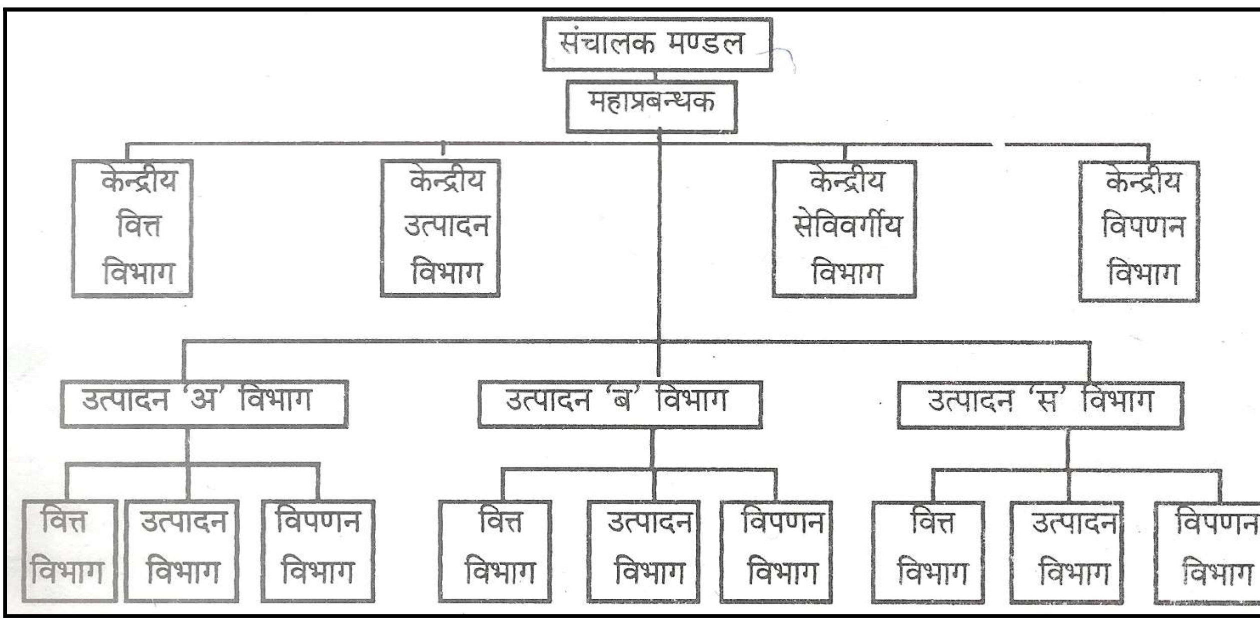

गुण –

(1) इसमें विशिष्टीकरण और तकनीकी कुशलता का अनुकूलतम उपयोग होता है।

(2) इस पद्धति में समन्वय एवं नियंत्रण में आसानी रहती है।

(3) इसमें उत्तदायित्व का निर्धारण सुगमता से हो सकता है।

(4) इसके अन्तर्गत प्रबन्धकीय विकास सरलता से किया जा सकता है।

(5) एक ही वस्तु पर समस्त ध्यान केन्द्रित होने से कार्य–विस्तार में सुविधा होती है।

(6) यह पद्धति बड़े आकार की संस्थाओं के लिए अधिक उपयुक्त रहती है।

(7) इसमें उपक्रम को बदलते वातावरण में अधिक लोचशीलता और अनुकूलता को अपनाने में

सुविधा रहती है।

(8) इसमें वित्त और औद्योगिक सम्बन्ध के मामलों में केन्द्रित नियंत्रण से आसानी रहती है।

दोष –

(1) इसमें प्रबन्धकीय लागतों में वृद्धि होती है।

(2) यह केवल बड़े उपक्रमों के लिए उपयुक्त है, लघु उपक्रमों के लिए नहीं।

(3) इसमें प्रत्येक स्तर पर सेवा व कार्यों की दोबारगी निहित होती है।

(4) इस पद्धति में उच्च प्रशासनिक स्तर पर नियंत्रण मुश्किल होता है क्योंकि प्रत्येक उत्पाद संभाग के प्रबन्धक अधिकाधिक स्वायत्तता चाहते है।

(5) इसमें प्रयत्नों व सामाग्रियों का पूर्ण उपयोग नहीं हो पाता है।

9.4.3 क्षेत्रानुसार विभागीकरण

इस पद्धति में विभागों का निर्माण भौगोलिक क्षेत्र के अनुसार किया जाता है। बड़े आकार की संस्थाओं, जिनका राष्ट्रव्यापी कारोबार होता है, के लिए प्रशासनिक सुविधा की दृष्टि से क्षेत्रीय इकाइयों में विभाजन उचित रहता है। उदाहरण के लिए भारतीय रेलवे, बीमा और बैकिंग कम्पनियां ऐसा विभागीकरण सम्पूर्ण क्षेत्र को छोटे–छोटे भौगोलिक क्षेत्र में विभक्त करके करती है।

क्षेत्रानुसार विभागीकरण का प्रदर्शन रेखाचित्र द्वारा किया गया है :–

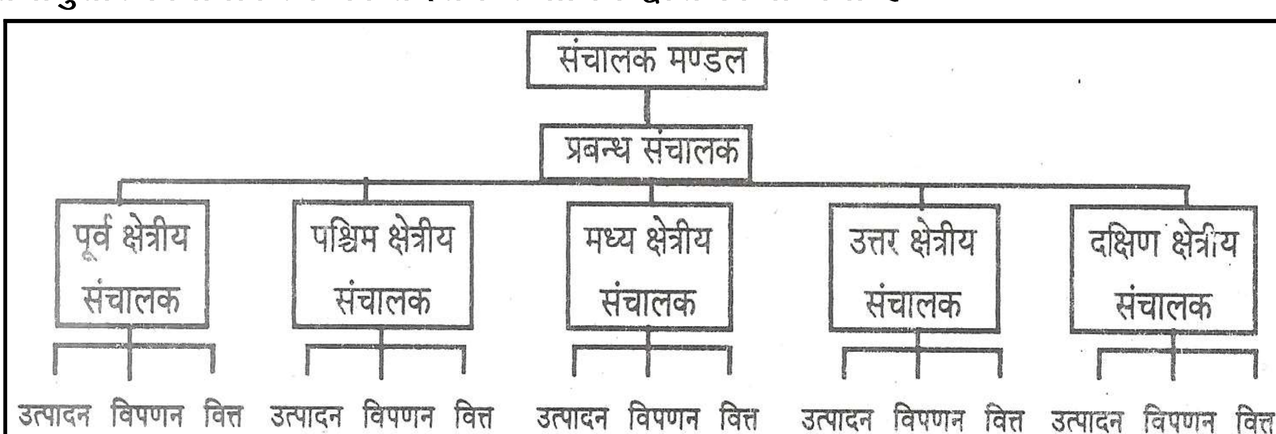

गुण –

(1) व्यावसायिक कार्यों के सम्पादन में स्थानीय कुशलताओं और सुविधाओं का लाभ मिलता है।

(2) ग्राहकों के निकट विभागीय कार्यालय खुलने से आक्रामक विपणन सम्भव हो सकता है।

(3) विविध किस्म की लागत जैसे वायु–प्रेषण व्यय, सुपुर्दगी व्यय तथा विक्रेताओं के यात्रा व्यय

कम हो जाते हैं।

(4) क्षेत्रीय लोगों का सहयोग व सहानुभूति प्राप्त करके व्यवसाय का विकास एवं विस्तार सम्भव होता है।

(5) बड़े आकार की इकाइयों, जिनका राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय बाजार हो, के लिए यह उपयुक्त रहती है।

(6) प्रबन्धकीय कार्यों में सुगमता रहती है।

(7) कर्मचारियों के प्रशिक्षण की उपयुक्त व्यवस्था की जा सकती है।

(8) क्षेत्रीय ग्राहकों की ओर विशेष ध्यान दिया जा सकता है।

(9) विभागीकरण की यह विधि क्षेत्रीय प्रबन्धकों को समान अधिकार एवं उत्तरदायित्व प्रदान करती है अतः इसमें भौगोलिक आधार पर समन्वय में सुधार होता है।

(10) यह निर्णयन में स्थानीय सहभागिता को प्रोत्साहित कर सकता है।

दोष –

(1) क्षेत्रीय स्तर पर प्रशासनिक व्यवस्था करने के कारण लागत अधिक आती है।

(2) यह छोटे उपक्रमों के लिए उपयुक्त नहीं है।

(3) निर्माणी संस्थाओं के अतिरिक्त अन्य इकाइयों में इसका उपयोग नहीं किया जा सकता है।

9.4.4 ग्राहकानुसार विभागीकरण

विभागीकरण की इस विधि के अन्तर्गत उपक्रम में विभागीकरण ग्राहकों के अनुसार किया जाता है। इस प्रकार का विभागीकरण विक्रय कार्य में अधिकतर पाया जाता है। जैसे– सायकिल बेचने वाली संस्था बच्चों, पुरूषों, स्त्रियों के सायकिल वाले विभाग में विभाजन कर सकती है। बड़ा होटल अपने यहां सामिष भोजन, निरामिष भोजन, विभाग के विचार बना करके विभागीकरण कर सकता है। बड़ा पुस्तक विक्रेता अपने यहां अग्रांकित प्रकार का संगठन रेखाचित्र अपना सकता है :–

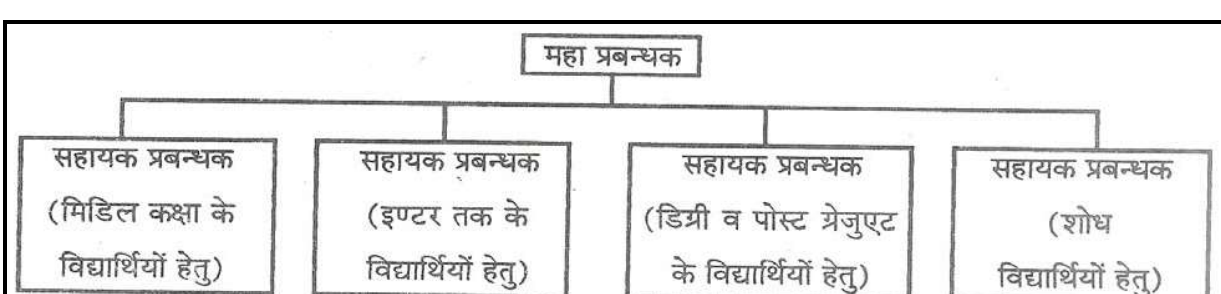

गुण –

(1) ग्राहकों के स्वभाव के अनुसार उनकी रूचि व सुख–सुविधा का ध्यान किया जाता है।

(2) विशिष्ट योग्यता व विस्तृत ज्ञान का पूर्ण उपयोग किया जा सकता है।

(3) इसमें संचालन लागत अधिक आती है।

(4) इसकी उपयोगिता विक्रय विभाग तक ही सीमित है।

(5) छोटी संस्थाओं के लिए यह विधि अनुपयुक्त होती है।

दोष –

(1) विभागों में समन्वय कठिन होता है।

(2) इसमें संचालन लागत अधिक आता है।

(3) यह छोटी संस्थाओं के लिए अनुपयुक्त है।

(4) तेजी अथवा मन्दी के समय समायोजन कठिन होता है।

9.4.5 प्रक्रियानुसार विभागीकरण

कुछ वस्तुएं अपनी पूर्ण निर्मित अवस्था में आने के लिए विभिन्न प्रक्रियाओं से होकर गुजरती हैं। जब निर्माण क्रियाओं को उन्हीं प्रक्रियाओं के अनुसार पृथक्–पृथक् विभागों में विभक्त कर दिया जाता है तो यह प्रक्रियानुसार विभागीकरण कहलाता है। उदाहरण के लिए, कपड़ा निर्माण करने वाली संस्था कपास की ओटाई, सूत की कताई, बुनाई, रंगाई और छपाई विभाग में विभाजन कर सकती है। इसका प्रदर्शन अग्रांकित चित्र द्वारा किया गया है।

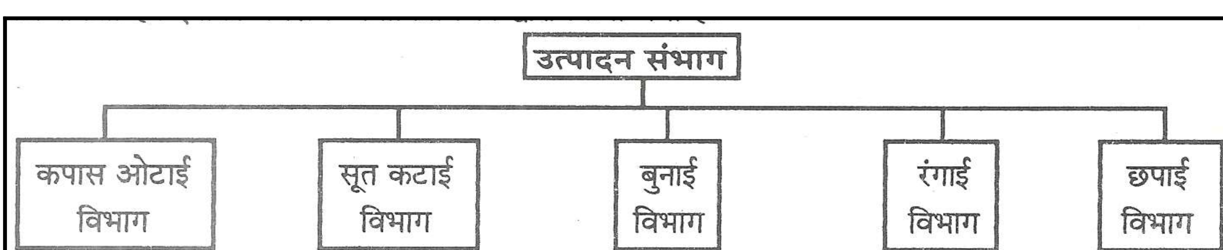

गुण –

(1) उत्पादन की विभिन्न प्रक्रियाओं पर अधिकाधिक ध्यान दिया जा सकता है।

(2) इससे विशिष्टीकरण प्रोत्साहित होता है।

(3) इसमें क्रियाओं को सूक्ष्मता से पूरा किया जा सकता है।

(4) मशीन व साज–सज्जा में विविध प्रकार की बचतें होती हैं।

(5) यह एक वैज्ञानिक विधि है जिसमें साधनों के समुचित उपयोग से लागत नियंत्रण सम्भव होता है।

दोष –

(1) समन्वय की समस्या उत्पन्न होती है।

(2) छोटी इकाइयों के लिए यह अनुपयुक्त है।

(3) इसमें बहुत अधिक पूंजी की आवश्यकता कुशल संचालन हेतु पड़ती है।

(4) निर्माणी संस्थाओं के अतिरिक्त अन्य इकाइयों में इसका उपयोग नहीं किया जा सकता है।

(5) प्रक्रिया विभागों पर लाभ उत्तरदायित्व सौंपना सम्भव नहीं होता है।

9.5 विभागीकरण के गुण–दोष

गुण –(1) विभागीकरण करने से उपक्रम की क्रियाओं पर प्रभावी नियंत्रण सम्भव होता है।

(2) विभागीकरण में कर्मचारियों के अधिकार व दायित्वों का स्पष्ट विभाजन तथा व्याख्या की जाती है जिससे उत्तरदायित्व निर्धारण सुनिश्चित होता है।

(3) प्रत्येक विभाग तथा उसके कर्मचारियों के कार्यों का मूल्यांकन करना सरल हो जाता है।

(4) विभागीय बजट सरलतापूर्वक तैयार और क्रियान्वित किये जा सकते हैं।

(5) विभागीय प्रबन्धकों के द्वारा स्वतन्त्र रूप से निर्णयन के कारण योग्यता में वृद्धि होती है।

(6) प्रत्येक विभाग के लिए आवश्यक कर्मचारियों, पदों तथा अन्य बातें सरलतापूर्वक ज्ञात की जा सकती है।

(7) विभागीकरण से विकेन्द्रीकरण के सभी लाभ प्राप्त होते हैं।

(8) अधिकारों के उचित प्रतिनिधायन से अधिकारों का दुरूपयोग और दायित्वों के खिसकाने की प्रवृत्ति पर रोक लगती है।

दोष –

(1) विभिन्न विभागों के लिए योग्य कर्मचारियों एवं अधिकारियों का चयन करना एक जटिल समस्या बन जाती है।

(2) पृथक्–पृथक् विभाग होने के कारण प्रबन्धकीय प्रशिक्षण की व्यवस्था मुश्किल होती है।

(3) विभागीय प्रबन्धक केवल अपने विभागीय मामलों में दक्ष होते है, अत अन्य विभागों में आकस्मिक

स्थानान्तरण जोखिमपूर्ण होता हैं।

(4) प्रत्येक विभाग अपने कार्य में इतना अधिक व्यस्त एवं केन्द्रित हो जाता है कि अन्य विभागों से समन्वय स्थापित करने में बड़ी कठिनाई होती है।

(5) यह एक खर्चीली व्यवस्था है।

(6) यह छोटे उपक्रमों के लिए अनुपयोगी होती है क्योंकि वे संगठन संरचना पर अधिक व्यय करने की स्थिति में नहीं होते हैं।

(7) विभागीकरण से विभिन्न क्रियाओं में इतना विकेन्द्रीकरण हो जाता है कि नीतियों में विभिन्नता आ जाती है।

(8) विभागीय कर्मचारियों का दृष्टिकोण संकुचित हो जाता है।

9.6 क्रियाओं का आबंटन

प्रबन्धक के लिए अपने अधीनस्थों के मध्य निश्चित कार्य आवंटित करना एक प्रमुख उत्तरदायित्व है। वास्तव में, सैद्धान्तिक आधार पर क्रियाओं का वर्गीकरण कार्य, उत्पाद, प्रक्रिया, क्षेत्र, ग्राहक, संख्या आदि के आधार पर किया जाता रहा है, परन्तु व्यवहार में, इससे नियंत्रण और समन्वय नहीं हो पाता है। प्रबन्धक को उत्पाद के स्वभाव, संगठन संरचना, लागत, सुविधा, समन्वय की सुविधा, अधिकारी की रूचि, प्लान्ट अभिन्यास आदि को ध्यान में रखते हुए एक वर्ग की कुछ क्रियाओं को दूसरे वर्ग में जोड़कर या दूसरे वर्ग की पहले में जोड़कर समायोजन करना आवश्यक होता है। क्रियाओं का विविध कनिष्ठों में उचित प्रकार से आबंटन कार्य–सम्पादन हेतु अपरिहार्य होता है।

विचारणीय घटक—व्यवहार में क्रियाओं में आबंटन के समय निम्न घटकों पर विशेष ध्यान रखना चाहिएः

(1) रूचि और ज्ञान – उसी अधिकारी और कर्मचारी को वह कार्य विशेष दिया जाना चाहिए जिसमें उनकी रूचि और विशेष योग्यता हो। उदाहरण के लिए, अध्यापन हेतु विभागाध्यक्ष को प्रबन्ध अध्यापन की रूचि रखने वाले अध्यापक को लेखांकन पढ़ाने को देना अतार्किक कहा जायेगा।

(2) पर्यवेक्षण की सुविधा – क्रियाओं के आबंटन में पर्यवेक्षण की सुविधा को भी ख्याल में रखना चाहिए। किसी भी अधिकारी की अधीनस्थ कर्मचारियों के कार्य के निरीक्षण करने की सीमित क्षमता होती है। अतः पर्यवेक्षण की सुविधा के लिए क्रियाओं का आबंटन करते समय अधीनस्थ की निर्देशन क्षमता, प्रशिक्षण अनुभव, उपलब्ध समय आदि का ध्यान रखना चाहिए।

(3) ध्यानाकर्शण और प्रतियोगिता का स्वभाव – यदि कोई अधिकारी उदासीन, अकुशल, अनुभवहीन होने के कारण कार्य ठीक प्रकार से निष्पादित न कर पाता हो तो वह कार्य दूसरे

सक्रिय अधिकारी को हस्तान्तरित करना ठीक रहता है। कभी–कभी दो अधिकारियों में रूचि और कुशलता उत्पन्न करने के लिए क्रियाओं का आबंटन इस प्रकार से किया जाता है कि स्वतंत्र प्रतियोगिता का सृजन हो सके।

(4) **निरीक्षण का पृथकत्व** – क्रियाओं के आबंटन में ध्यान रखना चाहिए कि जिस अधिकारी या विभाग को कार्य निष्पादन की जिम्मेदारी हो उसे क्रिया के निरीक्षण से अलग रखना चाहिए।

(5) **समन्वय** –क्रियाओं के आबंटन में आवश्यक है कि गतिविधियों का दोहरापन या छूट जाना न हो करके आपस में समन्वय, सहयोग, सुसंगति आदि बनी रहे।

(6) **नीति नियंत्रण** – क्रियाओं के आबंटन में नियंत्रण कार्य उसे ही दिया जाना चाहिए जो कि उसका सही अर्थ समझ करके क्रियान्वित करे।

(7) **घनिश्ठता** – उसी कर्मचारी को वह कार्य दिया जाना चाहिए जो कि पहले से कार्य के स्वभाव से घनिष्ठ रूप से जुड़ा रहा हो।

9.7 सारांश

किसी क्रियाशील संगठन को छोटी, लोचपूर्ण, स्वतन्त्र एवं सुविधाजनक इकाइयों में विभाजन ही विभागीकरण कहलाता है। यह व्यावसायिक उपक्रम को विभिन्न विभागों व उप विभागों में बांटना से सम्बन्धित है। उदाहरण के लिए, एक व्यावसायिक प्रतिष्ठान को हम क्रय, उत्पादन, वित्त, सेविवर्गीय, विक्रय आदि विभागों से विभागीकृत कर सकते है।

कुण्ट्ज एवं ओ डोनेल के अनुसार, ''विभागीकरण एक विशाल कार्यात्मक संगठन को छोटी–छोटी एवं लोचपूर्ण प्रशासकीय इकाइयों में बांटने की एक प्रक्रिया है।''

विभागीकरण की विशेषता के कारण इसका महत्व संगठन में तेजी से दिन–प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। इसके द्वारा प्रबंधकीय कार्यकुशलता में गुणोत्तर बढ़ोत्तरी होती है। किसी भी उपक्रम में इसे विभिन्न आधारों में से किसी एक या अधिक तरीके का प्रयोग किया जा सकता है –कार्यानुसार विभागीकरण, उत्पादानुसार विभागीकरण, क्षेत्रानुसार विभागीकरण, ग्राहकानुसार विभागीकरण, समयानुसार विभागीकरण, प्रक्रियानुसार विभागीकरण, संख्यात्मक विभागीकरण, एवं मिश्रित विभागीकरण।

9.8 महत्वपूर्ण शब्दावली

- **विभागीकरण** –विभागीकरण किसी बड़े संगठन को छोटी–छोटी स्वतन्त्र एवं लोचदार इकाईयों में बांटने की प्रक्रिया है।
- **कार्यानुसार विभागीकरण** –कार्यानुसार विभागीकरण में विभाग मूल कार्यों के आधार पर बनाए जाते हैं जैसे– क्रय विभाग, उत्पादन विभाग, विपणन विभाग, वित्त विभाग आदि।

- **उत्पादानुसार विभागीकरण** –विभागीकरण की इस पद्धति के अन्तर्गत किसी उपक्रम में विभागों की स्थापना उसके द्वारा निर्मित विभिन्न उत्पादों के आधार पर की जाती है।
- **ग्राहकानुसार विभागीकरण** – विभागीकरण की इस विधि के अन्तर्गत उपक्रम में विभागीकरण ग्राहकों के अनुसार किया जाता है। इस प्रकार का विभागीकरण विक्रय कार्य में अधिकतर पाया जाता है।
- **प्रक्रियानुसार विभागीकरण** – कुछ वस्तुएं अपनी पूर्ण निर्मित अवस्था में आने के लिए विभिन्न प्रक्रियाओं से होकर गुजरती हैं। जब निर्माण क्रियाओं को उन्हीं प्रक्रियाओं के अनुसार पृथक्–पृथक् विभागों में विभक्त कर दिया जाता है तो यह प्रक्रियानुसार विभागीकरण कहलाता है।

9.9 आवश्यक प्रश्न

1. किसी बड़े उपक्रम में विभागीकरण की आवश्यकता क्यों पड़ती हैं ? नये विभागों का सृजन करते समय किन विशिष्ट तत्वों पर ध्यान देना चाहिए ? वर्णन कीजिए।
2. विभागीकरण के प्रमुख आधार क्या–क्या हैं ? उनके सापेक्षिक गुण–दोषों की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए।
3. विभागीकरण के आशय, लाभों व सीमाओं पर एक सुबोध टिप्पणी लिखिए।
4. कार्यानुसार और उत्पादानुसार विभागीकरण में अन्तभेंद कीजिए।
5. किसी विशेष विभाग को क्रियाओं का आबंटन करते समय एक प्रबन्धक को किन–किन बातों को ध्यान में रखना चाहिए ?
6. संगठन में क्रियाओं के आबंटन का आशय और उसके विचारणीय घटक बताइए ?

कुछ उपयोगी पुस्तकें

- प्रबन्ध के सिद्धान्त एस के सिंह प्रयाग पुस्तक भवन इलाहाबाद 2006
- व्यावसायिक प्रबन्ध ओ. पी. राय बी. के. सिंह वैभवसम्मी प्रकाशन, वाराणासी, 2012
- औद्योगिक संगठन एवं प्रबन्धन, आर.सी. गुप्ता, साहित्य भवन पब्लिकेषन आगरा, 2003
- व्यवसायिक संगठन, जगदीष प्रकाश, प्रयाग पुस्तक भवन, 2014
- औद्योगिक प्रबन्ध, जे.के. जैन, प्रतीक प्रकाशन आगरा, 2001

इकाई– 10 अधिकार सम्बन्ध

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य

10.1 प्रस्तावना

10.2 रेखा संगठन

10.3 रेखा एवं कर्मचारी संगठन

10.4 'रेखा संगठन' तथा 'रेखा एवं कर्मचारी संगठन' में अन्तर

10.5 क्रियात्मक संगठन

10.6 रेखा और क्रियात्मक संगठन में अन्तर

10.7 सारांश

10.8 महत्वपूर्ण शब्दावली

10.9 आवश्यक प्रश्न

10.0 उद्देश्य

इस अध्याय के अध्ययन से आप निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर दे पायेंगे।

- अधिकार से आपका क्या तात्पर्य है ?
- अधिकार के तत्व बताइये।
- रेखा और स्टाफ अधिकार की विशेषताएं लिखिए।
- रेखा एवं स्टाफ अधिकार पर टिप्पणी लिखिए।
- रेखा एवं कर्मचारी अधिकारियों में अन्तर कीजिए।
- रेखा संगठन किस प्रकार क्रियात्मक संगठन से भिन्न है।

10.1 प्रस्तावना

'अधिकार' या 'सत्ता' को प्रबन्ध की कुंजी माना जाता है। अधिकार से आशय किसी व्यक्ति को प्राप्त उस वैधानिक शक्ति से होता है जिसके आधार पर वह अपने से नीचे के व्यक्तियों को आदेश दे सकता है। प्रबन्धकीय अधिकार एक व्यक्ति को अपने उच्चाधिकारी से प्राप्त होता है जिसके आधार पर वह अपने अधीनस्थों से उपक्रम के लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु काम करा सकता है। ये अधिकार विविध किस्म

के होते हैं, जैसे– अधीनस्थों को आदेश देने का अधिकार, दोषी अधीनस्थों को दण्ड देने का अधिकार, उपक्रम का प्रतिनिधित्व करने का अधिकार, कर्मचारियों की नियुक्ति का अधिकार, उत्पादों के मूल्य निर्धारण का अधिकार आदि। समस्त अधिकार सर्वोच्च प्रशासन (जैसे– कम्पनी की दशा में संचालक मण्डल) के पास केन्द्रित होते हैं और आवश्यकतानुसार शीर्ष प्रशासन अधिकारों का प्रतिनिधायन या विकेन्द्रीकरण करता है। यही भाव अधिकार की निम्न परिभाषाओं से भी स्पष्ट होता है :

(1) **हेनरी फेयोल के अनुसार,** ''अधिकार आदेश देने के स्वत्व तथ उसे पालन कराने की शक्ति को कहते हैं।''

(2) **जी0 आर0 टेरी के भाब्दों में,** ''अधिकार से आशय उस स्वत्व या शक्ति से होता है जिसके अधीन प्रबन्धक आदेश देता है और अपनी इच्छानुसार उस आदेश का पालन कराता है।''

(3) **कुण्ट्ज एवं ओ' डोनेल के अनुसार,** ''अधिकार से तात्पर्य ऐसी वैधानिक या स्वत्वाधिकार सम्बन्धी शक्ति से होता है जिसमें उपक्रम या विभागीय लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु कार्य कराने या न कराने के लिए आदेश देने की शक्ति होती है।''

(4) **फ्रेंकलिन जी0 मूरे के अनुसार,** ''अधिकार से आशय निर्णय करने के स्वत्व और निर्णयों का पालन करने की शक्ति से है।''

इस प्रकार स्पष्ट है कि अधिकार एक वैधानिक शक्ति है जिससे अधिकार प्राप्त करने वाला व्यक्ति अधीनस्थों से कार्य कराने में सफल होता है। कोई भी व्यक्ति बिना अधिकार के अपने दायित्वों का निर्वाह नहीं कर सकता है।

10.2 रेखा संगठन

यह संगठन का प्राचीनतम एवं सरलतम रूप है। इस संगठन को सैन्य संगठन , लम्बवत् संगठन, सोपानीय संगठन, विभागीय संगठन आदि विभिन्न नामों से भी जाना जाता है। रेखा संगठन से आशय ऐसे संगठन से है जिसमें अधिकारों का प्रवाह ऊपर से नीचे और उत्तरदायित्व का प्रवाह नीचे से ऊपर की ओर रेखाबद्ध रूप से होता है। इसमें शीर्ष स्तर से नीचे तक एक रेखा बनती है जिसमें अधिकार और उत्तरदायित्व की कड़ियां परस्पर एक दूसरे से जुड़ी रहती हैं।

मैकफरलैण्ड के अनुसार, ''रेखा सरंचना से आशय प्रत्यक्ष एवं लम्बवत् सम्बन्धों से है जो कि प्रत्येक स्तर की स्थिति एवं कार्यों से ऊपर तथा नीचे के स्तर से सम्बन्ध स्थापित करते हैं।'' **ऐलन** के शब्दों में, ''रेखा आदेश की वह श्रृंखला है जो संचालक–मण्डल के विविध प्रतिनिधायनों एवं पुनः प्रतिनिधायनों द्वारा अधिकारों एवं दायित्वों को उस बिन्दु तक पहुंचाती है जहां पर कि कम्पनी के प्राथमिक क्रियाओं को पूरा किया जाता है।'' इस प्रकार रेखा संगठन में ऊपर से नीचे तक एक सीधी रेखा में दायित्व तथा अधिकार का प्रवाह होता है। इसे ही निम्न रेखाचित्र में प्रदर्शित किया गया है कि सर्वोच्च अधिकारी महा प्रबन्धक आदेश विभागीय प्रबन्धक को देता है, विभागीय प्रबन्धक अधीक्षक को

आदेश देता है, अधीक्षक फोरमैन को और फोरमैन श्रमिकों को आदेश देता है।

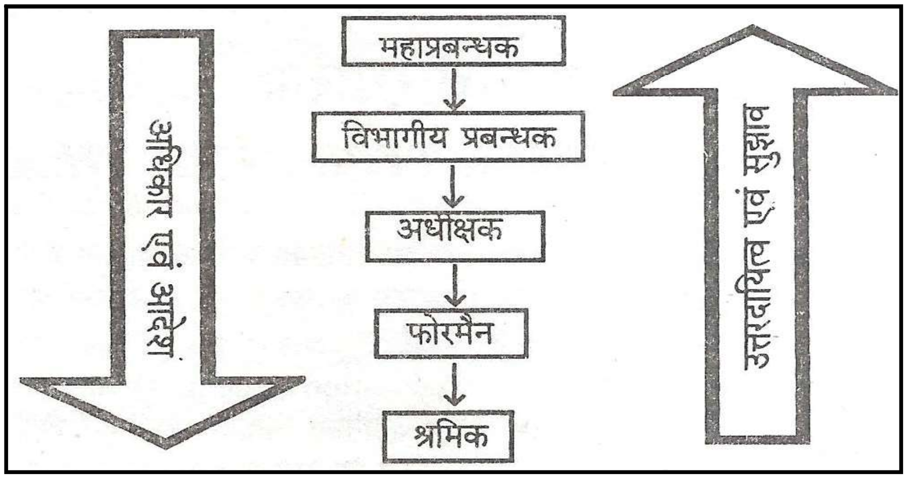

विशेषताएं –रेखा संगठन की प्रमुख विशेषताएं इस प्रकार से हैं–

(1) जिस प्रकार सेना में आदेश सेनापति से नीचे की ओर अन्य अधिकारियों द्वारा होता हुआ सामान्य सैनिक को प्राप्त होता है, उसी प्रकार रेखा संगठन में भी आदेश एवं निर्देश ऊपर से नीचे की ओर प्रवाहित होता है।

(2) निवेदन, शिकायत एवं सुझाव आदेश के विपरीत दिशा अर्थात् नीचे से ऊपर की ओर प्रवाहित होते हैं।

(3) अधिकार सत्ता एक सीधी रेखा के रूप में प्रवाहित होती है।

(4) प्रत्येक कर्मचारी को अपने निकटतम अधिकारी से आदेश मिलता है।

(5) एक पदाधिकारी के नियंत्रण में अधीनस्थों की संख्या सीमित होती है।

(6) संगठन एक जंजीर की भांति होती है जिसमें किसी भी कड़ी को छोड़ना सम्भव नहीं होता है।

उपयुक्तता का क्षेत्र – संगठन की यह प्रणाली निम्न प्रकार के उपक्रमों और औद्योगिक इकाइयों में सरलता व सुगमता से अपनायी जा सकती है –

(1) औद्योगिक इकाई बहुत बड़ी न हो।

(2) कर्मचारियों की संख्या बहुत अधिक न हो।

(3) कार्य नैत्यक स्वभाव का है।

(4) विभिन्न इकाइयों व विभागों में सरलतापूर्वक विभाजन किया जा सकता है।

(5) कर्मचारियों एवं प्रबन्धकों के मधुर सम्बन्ध होने के कारण कर्मचारी अनुशासनप्रिय हों।

रेखा संगठन के प्रकार – रेखा संगठन के दो प्रकार हो सकते है – शुद्ध रेखा संगठन तथा विभागीय रेखा संगठन।

(अ) भाुद्ध रेखा संगठन –शुद्ध रेखा संगठन में एक स्तर पर कार्य करने वाले सभी कर्मचारियों की क्रियाएं लगभग समान होती है और इन क्रियाओं को बहुधा नियंत्रण में सुविधा व सरलता लाने के लिए वर्गीकृत किया जाता है। एक स्तर पर कार्य करने वाले कर्मचारी अलग–अलग कार्य न करके एक सा कार्य करते हैं। व्यवहार में, ऐसे उपक्रम मुश्किल से मिलते हैं जहां समस्त क्रियांए समान होती हों। अग्रांकित चित्र द्वारा शुद्ध रेखा संगठन को प्रदर्शित किया गया है :

भाुद्ध रेखा संगठन चार्ट का नमूना

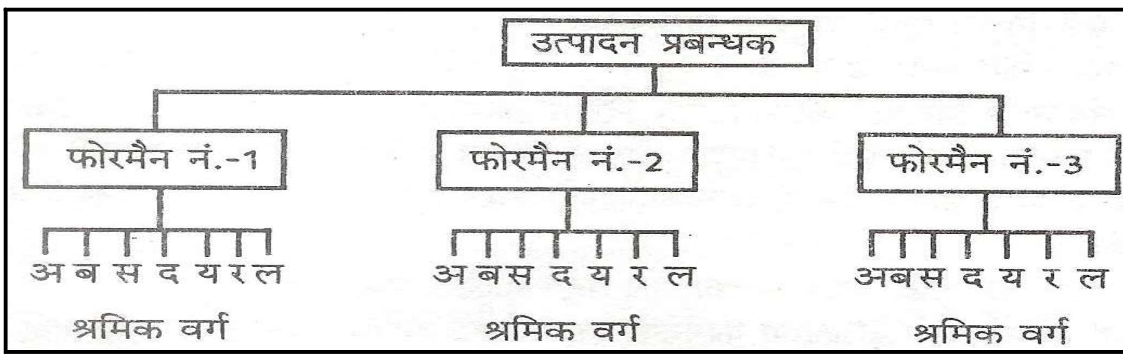

(ब) विभागीय रेखा संगठन –इस प्रणाली में सम्पूर्ण उपक्रम को अनेक विभागों में बांट दिया जाता है। जैसे उत्पादन, विक्रय, क्रय, वित्त, सेविवर्गीय आदि। विभाग बनाते समय क्रियाओं की एकरूपता को पूरी तरह ध्यान में रखा जाता है। सभी विभाग अपने–अपने विभागीय प्रबन्धक के अधीन कार्य करते हैं। प्रत्येक विभाग का प्रबन्धक अपने विभाग के सफल संचालन के प्रति उत्तरदायी होता है। निम्न चित्र द्वारा विभागीय रेखा संगठन को प्रदर्शित किया गया है –

विभागीय रेखा संगठन चार्ट का नमूना

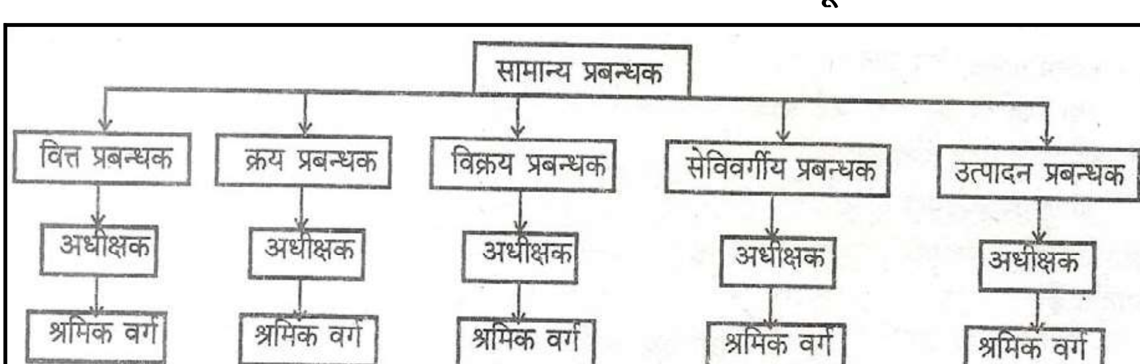

रेखा संगठन के प्रमुख लाभ – इसके प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं–

1. यह संगठन का सबसे सरल एवं प्राचीन प्रारूप है जिसे छोटे से छोटे और अनपढ़ कर्मचारी भी बखूबी समझ सकता है।
2. फौज की भांति इस प्रारूप में पर्याप्त और कड़ा अनुशासन रहता है क्योंकि अपने अधीनस्थ कर्मचारियों पर नियंत्रण करने का पूर्ण अधिकार एक व्यक्ति को होता है।
3. इस प्रारूप में अधिकारों का स्पष्ट विभाजन और व्याख्या होने के कारण पारस्परिक संघर्ष की सम्भावना घटती है।
4. इसे निश्चित उत्तरदायित्व का लाभ मिलता है क्योंकि प्रत्येक कर्मचारी अपने अधिकारी के प्रति उत्तरदायी रहता है और वह दूसरों पर अपने उत्तरदायित्व को खिसका नहीं सकता है।
5. कर्मचारी–अधिकारी में सीधा सम्बन्ध होने से एकीकृत नियंत्रण का लाभ मिलता है।
6. निर्णय लेने वाला व्यक्ति इकलौता होने के कारण आसानी और शीघ्रता से निर्णयन सम्भव होता है।
7. इस प्रणाली में आवश्यकतानुसार परिवर्तन सरल होता है अतः लोचशीलता का गुण होता है।
8. दोषी व्यक्ति का पता आसानी से लगा कर दण्ड दिया जा सकता है अतः कर्मचारी लगन से कार्य करते हैं।
9. सन्देशवाहन और समन्वय में भी यह प्रणाली सहायक होती है।

रेखा संगठन के दोष – रेखा संगठन को सर्वथा दोषमुक्त नहीं माना जा सकता। इस प्रणाली के प्रमुख दोष अग्रांकित है –

1. इस प्रकार के संगठन प्रबन्ध की एकतंत्रीय प्रणाली पर आधारित होते हैं जिसमें सारे निर्णय शीर्ष प्रबन्धक द्वारा लिए जाते है। अगर कहीं शीर्ष प्रबन्धक अकुशल व अक्षम होता है तो संस्था की प्रगति अवरूद्ध हो जाती है।
2. इस प्रकार के संगठन में विशेषज्ञों की सेवा और विशिष्टीकरण का लाभ नहीं उठाया जा सकता है।
3. इस प्रणाली में प्रबन्ध अस्थिर एवं लोचशील होता है जिससे अधिशासियों में तानाशाही और मनमानी प्रवृत्तियां पनपती है। कार्य के शीघ्र सम्पन्न होने से लालफीताशाही रूकावट डालती है और अधीनस्थों के पहलपन को कुठाराघात पहुंचता है।
4. इस रेखा संगठन में प्रबन्धकों पर कार्य का भार बहुत अधिक बढ़ जाता है।
5. फोरमैन के कार्य अधिक रहने के कारण कार्यकुशलता में कमी आने की सम्भावना बनी रहती है।
6. रेखा संगठन में पक्षपात की सम्भावना होती है। अधिकारी अपनी आदत के अनुसार कार्य करते

है और अधीनस्थों की कार्यकुशलता को अपने गज से नापते हैं। इससे कुछ के साथ पक्षपात हो सकता है। कर्मचारी अधिशासियों की कृपादृष्टि पाने के लिए काम करने के बजाय उनकी चापलूसी और जी हजूरी में लगे रहते हैं।

7. उपक्रम के विभिन्न विभागों में टीम भावना और समन्वय का अभाव पाया जाता है जो उपक्रम के सुचारू संचालन में काफी घातक सिद्ध होता है।

8. विभागों के विभागाध्यक्ष अपने कार्यों के विशेषज्ञ न हो कर सामान्य बन जाते हैं।

9. यह संगठन प्रारूप बड़े आकार वाली औद्योगिक उपक्रमों के लिए जहां कर्मचारियों की संख्या अधिक हो, अनुपयुक्त सिद्ध होता है।

आधुनिक व्यवसाय के जटिल बन जाने के कारण रेखा संगठन अधिक उपयुक्त सिद्ध नहीं हो रहे हैं। यह छोटे आकार के उद्योगों, कम कर्मचारियों वाले उपक्रमों और दैनिक प्रकृति का उत्पादन करने वालों के लिए उपयुक्त है।

10.3 रेखा एवं कर्मचारी संगठन

रेखा संगठन के दोषों को दूर करने के लिए रेखा एवं कर्मचारी संगठन का प्रादुर्भाव हुआ। यद्यपि इस प्रारूप में भी कार्य का विभाजन स्वतंत्र विभागों में किया जाता है और उत्तरदायित्व का विभाजन भी लम्ब रूप में ही होता है, किन्तु इस प्रारूप की खास विशेषता यह होती है कि विभागीय प्रमुखों के साथ तकनीकी एवं व्यापारिक विशेषज्ञ भी नियुक्त किए जाते हैं। उनका कार्य सलाहकारी होता है, प्रबन्धात्मक नहीं। विशेषज्ञ सोचने, परामर्श देने तथा शोध कार्य में लगे रहते हैं। इस प्रकार विशेषज्ञ स्टाफ अधिकारी सोचते हैं एवं रेखा अधिकारियों को परामर्श देते हैं जबकि रेखा अधिकारी वास्तविक कार्य करते हैं। इन विशेषज्ञों को आदेश देने का अधिकार नहीं होता, यह कार्य तो विभागीय रेखीय अधिकारी ही करते हैं।

जेम्स डी0 मूने के अनुसार, ''संगठन में कर्मचारी सेवा से आशय परामर्श से होता है जो अधिकार या निर्देशन से भिन्न होता है।'' **ऐलन** के शब्दों में, ''रेखा से आशय संस्था के उन पदों एवं तत्वों से है जो उपक्रम के उद्‌देश्यों को पूरा करने के लिए उत्तरदायी होते हैं। कर्मचारी (स्टाफ) का आशय उन पदों तथा तत्वों से है जो रेखा अधिकारियों को अपने उद्‌देश्य को पूरा करने के लिए आवश्यक परामर्श एवं सहायता प्रदान करते हैं।''

इस प्रकार स्पष्ट है कि रेखा एवं कर्मचारी संगठन वास्तव रेखा संगठन में ही एक परिमार्जन है जिसमें कर्मचारी परामर्श सेवा के लिए नियुक्त होते हैं परन्तु परामर्श को मानना या न मानना पूर्णतः रेखा अधिकारी की इच्छा पर निर्भर करता है। अग्रांकित रेखाचित्र में रेखा एवं कर्मचारी संगठन के कलेवर को प्रदर्शित किया गया है जिसमें सीधी रेखा में ऊपर से नीचे रेखा संगठन को और शेष को कर्मचारी संगठन में दिखाया गया है :

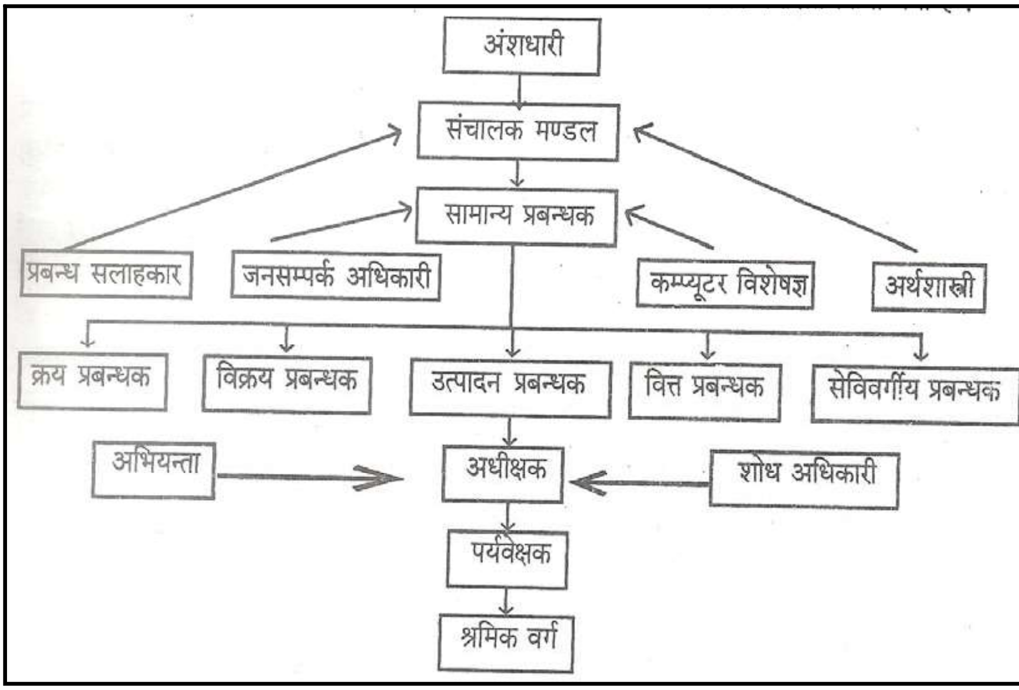

रेखा एवं कर्मचारी संगठन की विशेषताएं — इस संगठन की प्रमुख विशेषताएं इस प्रकार है —

1. इस प्रारूप में रेखा अधिकारियों की परामर्श सहायता के लिए कर्मचारियों की नियुक्ति की जाती है।
2. कर्मचारी विशेषज्ञों के रूप में वैज्ञानिक तथ्यों, यथार्थता और व्यावहारिकता पर आधारित सुझाव देते हैं।
3. रेखा अधिकारी विशेषज्ञों के सुझाव को मानने के लिए बाध्य नहीं होते हैं, विशेषज्ञ केवल परामर्श देते है, वे किसी निर्णय के लिए रेखा अधिकारी को विवश नहीं कर सकते हैं।
4. रेखा अधिकारी कार्य करने और कर्मचारी सोचने के लिए होते हैं।
5. विशेषज्ञों के परामर्श से रेखा अधिकारी के कार्य का बोझ हल्का हो जाता है और निर्णय अपेक्षाकृत अधिक ठोस होते हैं।
6. इसमें अधिकार और उत्तरदायित्व ऊपर से नीचे की ओर सीधी रेखा में प्रवाहित होते हैं।

रेखा एवं कर्मचारी संगठन के गुण —संगठन के इस प्रारूप से निम्न लाभों की प्राप्ति होती हैं—

1. रेखा अधिकारी विशेषज्ञों की योग्यता का लाभ उठाते हैं। विशेषज्ञ रेखा अधिकारियों को आवश्यक परामर्श देकर उपक्रम की कार्यकुशलता में सुधार लाते हैं।
2. यह नियोजित विशिष्टीकरण पर बल दे करके 'करना' और 'सोचना' में स्पष्ट भेद करता हैं।

3. विभिन्न विशेषज्ञों की नियुक्ति के कारण अनुसंधान को प्रोत्साहन मिलता हैं।
4. रेखा अधिकारियों के निर्णय शीघ्र एवं उत्तम हो पाते हैं।
5. रेखा अधिकारियों का अप्रत्यक्ष रूप में प्रशिक्षण विशेषज्ञ कर्मचारी द्वारा किया जाता हैं।
6. व्यवसाय का आकार बढ़ने पर भी नियंत्रण में कोई कठिनाई नहीं होती हैं।
7. यह रेखा अधिकारियों के कार्य—भार में कमी लाता हैं।
8. विभागों के विभागाध्यक्ष अपने कार्यों के विशेषज्ञ हो करके (Jack of all trades and master of none) सामान्यज्ञ बन जाते हैं।
9. यह संगठन प्रारूप बड़े आकार वाली औद्योगिक उपक्रमों के लिए जहाँ कर्मचारियों की संख्या अधिक हो, अनुपयुक्त सिद्ध होता हैं।

आधुनिक व्यवसाय के जटिल बन जाने के कारण रेखा संगठन अधिक उपुयक्त सिद्ध नहीं हो रहे हैं। यह छोटे आकार के उद्योगों और कम कर्मचारियों वाले उपक्रमों के लिए उपयुक्त है।

रेखा एवं कर्मचारी संगठन के दोष — संगठन के इस प्रारूप के दोष निम्न प्रकार हैं —

1. विशेषज्ञों की नियुक्ति का कार्य खर्चीला होने के कारण छोटी औद्योगिक संस्थाओं के लिए अनुपयुक्त है।
2. विशेषज्ञ मात्र परामर्शात्मक स्थिति में होते हैं अतः विभागीय अधिकारी कई बार उनकी अपेक्षा करते हैं।
3. गलत परामर्श देने पर भी विशेषज्ञों को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता हैं।
4. विशेषज्ञों एवं विभागीय अध्यक्षों के अधिकारों एवं कर्तव्यों का स्पष्टीकरण न होने पर अनावश्यक टकराव की सम्भावना रहती हैं।
5. कार्यों के निष्पादन में अधिक समय लगता हैं।
6. विभिन्न क्रियाओं में समन्वय स्थापित करना कठिन हो जाता हैं।

10.4 ‘रेखा संगठन’ तथा ‘रेखा एवं कर्मचारी संगठन’ में अन्तर

अन्तर का आधार	रेखा संगठन	रेखा एवं कर्मचारी संगठन
1. विशेषज्ञ सेवाएं	इसमें विशेषज्ञों की सेवा की कोई व्यवस्था नहीं होती है।	इसमें विशेषज्ञ सुझाव हेतु कर्मचारी नियुक्त होते हैं।

2. विशिष्टीकरण	इसमें विशिष्टीकरण और श्रम विभाजन का सही अर्थों में प्रयोग नहीं हो पाता है।	यह तो विशिष्टीकरण और श्रम विभाजन के स्वर्णिम सिद्धान्त पर आधारित है।
3. लोचशीलता	यहां पर संगठन में कठोरता पायी जाती है।	इस प्रारूप में लोचशीलता का तत्व पाया जाता है।
4. पूछताछ और अनुसंधान	यहां पर 'अधिकारी हमेशा सही है' माने जाने के कारण पूछताछ और अनुसंधान की सम्भावना नहीं होती है।	यहां पर रेखा एवं कर्मचारी संघर्ष कारण पूछताछ और अनुसंधान हो सकता है।
5. अनुशासन	अनुशासन की उच्च कोटि पायी जाती है क्योंकि कनिष्ठ अपने निकटतम अधिकारी से डरता है।	यहां पर कार्य करने और सोचने वालों में मतभेद के कारण अनुशासन कम हो सकता है।
6. दायित्व निर्धारण	इसमें उत्तरदायित्व का निर्धारण आसानी से किया जा सकता है।	चूंकि स्टाफ को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता अतः हिसाबदेयता का निर्धारण मुश्किल होता है।
7. निर्णयन	यहां निर्णयन बहुत सुविधाजनक होता है।	यहां विशेषज्ञों से परामर्श लेने के कारण निर्णयन में विलम्ब होता है।
8. उपयुक्तता क्षेत्र	यह छोटी संस्थाओं के लिए उपयुक्त होता है।	यह जटिल क्रियाओं वाले संस्थानों के लिए उपयुक्त है जहां विशेषज्ञों का परामर्श अनिवार्य हो।

10.5 क्रियात्मक संगठन

क्रियात्मक संगठन का प्रारूप वैज्ञानिक प्रबन्ध के जन्मदाता **श्री फ्रेडरिक विन्सलो टेलर** की देन है। श्री टेलर का यह मत था कि एक व्यक्ति सभी कार्यों में विशेषज्ञ नहीं हो सकता अतः विशुद्ध

विभागीय संगठन के एकाकी अधिकारी के स्थान पर आठ विशेषज्ञों की नियुक्ति की जानी चाहिए। उनके द्वारा निर्धारित चार विशेषज्ञ कार्यालय सम्बन्धी कार्यों से जुड़े रहते हैं तथा शेष चार विशेषज्ञ कारखाने से जुड़े रहते हैं। कार्यालय विशेषज्ञों का कार्य नियोजन करना होता है और कारखाना विशेषज्ञ उत्पादन कार्यों में संलग्न रहते है।

क्रियात्मक संगठन का चित्रात्मक प्रदर्शन

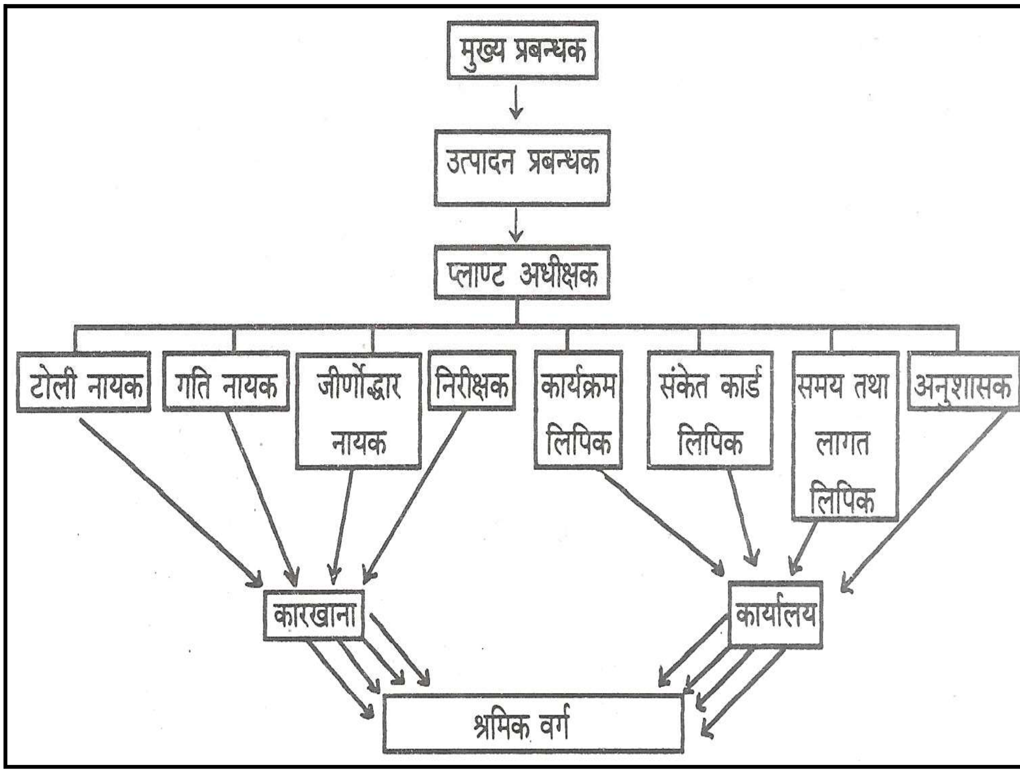

श्री टेलर के अनुसार क्रियात्मक संगठन में निम्न आठ अधिकारी होते हैं, जो पृथक–पृथक् कार्य करते हैं –

(1) टोली नायक –सरदार अथवा टोली नायक श्रमिकों के कार्य करने की योजना बनाता है व आवश्यक सामग्री, सूचनाएं एवं मार्गदर्शन प्रदान करता है। आवश्यकता पड़ने पर श्रमिकों की सुविधा के लिए कार्य करने की रीति का प्रदर्शन भी करता है।

(2) गति नायक -यह गति को निश्चित करता है, जिससे काम होता है। यह उसका कर्तव्य है कि काम मानक समय में पूरा हो जाए और श्रमिकों के काम की गति को ठीक रखने के लिए रास्ता भी दिखाता है।

(3) जीर्णोद्धार नायक -यह अधिकारी एक ओर तो इस तथ्य की जानकारी करता है कि श्रमिक अपनी मशीनों को ठीक ढंग से रखते है अथवा नहीं और दूसरी ओर मशीनों की सफाई, तेल, मरम्मत आदि की व्यवस्था करता है।

(4) निरीक्षक - यह अधिकारी मुख्यतः कारखाने में तैयार माल की गुणवत्ता को नियंत्रित करने का प्रयत्न करता है।

(5) कार्यक्रम लिपिक -यह अधिकारी दैनिक कार्यक्रम हेतु योजना बनाता है, क्रियाओं के क्रम का निर्धारण करता है और किस श्रमिक से क्या कार्य लिया जायेगा, उन्हें किस अधिकारी द्वारा मार्गदर्शन प्राप्त होगा, आदि के बारे में सूचनाएं तैयार करता है।

(6) संकेत कार्ड लिपिक -यह अधिकारी प्रत्येक कार्य के लिए संकेत कार्ड लिखित रूप में तैयार करता है। इस संकेत कार्ड में उल्लेख रहता है कि किस प्रकार से, किन यन्त्रों और उपकरणों के सहयोग से श्रमिक को कार्य करना है। इसी संकेत कार्ड के आधार पर टोली नायक कार्यक्रम सम्बन्धी आदेश देते हैं।

(7) समय तथा लागत लिपिक -यह अधिकारी सम्पादित की जाने वाली क्रियाओं में लगने वाले समय और आने वाली लागत के सम्बन्ध में पूर्ण लेखा रखता है।

(8) अनुशासक -यह अधिकारी श्रमिकों के अनुशासन के लिए उत्तरदायी होता है। वह उनकी अनुपस्थिति, विलम्ब आदि के लिए अनुशासन की कार्यवाही करता है। अच्छा कार्य करने वालों के लिए पुरस्कार और खराब कार्य करने वालों के लिए दण्ड की व्यवस्था करता है।

क्रियात्मक संगठन के गुण –(1) विशिष्टीकरण पर आधारित होने के कारण संगठन की कार्यकुशलता में वृद्धि होती है। (2) आवश्यकतानुसार संशोधन एवं परिवर्तन किसी भी समय बिना सम्पूर्ण ढांचे को अस्त–व्यस्त किये बिना सरलतापूर्वक किया जा सकता है। अतः लोचशीलता इस प्रारूप का एक प्रमुख गुण है। (3) यह पद्धति प्रेरणात्मक है। (4) सहयोग की भावना को प्रोत्साहन मिलता है। (5) अधिक से अधिक श्रम–विभाजन सम्भव होता है। (6) नियंत्रण और निगरानी सामूहिक होने से लोकतांत्रिक दृष्टिकोण पनपता है और गुणवत्ता में सुधार होता है। (7) बड़े पैमाने पर उत्पादन सम्भव होता है। (8) निर्णयन की प्रक्रिया सुगम और एकरूपता से भरी हुई होती है। (9) अधिशासी वर्ग पर नैत्यक और विशिष्ट निर्णयों का भार नहीं पड़ता है।

क्रियात्मक संगठन के दोष –(1) एक अधीनस्थ कई अधिकारियों के प्रति उत्तरदायी होता है। अतः अधीनस्थों में उलझन की स्थिति बनी रहती है। (2) कई विशेषज्ञों की नियुक्ति से समन्वय में कठनाई का अनुभव होता है। (3) आदेश की एकता के अभाव में उत्तरदायित्व निर्धारण कठिन हो जाता है। एक काम को पूरा करने में इतने व्यक्ति लगे हुए होते है कि हर व्यक्ति काम की गति में कमी के लिए दूसरों को जिम्मेदार बताता है। (4) भिन्न–भिन्न विशेषज्ञों से परामर्श करके निर्णय लेने में अति विलम्ब हो जाता है। (5) विशेषज्ञों की अधिक संख्या के कारण संगठन का खर्चा बढ़जाता हैं।(6) बराबर के पद वाले कई अधिकारी होने के कारण अधिकारियों में आपसी ईर्ष्या बढ़ती है और गुटों में प्रतिस्पर्धा चल पड़ती है। (7) संकेत कार्ड भरने और सभी आदेशों तथा विस्तृत तथ्यों को लिखने में लिपिकीय कार्य बहुत बढ़ जाता है। (8) शक्ति का विभाजन अनुशासन की समस्या पैदा करता है।

10.6 रेखा और क्रियात्मक संगठन में अन्तर

अन्तर का आधार	रेखा संगठन	क्रियात्मक संगठन
1. अधिकार की प्रकृति	अधिकार शीर्ष प्रबन्ध के पास केन्द्रित होता है जो सीधी रेखा में प्रवाहित होता है।	अधिकार विभिन्न अधिकारियों के बीच विकेन्द्रित होता है।
2. अधिकारियों की संख्या	इसमें हर कर्मचारी का एक अधिकारी होता है।	इसमें हर कर्मचारी के आठ अधिकारी होते हैं।
3. आदेश की एकता	इसमें आदेश की सम्पूर्ण एकता होती है।	इसमें आदेश की पूर्ण एकता नहीं होती हैं।
4. उत्तरदायित्व निर्धारण	इसमें उत्तरदायित्व का निर्धारण आसानी से किया जा सकता है।	सूक्ष्मतम श्रम विभाजन के कारण दायित्व–निर्धारण बहुत कठिन हो जाता हैं।
5. अनुशासन	इसमें सैन्य संरचना की भांति पूर्ण अनुशासन होता है।	इसमें ढीला अनुशासन होता हैं।
6. लोचशीलता	यह ज्यादा लचीला होता है।	यह तुलनात्मक कम लचीला होता है।
7. व्यय	इसमें कम व्यय आता है।	यह बहुत खर्चीला हैं।
8. उपयुक्तता का क्षेत्र	यह छोटे संस्थाओं के लिए उपयुक्त है।	यह बड़े उद्यमों के लिए उपयुक्त हैं।

10.7 सारांश

'अधिकार' या 'सत्ता' को प्रबन्ध की कुंजी माना जाता है। अधिकार से आशय किसी व्यक्ति को प्राप्त उस वैधानिक शक्ति से होता है जिसके आधार पर वह अपने से नीचे के व्यक्तियों को आदेश दे सकता है। प्रबन्धकीय अधिकार एक व्यक्ति को अपने उच्चाधिकारी से प्राप्त होता है जिसके आधार पर

वह अपने अधीनस्थों से उपक्रम के लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु काम करा सकता है।

हेनरी फेयोल के अनुसार, ''अधिकार आदेश देने के स्वत्व तथ उसे पालन कराने की शक्ति को कहते हैं।''

रेखा संगठन, संगठन का प्राचीनतम एवं सरलतम रूप है। जिसमें अधिकारों का प्रवाह ऊपर से नीचे और उत्तरदायित्व का प्रवाह नीचे से ऊपर की ओर रेखाबद्ध रूप से होता है। इसके सरलतम होने के कारण इसे छोटे से छोटे और अनपढ़ कर्मचारी भी बखूबी समझ सकता है। लेकिन इसके एकतंत्रीय प्रणाली होने के कारण यह संगठन की प्रगति में अवरोध पैदा करती है। रेखा संगठन के दोषों को दूर करने के लिए रेखा एवं कर्मचारी संगठन का प्रादुर्भाव हुआ। रेखा से आशय संस्था के उन पदों एवं तत्वों से है जो उपक्रम के उद्देश्यों को पूरा करने के लिए उत्तरदायी होते है। कर्मचारी का आशय उन पदों तथा तत्वों से है जो रेखा अधिकारियों को अपने उद्देश्य को पूरा करने के लिए आवश्यक परामर्श एवं सहायता प्रदान करते है।

क्रियात्मक संगठन का प्रारूप वैज्ञानिक प्रबन्ध के जन्मदाता श्री फ्रेडरिक विन्सलो टेलर की देन है। श्री टेलर का यह मत था कि एक व्यक्ति सभी कार्यों में विशेषज्ञ नहीं हो सकता। अतः विशुद्ध विभागीय संगठन के एकांकी अधिकारी के स्थान पर आठ विशेषज्ञों की नियुक्ति की जानी चाहिए। उनके द्वारा निर्धारित चार विशेषज्ञ कार्यालय संबंधी तथा चार विशेषज्ञ कारखाने से जुड़े रहते है। उनके अनुसार ये आठ अधिकारी इस प्रकार है :– (1) टोली नायक, (2) गति नायक, (3) जीर्णोद्वार नायक, (4) निरीक्षक, (5) कार्यक्रम लिपिक, (6) संकेत कार्ड लिपिक, (7) समय तथा लागत लिपिक, एवं (8) अनुशासक।

10.8 महत्वपूर्ण शब्दावली

- **अधिकार** – अधिकार एक वैधानिक शक्ति है जिससे अधिकार प्राप्त करने वाला व्यक्ति अधीनस्थों से कार्य कराने में सफल होता है। कोई भी व्यक्ति बिना अधिकार के अपने दायित्वों का निर्वाह नहीं कर सकता है।
- **रेखा संगठन** – रेखा संगठन से आशय ऐसे संगठन से है जिसमें अधिकारों का प्रवाह ऊपर से नीचे और उत्तरदायित्व का प्रवाह नीचे से ऊपर की ओर रेखाबद्ध रूप से होता है।
- **रेखा एवं कर्मचारी संगठन** –रेखा एवं कर्मचारी संगठन वास्तव रेखा संगठन में ही एक परिमार्जन है जिसमें कर्मचारी परामर्श सेवा के लिए नियुक्त होते हैं परन्तु परामर्श को मानना या न मानना पूर्णतः रेखा अधिकारी की इच्छा पर निर्भर करता है।
- **टोली नायक** – टोली नायक श्रमिकों के कार्य करने की योजना बनाता है व आवश्यक सामग्री, सूचनाएं एवं मार्गदर्शन प्रदान करता है। आवश्यकता पड़ने पर श्रमिकों की सुविधा के लिए कार्य करने की रीति का प्रदर्शन भी करता है।

- **अनुशासक** –यह अधिकारी श्रमिकों के अनुशासन के लिए उत्तरदायी होता है। वह उनकी अनुपस्थिति, विलम्ब आदि के लिए अनुशासन की कार्यवाही करता है। अच्छा कार्य करने वालों के लिए पुरस्कार और खराब कार्य करने वालों के लिए दण्ड की व्यवस्था करता है।

10.9 आवश्यक प्रश्न

1. रेखा संगठन क्या है ? इसके प्रकारों, गुणों व दोषों का वर्णन कीजिए।
2. रेखा संगठन और रेखा कर्मचारी संगठन में अन्तर कीजिए। रेखा व कर्मचारी संगठन की विशेषताएं, गुण एवं दोष क्या हैं ?
3. रेखा तथा कर्मचारी के पूरक और सम्पूरक सम्बन्धों के होते हुए भी उनका पारस्परिक सम्बन्ध प्रायः वैमनस्य और संघर्ष से अभिलक्षित होता है। इन सम्बन्धों को अधिक उत्पादक कैसे बनाया जा सकता है ?
4. रेखा और कर्मचारी के संघर्ष को किस प्रकार हल किया जा सकता है । बताइए।
5. रेखा एवं कर्मचारी अधिकारियों में अन्तर कीजिए।
6. रेखा संगठन किस प्रकार क्रियात्मक संगठन से भिन्न है।

कुछ उपयोगी पुस्तकें

- प्रबन्ध के सिद्धान्त एस के सिंह प्रयाग पुस्तक भवन इलाहाबाद 2006
- व्यावसायिक प्रबन्ध ओ. पी. राय बी. के. सिंह वैभवसम्मी प्रकाशन, वाराणासी, 2012
- औद्योगिक संगठन एवं प्रबन्धन, आर.सी. गुप्ता, साहित्य भवन पब्लिकेषन आगरा, 2003
- व्यवसायिक संगठन, जगदीष प्रकाश, प्रयाग पुस्तक भवन, 2014
- औद्योगिक प्रबन्ध, जे.के. जैन, प्रतीक प्रकाशन आगरा, 2001

इकाई– 11 प्रतिनिधायन

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 प्रतिनिधायन के प्रमुख तत्व

11.3 प्रतिनिधायन के सिद्धान्त

11.4 प्रतिनिधायन का महत्व

11.5 प्रभावी प्रतिनिधायन में बाधाएं

11.6 प्रभावी प्रतिनिधायन की बाधाओं को पार करने के लिए सुझाव

11.7 सारांश

11.8 महत्वपूर्ण शब्दावली

11.9 आवश्यक प्रश्न

11.0 उद्देश्य

इस अध्याय के अध्ययन से आप निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर दे पायेंगे।

- ❖ अधिकार के प्रतिनिधायन को परिभाषित कीजिए।
- ❖ आदेश की एकता से आप क्या समझते है ?
- ❖ अधिकार के प्रतिनिधायन के किन्हीं चार सिद्धान्तों का नाम लिखिए।
- ❖ अधीनस्थों की ओर से उत्पन्न बाधाएं को संक्षेप में स्पष्ट कीजिए।
- ❖ अधिकार के प्रतिनिधायन के प्रकार को संक्षेप में स्पष्ट कीजिए।

11.1 प्रस्तावना

अधिकार के प्रतिनिधायन को विविध नामों जैसे– भारार्पण, प्रत्यायोजन, अन्तरण, हस्तान्तरण, प्रत्यायुक्ति, समर्पण आदि से भी सम्बोधित किया जाता है। अधिकार के प्रतिनिधायन से आशय कार्य–भार के सौपे जाने से है। एकाकी व्यक्ति केवल एक मानव–शक्ति होता है। आज के जटिल औद्योगिक युग में किसी एक व्यक्ति के लिए उपक्रम की सम्पूर्ण व्यवस्था को सम्भालना सम्भव नहीं है। इसीलिए प्रशासनिक अधिकारी अपना कार्य–भार दूसरे अधीनस्थों को सौंपते हैं। प्रत्येक अधीनस्थ जिसे कुछ काय

सौंपे जाएं तो आवश्यक है कि उसे कुछ अधिकार भी प्रदान किए जाना चाहिए, क्योंकि अधिकारों के बिना कोई भी व्यक्ति अपने कर्तव्य को पूर्णतया पालन करने में असमर्थ रहेगा। यह अधिकार और कर्तव्य का सौंपना ही अधिकार का प्रतिनिधायन कहलाता है।

तात्पर्य— अधिकार के प्रतिनिधायन की उल्लेखनीय परिभाषाएं निम्न प्रकार से है –

1. **प्रोफेसर थियो हैमन के अनुसार** – ''अधिकार के प्रतिनिधायन से तात्पर्य अधीनस्थों को निर्दिष्ट सीमाओं के अन्तर्गत कार्य करने का अधिकार प्रदान किये जाने से है।''
2. **मैकफरलैण्ड के अनुसार** – ''प्रतिनिधायन संगठन प्रक्रिया का वह अंग है, जिसके द्वारा एक अधिकारी, प्रशासक अथवा प्रबन्धक अन्य व्यक्तियों को कम्पनी के कार्यों को पूरा करने में भाग लेने को सम्भव बनाता है।''
3. **एफ0 जी0 मूरे के भाब्दों में** – ''प्रतिनिधायन से आशय है दूसरे लोगों को कार्य सौंपना तथा उसे करने हेतु अधिकार प्रदान करना।''
4. **विक्सवर्ग के अनुसार** – ''अधीनस्थों को संगठन के निर्दिष्ट कार्यों को सौंपना तथा सौंपे हुए कार्यों एवं कर्तव्यों को पूरा करने के उद्देश्य से सत्ता प्रदान करना प्रतिनिधायन कहलाता है।''
5. **बैसिल के अनुसार** – ''प्रतिनिधायन पूर्व निर्धारित क्षेत्रों में अधीनस्थों को सत्ता अथवा निर्णयन का अधिकार प्रदान करना है जिससे कि उन्हें निर्दिष्ट कार्यों के सम्पादन के लिए दायी ठहराया जा सके।''

विद्वानों द्वारा दी गई परिभाषाओं के अध्ययन के पश्चात् यह कहा जा सकता है कि अधिकार के प्रतिनिधायन से आशय अधिशासियों द्वारा अपने अधीनस्थों को निर्दिष्ट सीमाओं के अन्तर्गत कार्य करने हेतु अधिकार प्रदान करने से है। अधिकार के प्रतिनिधायन की प्रकृति निम्नांकित विशेषताओं से स्पष्ट कीजा सकती है –

(1) प्रतिनिधायन संगठनात्मक प्रक्रिया है जिसके द्वारा कुल अधिकारों का एक अंश व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के समूह को सौंपा जाता है।

(2) प्रबन्धक उस अधिकार का प्रतिनिधायन नहीं कर सकता जो उसके पास नहीं होता है।

(3) प्रतिनिधायन ऊपर से नीचे की ओर होता है।

(4) प्रतिनिधायन का उद्देश्य प्रबन्धकीय एवं क्रियात्मक दक्षता को बढ़ा करके विशिष्टीकरण का लाभ लेना होता है।

(5) यह अधिकारों का वितरण है, विकेन्द्रीकरण नहीं।

(6) प्रतिनिधायन के द्वारा प्रतिनिधायनकर्ता अपने दायित्व से मुक्त नहीं होता है।

(7) यह अधीनस्थों के अधिकार सीमा को स्पष्ट करता है।

(8) प्रतिनिधायन दूसरों का सहयोग प्राप्त करने का एक प्रयत्न है।

(9) अधीनस्थ को कार्य के सम्बन्ध में अधिकार का प्रतिनिधायन किया जाता है, न कि पदों का।

(10) प्रतिनिधायन राष्ट्र के कानून, कम्पनी की नीतियों व नियमों के अनुसार ही किया जाना चाहिए।

(11) एक बार अधिकार का प्रतिनिधायन होने के बाद बढ़ाया, कम या वापस किया जा सकता है।

11.2 प्रतिनिधायन के प्रमुख तत्व

विलियम एच0 न्यूमैन के अनुसार, ''प्रतिनिधायन प्रक्रिया में निम्न तीन तत्व निहित होते हैः (अ) कार्यभार का सौंपना, (ब) अधिकार प्रदान करना, तथा (स) जवाबदेही निर्धारित करना।''

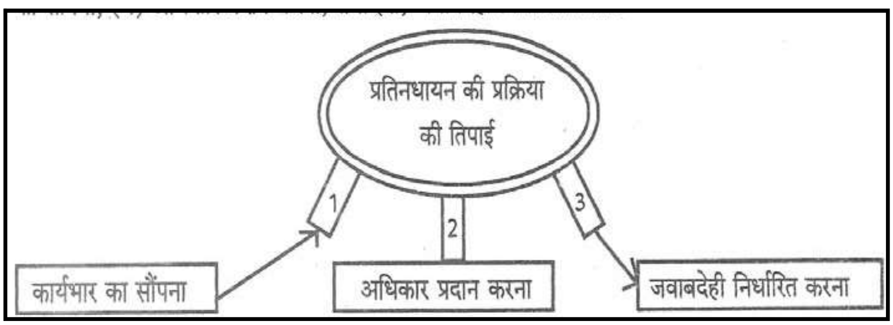

(अ) कार्यभार का सौंपना –प्रतिनिधायन की प्रक्रिया कार्यभार को सौंपने से प्रारम्भ होती है। इस हेतु मुख्य प्रबन्धक को अपने सम्पूर्ण कार्य और उद्देश्यों का विश्लेषण करना पड़ता है। वह अपने कार्यों को विभाजित करता है और यह निश्चय करता है कि उनमें से कौन सा भाग अपने पास रखेगा और किन्हें अधीनस्थों को सौंपेगा। फिर वह अधीनस्थों की उपलब्धता, ज्ञान, सक्षमता के आधार पर उन्हें कार्यों को सौंपता है और उनसे अपेक्षित परिणामों को स्पष्ट करता है। कार्य का यह विभाजन और आवंटन संगठन में ऊपर से नीचे की ओर हरेक प्रतिनिधायन और उप प्रतिनिधायन में होता है और तब तक चलता रहता है जब तक कि कार्य का इतना छोटा अंश नहीं रह जाता है कि उसे एक कर्मचारी कुशलतापूर्वक सम्पन्न कर ले।

(ब) अधिकार प्रदान करना –अगर किसी व्यक्ति को मात्र कार्यभार सौंपा जाए और उसे कोई अधिकार प्रदान किया न जाए तो उस व्यक्ति के लिए दायित्वों का निर्वाह करना असम्भव होगा। ''यदि हम आवश्यक अधिकार दिए बिना दायित्व सौंपते हैं तो यह नर्क के तुल्य होता है।'' अतः यह आवश्यक है कि जिस व्यक्ति को कोई उत्तरदायित्व सौंपा जाए उसे कार्यभार से सम्बन्धित समान अधिकार भी प्रदान किया जाए। उत्तरदायित्व, अधिकारों के बिना बेकार होते हैं और अधिकार, उत्तरदायित्व के बिना व्यर्थ होता है। अतः उत्तरदायित्व सौंपने के लिए जरूरी है कि अधिकार भी उसी तुलना में प्रदान किए जाए। उदाहरण के लिए, अगर किसी व्यक्ति को क्रय

विभाग का भार सौंपा जाता है तो आवश्यक है कि उसे कच्चे माल के लिए टेण्डर आमंत्रित करने, माल का निरीक्षण करने, श्रेष्ठ माल के लिए आदेश देने, त्रुटिपूर्ण माल की पूर्ति को निरस्त करने आदि के अधिकार भी प्रदान किए जाए।

(स) **जवाबदेही निर्धारित करना –**किसी उपक्रम में उच्च अधिकार द्वारा अधीनस्थों को कार्यभार सौंपने तथा आवश्यक अधिकार प्रदान करने से ही प्रतिनिधायन का कार्य समाप्त नहीं हो जाता है, अपितु उसे यह भी देखना होता है कि अधीनस्थ कार्यों का निष्पादन उद्देश्यों के अनुकूल एवं नियत्रित ढंग से कर रहे है या नहीं। यदि वे ऐसा नहीं करते हैं तो उच्च अधिकारी उनसे जवाबदेही कर सकता है और उनका उत्तरदायित्व निर्धारित कर सकता है। अधीनस्थों की जवाबदेही सदैव उच्च अधिकारी के प्रति होती है।

उपर्युक्त वर्णित तीनों तत्व एक तिपाई के तीनों टांगों के समान है। तिपाई की प्रत्येक टांग खड़े रहने के लिए अन्य दो टांगों का अवलम्बन जरूरी होता है। किसी भी एक अथवा दो टांगों के सहारे तिपाई को खड़ा नहीं किया जा सकता।

11.3 प्रतिनिधायन के सिद्धान्त

अधिकार के प्रतिनिधायन को प्रभावी बनाने हेतु निम्नलिखित सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है –

(1) **वांछित परिणामों के अनुरूप प्रतिनिधायन का सिद्धान्त –**प्रतिनिधायन का प्रथम सिद्धान्त यह है कि सौंपे जाने वाले अधिकारों एवं कार्यों की प्रकृति और सीमा वांछित परिणामों के अनुरूप होनी चाहिए। प्रतिनिधायक को यह सर्वप्रथम निश्चित करना चाहिए कि वह अधीनस्थ से क्या परिणाम की आशा करता है और तदनुरूप अधीनस्थ को अधिकार और कार्यभार सौंपा जाना चाहिए। इसके लिए आवश्यक यह है कि संगठन में उद्देश्यों, नीतियों व नियमों का पूर्व निर्धारण करके उनका संदेशवाहन किया जा चुका हो जिससे कि निष्पादनीय कार्यों की सूची तैयार की जा सके।

(2) **उत्तरदायित्व की सम्पूर्णता का सिद्धान्त** -ऐसा अक्सर कहा जाता है कि प्रबन्धक द्वारा अपने अधीनस्थों को अधिकार का प्रतिनिधायन तो किया जा सकता है, परन्तु प्रभावी निष्पादन के लिए उच्चाधिकारी के प्रति उनका जो व्यक्तिगत उत्तरदायित्व या बाध्यता है, उसका प्रतिनिधायन नहीं हो सकता। अधीनस्थ अधिकार का दायित्व अपने उच्चाधिकारी के प्रति अखण्ड, अटूट, निर्विरोध और सम्पूर्ण होता है।अपने अधीनस्थों में अधिकार का प्रतिनिधायन करने के उपरान्त भी प्रबन्धक परिणामों के लिए अपने उच्चाधिकारी के प्रति सम्पूर्ण उत्तरदायी होता है। उत्तरदायित्व अविभाज्य होता है जिसका प्रतिनिधायन नहीं किया जा सकता है। इसलिए उच्च अधिकारी को चाहिए कि वह जिन अधीनस्थों को कार्य सौंपता है, उनका निरीक्षण करे कि वे उचित एवं नियमित रूप से कार्य कर रहे है अथवा नहीं।

(3) **अधिकार और उत्तरदायित्व की समता का सिद्धान्त** -यह सिद्धान्त यह स्पष्ट करता है कि

अधीनस्थ को उतना ही अधिकार दिया जाना चाहिए जितना कि सौंपे गये उत्तरदायित्व को पूरा करने के लिए जरूरी हो। अधिकार, उत्तरदायित्व से सम्बद्ध हो करके बराबर होना चाहिए कम या अधिक नहीं। यद्यपि व्यवहार में पूर्ण समानता बरतना सम्भव नहीं हो तो दोनों के बीच पर्याप्त सन्तुलन व सामंजस्य होना चाहिए। प्रबन्धक को देखना चाहिए कि सौंपे गये कार्यों को पूरा करने के लिए अधीनस्थों के पास पर्याप्त अधिकार हों अन्यथा इससे अधीनस्थों की प्रभावशीलता व मनोबल पर प्रतिकूल असर होगा। बिना पर्याप्त अधिकार प्रतिनिधायित किये हुए अधीनस्थों को परिणाम के लिए जवाबदेही ठहराना सम्भव नहीं होता है। उत्तरदायित्व की तुलना में अधिकार का कम प्रतिनिधायन यदि अधिशासी करता है तो अधीनस्थ कार्य सम्पादन सही रूप में कर ही नहीं सकता है। इसी प्रकार, अधीनस्थों को सौंपे गये कार्यभार या दायित्व से अधिक अधिकार का प्रतिनिधायन करने से उसका दुरूपयोग या कार्य में लापरवाही सम्भव होती है। उत्तरदायित्व विहीन अधिकार व्यक्ति को भ्रष्ट और अक्खड़ बनाती है।

(4) आदेश की एकता का सिद्धान्त -यह सिद्धान्त यह दर्शाता है कि संगठन में एक व्यक्ति की एक समय में प्रत्यक्ष रूप से एक ही अधिकारी के प्रति जवाबदेही होना चाहिए। अधीनस्थ को एक व्यक्ति विशेष से ही आदेश मिलना चाहिए। यदि अनेक बॉस आदेश देंगे तो उसके लिए उनका पालन करना कठिन हो जायेगा क्योंकि सम्भव है कि आदेशों की प्रकृति में अन्तर हो। सबका उत्तरदायित्व किसी का उत्तरदायित्व नहीं होता है अतः सभी आदेश, निर्देश व सूचनायें एक ही बॉस के माध्यम से प्राप्त होनी चाहिए और सभी आवेदन, उत्तर, स्पष्टीकरण, शिकायतें और सुझाव भी उसी बॉस के माध्यम से उच्चाधिकारियों तक पहुंचाए जाने चाहिए। यह सिद्धान्त यह प्रतिपादित करता है कि निर्देशों व मार्गदर्शनों में अपरिहार्य संघर्ष, विरोधाभास, खण्डित निष्ठा, व्यक्तित्व में टकराव आदि की स्थिति को देखते हुए एक अधीनस्थ एक समय मे एक ही बॉस की सेवा कर सकता है।

(5) स्पश्टता का सिद्धान्त – प्रतिनिधायन प्रकृति के आधार पर साधारण अथवा विशिष्ट, लिखित अथवा मौखिक, औपचारिक अथवा अनौपचारिक हो सकता है। प्रतिनिधायन की प्रकृति चाहे जो भी हो, उसका पूर्णतया स्पष्ट होना परम आवश्यक होता है। अधिकार की सीमा का पूर्ण व स्पष्ट रूप से परिभाषित होना जरूरी होता है जिससे कि अधिकार का गलत प्रयोग न हो सके। प्रतिनिधायन का स्पष्ट होना उसकी प्रभावशीलता को बढ़ाता है। स्पष्टता की दृष्टि से विशिष्ट, लिखित व औपचारिक प्रतिनिधायन श्रेष्ठ माना जाता है।

(6) अपवाद का सिद्धान्त – अधिकार प्रतिनिधायनकर्ता अधिकार को चाहिए कि वह अधिकार प्राप्त होने वाले व्यक्तियों के कार्यों में हस्तक्षेप न करे। इसका कारण यह है कि प्रतिनिधायन की सफलता कुछ सीमा तक शीर्ष एवं अधीनस्थ अधिकारियों के पारस्परिक विश्वास पर आर्धारित होती है। अगर अधीनस्थ अधिकारी अधिकार प्राप्त करने के उपरान्त भी गलती करता है तो भी शीर्ष अधिकारी को उसे कार्य करने की पूरी स्वतंत्रता प्रदान करते रहना चाहिए। गलती से उत्पन्न हानि को अधीनस्थ के प्रशिक्षण का व्यय मान लेना चाहिए। शीर्ष अधिकारी को विशेष परिस्थितियों

में अपवाद स्वरूप ही हस्तक्षेप करना चाहिए।

(7) क्रियात्मक परिभाशा का सिद्धान्त –अधिकारों के श्रेष्ठ प्रतिनिधायन के लिए संगठन का क्रियात्मक विभागीकरण होना चाहिए और प्रत्येक कृत्य, क्रिया, सम्बन्ध, भूमिका व कार्य इकाई के अपेक्षित परिणाम की सुस्पष्ट परिभाषा दी होनी चाहिए। सामने सभी सम्बन्धित पक्षकार उन्हें भली भांति समझ करके अधिक उत्तरदायित्व के साथ लक्ष्यों की प्राप्ति में योगदान दे सकते है।

(8) अधिकार स्तर का सिद्धान्त –इस सिद्धान्त का अर्थ है कि निर्णयन का अधिकार उसी स्तर का होना चाहिए जिस स्तर पर प्रतिनिधायन किया गया है। अधीनस्थों को चाहिए कि वे अपने निर्णयन क्षेत्र की जानकारी रखें और अपने क्षेत्र के बिन्दुओं को उच्च अधिकारियों के पास निर्णयन हेतु भेजने से परहेज करना चाहिए। उच्चाधिकारियों से कदापि यह आशा नहीं की जानी चाहिए कि वह निर्णयन प्रक्रिया में अधीनस्थों के अधिकार स्तर की सीमा में हस्तक्षेप करेगा। उच्चाधिकारियों को अधीनस्थों के निर्णय लेने की प्रवृत्ति को स्वेच्छा से त्याग देना चाहिए।

(9) अन्य सिद्धान्त – (i) अवैयक्तिकरण का सिद्धान्त, (ii) सोपान सिद्धान्त, (iii) स्वीकृति का सिद्धान्त, (iv) प्रभावशाली नियंत्रण का सिद्धान्त, तथा (v) औपचारिक प्रतिनिधायन का सिद्धान्त।

11.4 प्रतिनिधायन का महत्व

'प्रतिनिधायन' प्रबन्ध का एक अति आवश्यक तकनीक है जिसके द्वारा अधिकारी अपने कार्यभार को कम करके अपना ध्यान महत्वपूर्ण कार्यों में लगाता है। प्रतिनिधायन की आवश्यकता के सम्बन्ध में निम्न बिन्दु स्मरणीय हैं :–

(1) मानवीय सीमाओं के कारण–कोई भी मानव कितना भी कुशल और अधिक काम करने वाला क्यों न हो, आज के जटिल व्यवसाय के युग में समस्त क्रियाओं पर नियंत्रण अकेले नहीं कर सकता है। एक मानव अपनी सीमित क्षमता के बराबर ही तो काम कर सकता है और शेष कार्य के निष्पादन हेतु अधिकारों का प्रतिनिधायन आवश्यक हो जाता है।

(2) विशिश्टीकरण में वृद्धि –आधुनिक युग अति विशिष्टीकरण का है। अतः कोई भी एक व्यक्ति उत्पादन, विपणन, वित्त, मानव संसाधन आदि से सम्बन्धित सारे मामलों को अकेले सुलझा नहीं सकता है। प्रत्येक क्षेत्र के लिए अलग–अलग विशेषज्ञ नियुक्त किये जाने से अधिकार का प्रतिनिधायन जरूरी हो जाता है।

(3) व्यवसाय का विस्तार – जब एक उपक्रम का विस्तार होता है तो उसका आकार और व्यापार बढ़ जाने के कारण एक आदमी के लिए सब कुछ देखभाल सम्भव नहीं रह जाता है। दूरदराज के स्थानों पर शाखायें, उप–विभाग, प्लाण्ट्स और विक्रय केन्द्र आदि खुलने पर अधिकार प्रतिनिधायन की आवश्यकता पड़ती है।

(4) अधीनस्थों के प्रशिक्षण हेतु –उच्च प्रबंध अपने अधिकारों और कर्तव्यों का प्रतिनिधायन करके अधीनस्थों को महत्वपूर्ण विषयों एवं समस्याओं को सुलझाने व समझने का प्रशिक्षण प्रदान करता है। वास्तव में, प्रतिनिधायन से न केवल अधीनस्थों बल्कि शीर्ष प्रबन्धकों में भी प्रबन्धकीय दक्षता विकसित होती है कि किस प्रकार अधीनस्थों से श्रेष्ठ प्रकार से कार्य लिया जा सकता है।

(5) कार्य भाक्ति का सम्वर्द्धन –प्रतिनिधायन के द्वारा एक प्रबन्धक अपनी कार्य शक्ति का सम्वर्द्धन कर सकता है। प्रसिद्ध कहावत ''अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता'' भी प्रतिनिधायन की अनिवार्यता स्पष्ट करता है। प्रबन्ध की सफलता और असफलता वास्तव में, प्रतिनिधायन की कला पर निर्भर करती है। प्रतिनिधायन करने के साहस का अभाव अथवा प्रतिनिधायन कला की अनभिज्ञजा संगठनों की असफलता का प्रमुख कारण होती है। संगठन संरचना का निर्माण और समूहों में कार्य निष्पादन प्रतिनिधायन के द्वारा ही हो पाता है।

(6) अभिप्रेरण का माध्यम –प्रतिनिधायन अभिप्रेरणा का महत्वपूर्ण माध्यम है तथा इसके द्वारा कर्मचारियों की सामाजिक व मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि की जा सकती है। प्रबन्ध में श्रमिकों की सहभागिता और औद्योगिक प्रजातन्त्र की पुनर्स्थापना बिना प्रतिनिधायन के सम्भव ही नहीं है।

(7) अन्य –(i) समय व शक्ति की बचत, (ii) कर्मचारियों में पहलपन शक्ति का विकास, (iii) संगठन में स्थायित्व व निरन्तरता, (iv) सरल व सुगम निर्णयन, (v) कार्यकुशलता में वृद्धि, (vi) अन्तरवैयक्तिक सम्बन्धों में मधुरता, (vii) विकेन्द्रीकरण का प्रोत्साहन, (viii) प्रशासनिक भार में कमी, (ix) पदोन्नति में सुगमता आदि।

11.5 प्रभावीप्रतिनिधायन में बाधाएं

व्यवहार में अधिकारों का प्रतिनिधायन कार्य बहुत मुश्किल होता है। इसमें अनेक बाधाएं आती हैं। कुछ बाधाएं ऐसी होती हैं जिसके कारण प्रबन्धक अपने अधीनस्थ को अधिकार नहीं देना चाहता हैं अथवा अधीनस्थ कार्यभार को लेना ही नहीं चाहते है। इससे प्रतिनिधायन प्रक्रिया अवरूद्ध होती है। अतः इन बाधाओं का विवेचन आगे प्रस्तुत है :

(अ) अधिकारियों की ओर से उत्पन्न बाधाएं –(1) **अधीनस्थों में विश्वास का अभाव–**कुछ उच्च प्रबन्धक अपने अधिकारों का प्रतिनिधायन इस कारण नहीं करना चाहते हैं क्योंकि उन्हें अपने अधीनस्थों पर कम विश्वास होता है। उनको यह विश्वास रहता है कि जितनी अच्छी तरह वे स्वयं कार्य करते है, उतनी अच्छी तरह अन्य कोई व्यक्ति कार्य नहीं कर सकता। हो सकता है कि यह भ्रम कुछ सीमा तक सत्य हो, किन्तु आखिर जब तक दूसरे लोगों को कार्य–भार नहीं सौंपा जायेगा तब तक वे लोग उस कार्य में दक्षता कैसे प्राप्त कर सकते हैं। हां, इसके लिए व्यवस्थित प्रशिक्षण और सिखाने का कार्य प्रारम्भ कर देना चाहिए।

(2) अपने भविश्य के प्रति आशंका –कुछ प्रबन्धक इसलिए भी अधिकार के प्रतिनिधायन से कतराते

है क्योंकि उनके मन में यह डर बैठा रहता हैं कि ऐसा करने से अधीनस्थ अधिक प्रकाश में आ जायेगा और जब अधीनस्थ को अधिक मान्यता प्राप्त हो जायेगी तो फिर उस अधिकारी को कौन पूछेगा ? अधीनस्थों का विकास होने से से यह हो सकता है कि वे आगे बढ़ जायें और पदोन्नति पा करके अधिकारी की ही छुट्टी कर दें। अतः अपनी अकार्यकुशलता को छिपाने के लिए वे यही उचित समझते है कि अधीनस्थों को अपनी क्षमता प्रदर्शित करने का अवसर ही न दिया जाए। अधिकारी को यह भय बना रहता है कि यदि उसके द्वारा अधिक प्रतिनिधायन होगा तो उसके पास करने को बहुत कम काम रहेगा और वह स्वामी की निगाह में कामचोर कहलायेगा। इस भय से भी बहुतेरे अधिकारी प्रतिनिधायन से कतराते हैं। अक्षम अधिकारी को हमेशा यह खतरा रहता है कि अधिकार के प्रतिनिधायन करने से उसकी अपनी अक्षमताओं का ही भांडा फूट जायेगा।

(3) एकाकी भाासन और नियंत्रण करने की इच्छा –कुछ अधिकारी प्रतिनिधायन करना इसलिए नहीं चाहते क्योंकि उनमें दूसरों पर शासन करने एवं हावी रहने की इच्छा बड़ी बलवती होती है। वे ऐसा सोचते है कि अगर अधिकारों का प्रतिनिधायन अधीनस्थों को कर दिया तो उनका नियंत्रण व प्रभाव शिथिल पड़ जायेगा। भला फिर कौन,उसकी और परिजनों की खुशामद करेगा, कौन उनके यहां हाजिरी देगा, कौन उनके हुक्म को सिर आंखों पर बैठायेगा और कौन डरेगा ? इस प्रवृत्ति के अधिकारी विविध बहाने बना करके अधिकारों को अधीनस्थों में हस्तान्तरित नहीं करते है और अधिक से अधिक अधिकार अपने ही हाथों में केन्द्रित रखते हैं।

(4) जोखिम उठाने की अनिच्छा -यह सर्वविदित है कि अधिकार का प्रतिनिधायन हो सकता है किन्तु उत्तरदायित्व का नहीं । अतः अधिकारी अपने अधिकार को प्रतिनिधायन करने से इसलिए भी हिचकिचाते है कि वे खतरा मोल लेना नहीं चाहते। प्रतिनिधायन प्रक्रिया में अधीनस्थों के गलत निर्णयों और त्रुटियों का भी जोखिम अधिकारी पर ही होता है, अधीनस्थ पर नहीं। अतः अधिकारी अधिकार और कार्यभार सौंपने से डरते है।

(5) अन्य– (i) समन्वय की कला में अकुशल प्रबन्धक प्रतिनिधायन से बचते है क्योंकि प्रतिनिधायन से समन्वय की समस्या का उदय होता है। (ii) अगर प्रबन्धक में अधीनस्थों को आवश्यकतानुसार आदेश व निर्देश देने की संदेशवाहन योग्यता का अभाव रहता है तो वे प्रतिनिधायन भी नहीं करना चाहते है। (iii) जब प्रबन्धक सभी कार्यों का श्रेय अपने ही लेना चाहते हैं तो वे किसी अधीनस्थ को कार्य नहीं सौंपना चाहते हैं। (iv) बहुत बार सामाजिक व सांस्कृति परम्पराएं, प्रथाएं, परिस्थितियां आदि भी अधिकार के प्रतिनिधायन में प्रबन्धक की ओर से बाधा बनती है। (v) अगर प्रबन्धक कठोर निरीक्षण एवं नियंत्रण चाहता है तब भी वह अधिकार का प्रतिनिधायन नहीं करता हैं।

(ब) अधीनस्थों की ओर से उत्पन्न बाधाएं – कई बार अधिकार का प्रतिनिधायन इस कारण भी बाधित होता है कि अधीनस्थ अग्रांकित कारणों से इसे स्वीकार ही नहीं करना चाहते हैं : (1)

अधीनस्थों को सौंपे गये कार्य के निष्पादन के संदर्भ में आलोचना किये जाने का भय रहता हैं। नए कर्तव्य एवं दायित्व को स्वीकारने पर भूल हुई तो 'आ बैल मुझे मार' वाली उक्ति सार्थक होगी। (2) जिन अधीनस्थों में आत्मविश्वास का अभाव होता हैं वे असफलता से डरते हुए नए उत्तरदायित्व अपनाने से हिचकिचाते हैं। वे अपनी क्षमता को कम समझते है अतः अधिकारी द्वारा अधिकार प्रदान किए जाने पर भी स्वीकारने से संकोच करते हैं। (3) कोई भी अधीनस्थ प्रतिनिधायन से उत्पन्न उत्तरदायित्व को तब तक स्वीकार नहीं करना चाहता है जब तक कि स्पष्ट मौद्रिक व अमौद्रिक प्रोत्साहन उसे न प्राप्त हो। उत्तरदायित्व स्वीकारने से मानसिक श्रम, भावनात्मक तनाव, अतिरिक्त जोखिम, अधिक समय और धन लगता है अतः अतिरिक्त भुगतान, पदोन्नति, प्रतिष्ठा, व पद जैसे स्पष्ट प्रलोभन, प्रतिनिधायन के साथ सम्बद्ध करने पर स्वीकार्यता बढ़ती है। (4) कभी–कभी अधीनस्थों पर इतना कार्यभार पहले से रहता है कि वे नये कार्य को स्वीकारने को अनिच्छुक रहते हैं। (5) अगर अधीनस्थों को कार्य सम्पादन हेतु आवश्यक सूचनाएं व संसाधन न उपलब्ध हों तो वे नये कार्यभार को स्वीकारने में हिचकते है। (6) कई बार अधीनस्थों को स्पष्ट व उचित निर्देश व संदेश नहीं दिए जाते हैं तो वे नया कार्य लेने को तैयार नहीं होते है। (7) पर्याप्त प्रशिक्षण के अभाव के कारण भी प्रतिनिधायन में बाधा आती है।

(स) **संगठनात्मक सीमाएं व बाधाएं** – कभी–कभी प्रतिनिधायन हेतु प्रबन्धक व अधीनस्थ दोनों तैयार होते है, फिर भी संगठनात्मक संरचना की ओर से निम्न कारणों से रूकावट आ जाती है : (1) संगठन स्थापना के समय ही नीति पुस्तिका में अगर प्रतिनिधायन पर कुछ रोक का उल्लेख हो तो उनका उल्लंघन नहीं किया जा सकता है। (2) कुछ अधिकार ऐसे होते हैं जिनका प्रतिनिधायन सम्भव हीं नहीं होता है। (3) नवीन संगठनों में अनुभवहीन अधीनस्थों के होने के कारण प्रतिनिधायन सीमित मात्रा में ही करना ठीक रहता है। (4) भौगोलिक परिस्थितियां एवं संदेशवाहन भी प्रतिनिधायन में बाधा उत्पन्न करती है। (5) लघु संगठनों में तो वास्तव में, प्रतिनिधायन ही अनौचित्यपूर्ण सिद्ध होता है। (6) संगठन में अधिकारी–कर्मचारी सम्बन्ध खराब होने पर प्रतिनिधायन असफलतादायक होता है। (7) संगठन में क्रियाओं का वर्गीकरण और आबंटन त्रुटिपूर्ण होने तथा उचित विभागीकरण के अभाव में प्रतिनिधायन में अवरोध उत्पन्न होता है।

11.6 प्रभावी प्रतिनिधायन की बाधाओं को पार करने के लिए सुझाव

अधिकार का प्रतिनिधायन प्रबन्ध का अनिवार्य किन्तु अभ्यास में एक कठिन कार्य है, अतः प्रतिनिधायन को सफल बनाने हेतु इसके मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करना नितान्त आवश्यक है। इस दिशा में प्रभावी प्रतिनिधायन हेतु अग्रांकित सुझाव दिए जा सकते है :

1. प्रतिनिधायनकर्ता अधिकारी को अपनी भूमिका और कुल अधिकारों को भली प्रकार समझ लेना चाहिए।

2. अधिकारी को तय कर लेना चाहिए कि किन अधिकारों का प्रतिनिधायन करना है और किनका नहीं।
3. कुशल अधिशासियों का चयन किया जाना चाहिए।
4. अधीनस्थों की योग्यता व सीमा की स्पष्ट पहचान करके कार्य आबंटित करना चाहिए।
5. प्रतिनिधायन करते समय अधीनस्थों को स्पष्टतया अधिकार बता देना चाहिए। 'अगर और मगर' के प्रश्नों का साफ जवाब दे देना चाहिए।
6. प्रतिनिधायन विश्वास पर आधारित होना चाहिए।
7. प्रबन्ध का अनुकूल वातावरण निर्मित करके भय और नैराश्य को दूर करना चाहिए।
8. जो निर्णय अधीनस्थों के सीमा–क्षेत्र में हो उसमें अनावश्यक अधिकारी को हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए।
9. जो कार्य अधीनस्थ कर सकते है, उन्हें सौंप देना चाहिए।
10. ध्यान रहे, उत्तरदायित्व का प्रतिनिधायन नहीं होता है, मात्र अधिकार का प्रतिनिधायन होता है।
11. प्रभावी सन्देशवाहन व्यवस्था होनी चाहिए।
12. अधिकारी को प्रतिनिधायन अपने अधिकार सीमा के परे नहीं करना चाहिए।

11.7 सारांश

आज के जटिल औद्योगिक युग में किसी एक व्यक्ति के लिए उपक्रम की सम्पूर्ण व्यवस्था को सम्भालना सम्भव नहीं है। इसीलिए प्रशासनिक अधिकारी अपना कार्य–भार दूसरे अधीनस्थों को सौंपते हैं। प्रत्येक अधीनस्थ जिसे कुछ कार्य सौंपे जाएं तो आवश्यक है कि उसे कुछ अधिकार भी प्रदान किए जाना चाहिए, क्योंकि अधिकारों के बिना कोई भी व्यक्ति अपने कर्तव्य को पूर्णतया पालन करने में असमर्थ रहेगा। यह अधिकार और कर्तव्य का सौंपना ही अधिकार का प्रतिनिधायन कहलाता है।**एफ0 जी0 मूरे के भाब्दों में**–''प्रतिनिधायन से आशय है दूसरे लोगों को कार्य सौंपना तथा उसे करने हेतु अधिकार प्रदान करना।''

विलियम एच0 न्यूमैन के अनुसार, ''प्रतिनिधायन प्रक्रिया में निम्न तीन तत्व निहित होते है : (अ) कार्यभार का सौंपना, (ब) अधिकार प्रदान करना, तथा (स) जवाबदेही निर्धारित करना।''

प्रतिनिधायन के सिद्धान्त –(1) वांछित परिणामों के अनुरूप प्रतिनिधायन **का** सिद्धान्त, (2) उत्तरदायित्व की सम्पूर्णता का सिद्धान्त, (3) अधिकार और उत्तरदायित्व की समता का सिद्धान्त, (4) आदेश की एकता का सिद्धान्त, (5) स्पष्टता का सिद्धान्त, (6) अपवाद का सिद्धान्त, (7) क्रियात्मक परिभाषा का

सिद्धान्त, एवं (8) अधिकार स्तर का सिद्धान्त।

प्रतिनिधायन की आवश्यकता एवं महत्व – (1) मानवीय सीमाओं के कारण, (2) विशिष्टीकरण में वृद्धि, (3) व्यवसाय का विस्तार, (4) अधीनस्थों के प्रशिक्षण हेतु, (5) कार्य शक्ति का सम्वर्द्धन, एवं (6) अभिप्रेरण का माध्यम।

प्रतिनि**धायन प्रक्रिया में बाधाएं या कठिनाइयां** – (अ) अधिकारियों की ओर से उत्पन्न बाधाएं, (ब) अधीनस्थों की ओर से उत्पन्न बाधाएं, एवं (स) संगठनात्मक सीमाएं व बाधाएं।

11.8 महत्वपूर्ण शब्दावली

- **प्रतिनिधायन**–अधिकार के प्रतिनिधायन से आ'ाय अधि'ाासियों द्वारा अपने अधीनस्थों को निर्दिष्ट सीमाओं के अन्तर्गत कार्य करने हेतु अधिकार प्रदान करने से है।
- **आदेश की एकता का सिद्धान्त** – यह सिद्धान्त यह द'ाता है कि संगठन में एक व्यक्ति की एक समय में प्रत्यक्ष रूप से एक ही अधिकारी के प्रति जवाबदेही होना चाहिए।
- **स्पष्टता का सिद्धान्त** – प्रतिनिधायन प्रकृति के आधार पर साधारण अथवा वि'िाष्ट, लिखित अथवा मौखिक, औपचारिक अथवा अनौपचारिक हो सकता है। प्रतिनिधायन की प्रकृति चाहे जो भी हो, उसका पूर्णतया स्पष्ट होना परम आवश्यक होता है।

11.9 आवश्यक प्रश्न

1. अधिकार के प्रतिनिधायन को परिभाषित कीजिए और प्रतिनिधायन के व्यवहार में आने वाली समस्याओं तथा कठिनाइयों का परीक्षण कीजिए।
2. अधिकार का प्रतिनिधायन आवश्यक क्यों है ? इसके मार्ग में उत्पन्न प्रमुख कठिनाइयों का उल्लेख कीजिए। इन्हें कैसे दूर किया जा सकता है ?
3. अधिकार के प्रतिनिधायन के मौलिक सिद्धान्त क्या है ? क्या अधिकार और उत्तरदायित्व दोनों का प्रतिनिधायन किया जा सकता है ?
4. अधिकार के प्रतिनिधायन के प्रकार एवं प्रक्रिया को संक्षेप में स्पष्ट कीजिए।
5. ''अधिकार का प्रतिनिधायन किया जा सकता है परन्तु उत्तरदायित्व का नहीं।'' इस कथन की समीक्षा कीजिए और प्रतिनिधायन के विभिन्न सिद्धान्तों को समझाइए।
6. ''प्रतिनिधायन में अधिकार और उत्तरदायित्व में समता होनी चाहिए।'' क्यों ? अधिकार के प्रतिनिधायन के विविध प्रकार लिखिए।
7. व्यावसायिक उद्यमों में प्रभावी प्रतिनिधायन सुनिश्चित करने के लिए क्या करना चाहिए ?क्या अधिकार दायित्व के बराबर होना चाहिए ? स्पष्ट कीजिए।

8. अधिकार के प्रतिनिधायन न किये जाने के क्या कारण होते है ?अधिकारियों द्वारा अधिकार के प्रतिनिधायन न किये जाने के क्या कारण होते है ?

कुछ उपयोगी पुस्तकें

- प्रबन्ध के सिद्धान्त एस के सिंह प्रयाग पुस्तक भवन इलाहाबाद 2006
- व्यावसायिक प्रबन्ध ओ. पी. राय बी. के. सिंह वैभवसम्मी प्रकाशन, वाराणासी, 2012
- औद्योगिक संगठन एवं प्रबन्धन, आर.सी. गुप्ता, साहित्य भवन पब्लिकेषन आगरा, 2003
- व्यवसायिक संगठन, जगदीष प्रकाश, प्रयाग पुस्तक भवन, 2014
- औद्योगिक प्रबन्ध, जे.के. जैन, प्रतीक प्रकाशन आगरा, 2001

इकाई—12 विकेन्द्रीकरण

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य

12.1 प्रस्तावना

12.2 विकेन्द्रीकरण को प्रभावित करने वाले घटक

12.3 विकेन्द्रीकरण के लाभ

12.4 विकेन्द्रीकरण के सीमाएं

12.5 सारांश

12.6 महत्वपूर्ण शब्दावली

12.7 आवश्यक प्रश्न

12.0 उद्देश्य

इस अध्याय के अध्ययन से आप निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर दे पायेंगे।

- ❖ विकेन्द्रीकरण क्या है ?
- ❖ विकेन्द्रीकरण के लाभ की व्याख्या कीजिए।
- ❖ विकेन्द्रीकरण को प्रभावित करने वाले घटको को संक्षेप में बताइए।
- ❖ विकेन्द्रीकरण के सीमाएं की व्याख्या कीजिए।

12.1 प्रस्तावना

विकेन्द्रीकरण अधिकार के केन्द्रीकरण की विपरीत स्थिति हैं। यह विकेन्द्रीकरण अधिकारों के प्रतिनिधायन का ही एक विकसित रूप है। जब उच्च अधिकारी द्वारा अधीनस्थों को अधिक मात्रा में अधिकारों का प्रतिनिधायन किया जाता है तो विकेन्द्रीकरण कहते हैं अधिकारों तथा उत्तरदायित्वों का जितना अधिक अन्तरण होगा उतना ही विकेन्द्रीकरण की मात्रा अधिक मानी जायेगी।

(1) **कुण्ट्ज एवं ओ डोनेल के अनुसार,** ''अधिकार का विकेन्द्रीकरण प्रतिनिधायन का प्राथमिक पहलू है और जिस सीमा तक अधिकारों का प्रतिनिधायन नहीं किया जाता है वे केन्द्रित हो जाते हैं।''

(2) **ई.इफ.एल. ब्रेच के भाब्दों में** – ''विकेन्द्रीकरण प्रतिनिधायन के फलस्वरूप मिलने वाला दायित्वों का आकार होता हैं।''

(3) **हेनरी फेयोल के अनुसार** – ''वह प्रत्येक कार्य जिससे अधीनस्थ की भूमिका के महत्व में वृद्धि होती है, विकेन्द्रीकरण कहलाता है और जिससे उसकी भूमिका के महत्व में कमी होती है, केन्द्रीकरण के नाम से जाना जाता है।''

(4) कीथ **डेविस के अनुसार** – ''संगठन की छोटी से छोटी इकाई तक, जहां तक कि व्यावहारिक हो, सत्ता एवं दायित्व का वितरण विकेन्द्रीकरण कहलाता है।''

(5) **लुइस ए. ऐलन के भाब्दों में** – ''विकेन्द्रीकरण का तात्पर्य समस्त संगठन में व्यवस्थित ढंग से, निर्णय सम्बन्धी अधिकारों को अधीन व्यक्तियों को सौंपने से हैं।''

अतः हम कह सकते हैं कि विकेन्द्रीकरण अधिकारों को सौंपने की एक ऐसी व्यवस्थित विधि है जिसके अन्तर्गत उच्च अधिकारियों द्वारा निम्न –स्तरों के अधीनस्थों को दायित्वों के अनुसार अधिकार प्रदान किये जाते हैं।

लक्षण –

(1) यह अधीनस्थों की भूमिका को महत्वपूर्ण बनाता है।

(2) यह संगठन में ऊपर से नीचे तक लागू होने वाले प्रक्रिया होती है।

(3) इसमें उत्तरदायित्वों के अनुपात में अधिकारों का प्रतिनिधायन किया जाता है।

(4) अधिक संख्या में निर्णय प्रबन्ध सोपान के निम्न स्तर पर लिये जाते हैं।

(5) यह अधिकार सत्ता का वितरण करती है।

12.2 विकेन्द्रीकरण को प्रभावित करने वाले घटक

अधिकार के विकेन्द्रीकरण की मात्रा एवं सीमा विभिन्न तत्वों पर निर्भर रहती है जिनमें से निम्नांकित मुख्य हैं:–

(1) **नीतियों में एकरूपता** -यदि उच्चाधिकारी गुण, मूल्य, माल सुपुर्दगी, सेवा आदि सम्बन्धी निर्णयों और नीतियों में एकरूपता के हामी होते हैं तो वे अधिकारों के केन्द्रीकरण पर बल देते है। इसके विपरीत, जिन क्षेत्रों में नीतियों में विभिन्नता की गुंजाइश रहती है वहां निर्णयन के अधिकार विकेन्द्रित भी किये जाते हैं।

(2) **उपक्रम का आकार** -एक बड़े उपक्रम में जहां कर्मचारियों और विभागों की संख्या अधिक है और समन्वय तथा नियंत्रण की समस्याएं विषम हो वहां पर पूर्ण केन्द्रीकरण न तो सम्भव है और न ही अपेक्षित है। ऐसे उपक्रमों में यदि निर्णय एक केन्द्रीय स्थल या सत्ता से लिए जायेंगे तो देरी, कागजी कार्यवाही में वृद्धि, उच्चाधिकारियों के कार्यभार में अनावश्यक बढ़ोत्तरी और निर्णयों में दोषपूर्णता परिलक्षित होती है। उपक्रम के संगठन को छोटी–छोटी इकाइयों, सम्भागों, विभागों और परिक्षेत्रों में विभाजित करके निर्णयन प्रक्रिया को विकेन्द्रित करना ठीक रहता है। छोटी आकार की इकाइयों में ही केन्द्रीकरण सरल व मितव्ययी ढंग से प्रभावी रूप में क्रियान्वित किया जा सकता है।

(3) **उपक्रम का इतिहास** –जब प्रतिष्ठान का विस्तार एक लघु इकाई से धीरे–धीरे बड़ी इकाई के रूप में होता है तो प्रारम्भ में सभी अधिकार संस्थापक स्वामी के पास केन्द्रित होते हैं। जिस गति से व्यापार का विस्तार होता है उसी गति से अधिकार का प्रतिनिधायन न होने से केन्द्रीकरण हो जाता है। इसके विपरीत, अगर कोई बड़ा प्रतिष्ठान छोटे–**छोटे** प्रतिष्ठानों के सम्मिश्रण का

परिणाम होता है तो सम्मिश्रण के पूर्व के स्वतन्त्र प्रतिष्ठानों के अधिकारी निर्णयन के अभ्यस्त होते हैं और वे बाद में भी अधिकार चाहते हैं अतः विकेन्द्रीकरण को बढ़ावा मिलता हैं।

(4) **उच्चाधिकारियों का स्वाभाव –**शीर्ष प्रबन्धकों की व्यक्तिगत मान्यताएं एवं उनका प्रबन्धकीय दर्शन और विचार अधिकार के विकेन्द्रीकरण की सीमा पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालते है। अगर उच्चाधि**कारी** अपनी आत्म तृष्टि, अहं, पद लोलुपता, अधिकार लिप्सा अथवा अन्य किसी कारण से अधीनस्थों का हस्तक्षेप नहीं चाहते है तो अधिकार का केन्द्रीकरण होता हैं। अगर उच्चाधिकारी जनतान्त्रिक परम्पराओं का विकास, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, पहलपन को प्रोत्साहन, अधीनस्थों का रचनात्मक सहयोग विकसित करने को इच्छुक हो तो प्रतिष्ठान में विकेन्द्रीकरण होता है।

(5) **बाह्म वातावरण –**सरकारी नियंत्रण, राष्ट्रीय संघवाद, कर नीतियां, पड़ोसी और समान प्रतिष्ठानों में विकेन्द्रीकरण की सीमा जैसे बाह्म तत्व भी विकेन्द्रीकरण को प्रभावित करते है। अगर मूल्यों का नियमन और निर्धारण सरकार के द्वारा किया जाता है तो बिक्री प्रबन्धक को उन्हें निर्धारित करने की स्वतन्त्रता नहीं रहती है। सामग्री का क्रय सरकारी वितरण के आधार पर किया जाता हो तो क्रय प्रबन्धक की स्वतन्त्रता में बाधा आती है। प्रबन्धक और श्रम संघ के सामूहिक सौदेबाजी के द्वारा मजदूरी, बोनस, कार्य–घण्टे और श्रम कल्याण नीतियां तय होती है तो सेविवर्गीय प्रबन्धक के अधिकार का विकेन्द्रीकरण नहीं हो पाता है। परन्तु व्यवहार में बाह्म तत्व इतने कठोर नहीं होते हैं कि अधिकारों का विकेन्द्रीकरण न किया जा सके।

(6) **लागत** –अधिक'ारों के विकेन्द्रीकरण को प्रभावित करने वाले तत्वों में लागत का महत्वपूर्ण स्थान होता है। प्रमुख निर्णयों जैसे प्लान्ट का क्रय' एवं विनियोग आदि में बहुत अधिक लागत निहित होती है अतः ऐसे निर्णय को उच्च प्रबन्धक अपने हाथ में सुरक्षित रखने हेतु **केन्द्रीकर**ण को बढ़ावा देते हैं। नैत्यक निर्णयों की कम लागत को देखते हुए विकेन्द्रीकरण ठीक रहता है।

(7) **प्रशिक्षित प्रबन्धकों की उपलब्धि –**प्रशिक्षित, कुशल व निष्ठावान प्रबन्धकों का अभाव संस्था को केन्द्रीकरण की ओर प्रेरित करता है। अधिकारों के विकेन्द्रीकरण करने हेतु यह आवश्यक है कि प्रशिक्षित व अनुभवी प्रबन्धक पर्याप्त मात्रा में संगठन के हर स्तर पर उपलब्ध हों। फिर कुछ शीर्ष प्रबन्धक यह बहाना बना करके कि अच्छे प्रबन्धकों की कमी है, वे अधिकारों का केन्द्रीकरण कर लेतेहैं।जबकि विकेन्द्रीकरण तो प्रबन्धकों के प्रशिक्षण व विकास की सफल कुंजी होती है।

(8) **कम्प्यूटर एवं प्रबन्ध सूचना पद्धति –**वर्तमान समय में जिन उपक्रमों में कम्प्यूटर का प्रयोग किया जाता है वहां केन्द्रित प्रबन्ध सूचना पद्धति को ही प्रोत्साहित किया जाता हैं। महत्वपूर्ण निर्णय सरलता और शीघ्रता से अधिकार के केन्द्रीकरण से लिए जा सकते हैं। प्राचीन समय में जब सूचनाएं उपलब्ध नहीं हो पाती थी तो विकेन्द्रीकरण को अच्छा माना जाता था।

12.3 विकेन्द्रीकरण के लाभ

(1) इसमें निर्णयन में सुविधा व सरलता रहती है।

(2) इसमें उच्च प्रबन्ध व अधीनस्थों के मध्य अनावश्यक भेदभाव नहीं रहता है।

(3) इसमें अनावश्यक लालफीताशाही और राजनीति को निरूत्साहित किया जाता है।

(4) प्रबन्ध में अनौपचारिकता और लोकतंत्र पनपता है।

(5) विकेन्द्रीकरण से उच्च प्रबन्ध तथा उसके विभागों के मध्य टकराव की सम्भावना नहीं रहती है।

(6) योग्य एवं अनुभवी प्रबन्धकों की कमी नहीं रहती, अपितु वे स्वयं संगठन में उपलब्ध होते रहते हैं।

(7) इसमें विभागों के मध्य स्वस्थ प्रतिस्पर्धा होने से उनकी कमजोरियों का तुरन्त ज्ञान हो जाने से सुधारात्मक कदम उठाये जा सकते हैं।

(8) इससे अधीनस्थों में रूचि, मौलिकता, उत्तरदायित्व और मनोबल को बढ़ावा मिलता है।

(9) यह अधिकारी प्रशिक्षण और विकास का एक श्रेष्ठ माध्यम है।

(10) संस्था में समन्वय, निरीक्षण, नियंत्रण, उत्पादों की विविधता, शोध, नवीन परिवर्तन आदि को प्रोत्साहन विकेन्द्रीकरण से मिलता है।

(11) इससे उच्च अधिकारियों के कार्यभार में कभी और युवा अधिकारियों को प्रेरणा प्राप्त होती है।

12.4 विकेन्द्रीकरण के सीमाएं

(1) विकेन्द्रीकरण की दशा में उचित समन्वय के अभाव के कारण उपक्रम की नीतियों एवं विधियों में विभिन्नता पायी जाती है।

(2) प्रबन्ध व्ययों में बढ़ोत्तरी होती है, क्योंकि विकेन्द्रित इकाइयों में अलग से कर्मचारी सुविधाओं का प्रावधान करना नितान्त आवश्यक हो जाता है।

(3) संकटकालीन परिस्थितियों में शीघ्र निर्णयन नहीं होता है।

(4) विशिष्ट सेवाओं जैसे लेखाकार्य और सांख्यिकीय विभाग में विकेन्द्रीकरण लागू नहीं किया जा सकता है।

(5) विकेन्द्रित इकाइयों और प्रबन्धकों में साम्राज्य निर्माण की भावना पनप सकती है जो समग्र व्यवसाय के उत्थान में बाधक सिद्ध हो सकती है। परिवर्तित परिस्थितियों में समायोजन करना कठिन होता है।

(6) दोबारगी और अतिव्यापन की संभावनाएं बढ़ जाती है।

(7) निम्न स्तर पर भी योग्य कार्यकारी अधिकारियों की नियुक्ति करनी पड़ती है।

(8) इससे उच्च प्रबन्धकों की स्थिति और अधिकार सत्ता में कमी आती है तो वे विरोध करते हैं।

अतः अधिकारों का विकेन्द्रीकरण तभी उपयुक्त सिद्ध होता है जहां पर कार्य प्रमापित व पुनरावृत्ति स्वभाव का हो, संगठन विशाल व जटिल हो, प्रबन्धक अनुभवी व कुशल हों, नियंत्रण का विस्तार व्यापक हो और प्रबन्ध के स्तर कम हो। वास्तव में, केन्द्रीकरण और विकेन्द्रीकरण के अपने–अपने गुण दोष हैं। पूर्णतया किसी को भी लागू नहीं किया जा सकता हैं। पूर्ण केन्द्रीकरण से संस्था के अधिकार मुट्ठी भर लोगों के हाथों में केन्द्रित हो जाते है जबकि पूर्ण विकेन्द्रीकरण से सर्वोच्च सत्ता के पास कुछ भी नहीं बचता है। अतः प्रत्येक संस्था के लिए वही स्थिति उत्तम कही जा सकती है कि बिना बाधा के प्रबन्धकीय कार्य का निष्पादन सम्भव हो सके, भले ही वहां अंशतः केन्द्रीकरण और अंशतः विकेन्द्रीकरण का उपयोग

किया जाता हो।

12.5 सारांश

विकेन्द्रीकरण अधिकार के केन्द्रीकरण की विपरीत स्थिति है। जिसमें उच्च अधिकारी द्वारा अधीनस्थों को अधिक मात्रा में अधिकारों का प्रतिनिधायन किया जाता है। विकेन्द्रीकरण अधिकारों को सौंपने की एक ऐसी व्यवस्थित विधि है जिसके अन्तर्गत उच्च अधिकारियों द्वारा निम्न –स्तरों के अधीनस्थों को दायित्वों के अनुसार अधिकार प्रदान किये जाते हैं।

कीथ डेविस **के अनुसार** – ''संगठन की छोटी से छोटी इकाई तक, जहां तक कि व्यावहारिक हो, सत्ता एवं दायित्व का वितरण विकेन्द्रीकरण कहलाता है।''

संस्था में विकेन्द्रीकरण की मात्रा एवं सीमा विभिन्न तत्वों पर निर्भर रहती है जिनमें से निम्नांकित मुख्य हैं :–

(1) नीतियों में एकरूपता, (2) उपक्रम का आकार

(3) उपक्रम का इतिहास (4) उच्चाधिकारियों का स्वाभाव

(5) बाह्य वातावरण (6) लागत

(7) प्रशिक्षित प्रबन्धकों की उपलब्धि (8) कम्प्यूटर एवं प्रबन्ध सूचना पद्धति

विकेन्द्रीकरण के अपने अपने गुण एवं दोष है। यह तभी उपयुकत सिद्ध हो सकता है, जहां पर कार्य प्रमाापित व पुनरावृत्ति स्वभाव का हो, संगठन विशाल व जटिल हो, प्रबन्धक अनुभव व कुशल हो, नियंत्रण का विस्तार व्यापक हो और प्रबन्ध का स्तर कम हो। अतः प्रत्येक संस्था के लिए वहीं स्थिति उत्तम कही जा सकती है कि बिना बाधा के प्रबन्धकीय कार्य का निष्पादन सम्भव हो सके, भले ही वहां अंशतः केन्द्रीकरण और अंशतः विकेन्द्रीकरण का उपयोग किया जाता हों।

12.6 महत्वपूर्ण शब्दावली

- **विकेन्द्रीकरण** – विकेन्द्रीकरण अधिकारों को सौंपने की एक ऐसी व्यवस्थित विधि है जिसके अन्तर्गत उच्च अधिकारियों द्वारा निम्न –स्तरों के अधीनस्थों को दायित्वों के अनुसार अधिकार प्रदान किये जाते हैं।
- **बाह्य वातावरण** – सरकारी नियंत्रण, राष्ट्रीय संघवाद, कर नीतियां, पड़ोसी और समान प्रतिष्ठानों आदि बाह्य वातावरण कहलाते है।
- **कम्प्यूटर एवं प्रबन्ध सूचना पद्धति** – वर्तमान समय में, महत्वपूर्ण निर्णय, सूचना आदि को सरलता एवं शीघ्रता के लिए जहां कम्प्यूटर का प्रयोग किया जाता है। वहां केन्द्रित प्रबन्ध सूचना पद्धति को भी प्रोत्साहित किया जाता है।

12.7 आवश्यक प्रश्न

1. अधिकार के विकेन्द्रीकरण की मात्रा को निर्धारित करने वाले घटक क्या है ? विकेन्द्रीकरण के पक्ष में अपने विचार प्रकट कीजिए।

2. ''न में अधिकार का विविध बिन्दुओं पर यथाक्रम और सुसंगत इस कथन के संग अधिकारों के विकेन्द्रीकरण के गुण–दोषों की विवेचना कीजिए।

3. अधिकार के विकेन्द्रीकरण और प्रतिनिधायन में भेद कीजिए। विकेन्द्रीकरण की मात्रा को निर्धारित करने वाले घटकों का परीक्षण कीजिए।

4. पूर्ण केन्द्रीकरण अथवा विकेन्द्रीकरण सम्भव है ? विवेचना कीजिए।

5. अधिकार के विकेन्द्रीकरण से प्रतिनिधायन किस प्रकार भिन्न है ? विकेन्द्रीकरण के लाभ–दोष की व्याख्या कीजिए।

कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. प्रबन्ध के सिद्धान्त एस के सिंह प्रयाग पुस्तक भवन इलाहाबाद 2006।
2. व्यावसायिक प्रबन्ध ओ. पी. राय बी. के. सिंह वैभवसम्मी प्रकाशन, वाराणासी, 2012।
3. औद्योगिक संगठन एवं प्रबन्धन, आर.सी. गुप्ता, साहित्य भवन पब्लिकेषन आगरा, 2003।
4. व्यवसायिक संगठन, जगदीष प्रकाश, प्रयाग पुस्तक भवन, 2014।
5. औद्योगिक प्रबन्ध, जे.के. जैन, प्रतीक प्रकाशन आगरा, 2001।

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

DCB.Com.-101
प्रबन्ध सिद्धान्त

खण्ड

4

नियुक्तिकरण एवं निर्देशन

इकाई–13 नियुक्तिकरण / स्टाफिंग	189–200
इकाई–14 निर्देषन	201–211
इकाई–15 अभिप्रेरणा	213–236
इकाई–16 नेतृत्व	237–266

विशेषज्ञ समिति

प्रो. अरविन्द कुमार — वाणिज्य संकाय, लखनऊ, विष्वविद्यालय लखनऊ,

प्रो. गीतिका — विभागाध्यक्ष, प्रबन्ध अध्ययन विद्याषाखा, एम.एम.एन.आई.टी. इलाहाबाद

प्रो. एच.के. सिंह — वाणिज्य संकाय, बी.एच.यू. वाराणसी

डॉ. ओमजी गुप्ता — निदेषक, प्रबन्धन अध्ययन विद्याषाखा इलाहाबाद

लेखक

डॉ. मीरा सिंह, — सहायक आचार्य वाणिज्य विभाग, यू.पी. कालेज, वाराणासी, उ.प्र.

सम्पादक

प्रो. सुधीर कुमार शुक्ला — वाणिज्य एवं प्रबन्धन संकाय, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणासी उ.प्र.

संयोजकः

डॉ देवेश रंजन त्रिपाठी, — सह.आचार्य, व्यापार प्रबन्धन, प्रबन्धन अध्ययन विद्याशाखा, उ. प्र. राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

अनुवाद की स्थिति में

मूल लेखक — अनुवाद

मूल सम्पादक — भाषा सम्पादक

मूल परिमापक — परिमापक

Printed year-2021
ISBN:978-93-83328-78-9

(c) उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद सर्वाधिकार सुरक्षित। इस पाठ्यसामग्री का कोई भी अंश उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।
नोट–पाठ्य सामग्री में मुद्रित सामग्री के विचारों एवं आकड़ों आदि के प्रति विश्वविद्यालय उत्तरदायी नहीं है।

खण्ड 04 नियुक्तिकरण एवं निर्देशन

प्रस्तुत खण्ड प्रबन्ध के सिद्धान्त का चतुर्थ प्रमुख चरण हैं, जिसके अन्तर्गत चार इकाईयों को समाहित किया गया है। मूल रुप से यह खण्ड नियुक्तिकरण एवं निर्देशन से सम्बन्धित संकल्पनाओं को सरल एवं सटीक शब्दों में प्रस्तुत करेगा। इस खण्ड में प्रमुख रुप से नियुक्तिकरण की अवधारणा, इसकी प्रक्रिया, भर्ती के श्रोत, आगमन एवं अभिस्थापना प्रशिक्षण और विकास, निर्देशन की अवधारणा, पर्यवेक्षण की अवधारणा, गुण, कार्य उत्तरदायित्व, अभिप्रेरणा की अवधारणा, भूमिका, प्रकार अभिप्रेरणा के सिद्धान्त अथवा विचारधाराएँ, नेतृत्व की अवधारणा तथा कार्य, नेतृत्व की शैलियों के प्रकार, मनोबल का अर्थ तथा महत्त्व निर्धारित करने वाले प्रमुख तत्वों आदि को सम्मिलित किया गया है। आइये अध्ययनोपयोगी सम्मिलित चारो इकाईयों की विषयवस्तु को विस्तार से क्रमबद्ध करने का प्रयास करेः—

इकाई 13 में नियुक्तिकरण का अर्थ, नियुक्तिकरण क्रिया महत्त्व, मानव संसाधन नियोजन, भर्ती, चयन, आगमन एवं अभिस्थापना, प्रशिक्षण और विकास, प्रशिक्षण का प्रकार एवं विधियाँ।

इकाई 14 में निर्देशन का आशय, निर्देशन कार्य की विशेषताएँ निर्देशन का महत्त्व, पर्यवेक्षण, पर्यवेक्षकीय भूमिका का महत्त्व, पर्यवेक्षक के कार्य और उत्तरदायित्व, पर्यवेक्षक के अवश्यक गुण।

इकाई 15 में अभिप्रेरण की अवधारणा, अभिप्रेरणा की भूमिका, अभिप्रेरणा के प्रकार, अभिप्रेरणा के सिद्धान्त अथवा विचारधाराएँ।

इकाई 16 में नेतृत्व का अर्थ एवं अवधारणा, नेतृत्व के कार्य, प्रबन्धकीय नेतृत्व की महत्त्व, नेतृत्व की शैलियों के प्रकार, नेतृत्व की विचारधाराएँ प्रभावी नेता लक्षण, मनोबल का अर्थ, मनोबल का महत्व, मनोबल को निर्धारित करने वाले तत्व, मनोबल एवं नेतृत्व से सम्बन्ध।

इकाई– 13 : नियुक्तिकरण/स्टाफिंग

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य

13.1 प्रस्तावना

13.2 नियुक्तिकरण का अर्थ

13.3 नियुक्तिकरण क्रिया का महत्व

13.4 मानव संसाधन नियोजन

13.5 भर्ती

  13.5.1 आन्तरिक स्त्रोत

  13.5.2 बाह्य स्त्रोत

13.6 चयन

13.7 आगमन एवं अभिस्थापन

13.8 प्रशिक्षण और विकास

  13.8.1 उद्देश्य

  13.8.2 महत्व और आवश्यकता

13.9 प्रशिक्षण का प्रकारएवं विधियां

13.10 सारांश

13.11 महत्वपूर्ण शब्दावली

13.12 आवश्यक प्रश्न

13.0 उद्देश्य

इस अध्याय के अध्ययन से आप निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर दे पायेंगे।

- ❖ मानव संसाधन नियोजन का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।
- ❖ भर्ती के तत्व कौन–कौन से है?
- ❖ कार्य–विवरण और कार्य–विशिष्टता में अन्तभेंद कीजिए।

- ❖ समस्या अध्ययन विधि को संक्षेप में बताइए।
- ❖ चयन प्रक्रिया की विशेषताएँ क्या है ?

13.1 प्रस्तावना

आशय – किसी उपक्रम में संगठनात्मक संरचना की रूपरेखा बन जाने के पश्चात् प्रबन्ध के अगले कार्य के रूप में नियुक्तिकरण अथवा स्टाफिंग की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। किसी उपक्रम द्वारा अपेक्षित मानव संसाधनों को आकृष्ट करने, प्राप्त करने, उन्हें बनाये रखने तथा विकसित करने का प्रबन्धकीय कार्य प्रबन्धक नियुक्तिकरण के माध्यम से ही पूरा करता है। इस कार्य के माध्यम से संगठनात्मक संरचना में निर्मित विभिन्न प्रबन्धकीय तथा गैर–प्रबन्धकीय पदों पर सही प्रकार के व्यक्तियों को लगाया जाता है। सही व्यक्ति को सही काम देना नियुक्तिकरण की सफलता का आधार है।

13.2 नियुक्तिकरण का अर्थ

नियुक्तिकरण को विभिन्न विद्वानों ने निम्न प्रकार से परिभाशित किया है :–

कुण्ट्ज एवं ओ' डोनेल के भाब्दों में ''नियुक्तिकरण का अभिप्राय उस प्रबन्धकीय कार्य से है जिसमें जन–प्रबन्ध सम्मिलित है, जिसमें कर्मचारियों का उचित एवं प्रभावी चयन, मूल्यांकन तथा नियुक्ति व्यक्तियों का विकास करना है जिससे वे संरचना के अनुसार योगदान कर सकें।''

बेंजामिन के अनुसार, ''नियुक्तिकरण वह प्रक्रिया है जिसमें कार्य पर व्यक्तियों की पहचान करना, परीक्षण करना, स्थापना करना, मूल्यांकन करना तथा विकास करना शामिल है।''

जार्ज टैरी के अनुसार, ''नियुक्तिकरण या स्टाफिंग का अभिप्राय संतोषजनक एवं संतुष्ट कार्यशक्ति को प्राप्त करना और उसे बनाये रखना है।''

थियो हैमन के अनुसार, ''स्टाफिंग कार्य कर्मचारियों को भर्ती, चयन, विकास एवं क्षतिपूर्ति से सम्बन्ध रखने वाला कार्य है।''

उपरोक्त परिभाषाओं का अध्ययन करने के पश्चात् नियुक्तिकरण की एक उपयुक्त परिभाषा निम्न शब्दों में दी जा सकती है :– नियुक्तिकरण प्रबन्ध का महत्वपूर्ण कार्य एवं उत्तरदायित्व है जो संस्था के कार्य संचालन हेतु पर्याप्त संख्या में प्रबन्धकीय कर्मचारियों एवं अन्य कर्मचारियों को उपलब्ध कराने, उनका विकास करने और उन्हें संस्था के कार्य संचालन हेतु पर्याप्त संख्या में प्रबन्धकीय और अन्य कर्मचारियों को उपलब्ध कराने, उनका विकास करने और उन्हें संस्था में बनाये रखने से सम्बन्धित होता है।

13.3 नियुक्तिकरण का महत्व

स्टाफिंग के प्रमुख महत्व निम्नलिखित है :–

1. प्रबन्ध के अन्य कार्यों की तरह नियुक्तिकरण भी एक प्रबन्धकीय कार्य है जो निरन्तर किसी न किसी रूप से चलता रहता है।

2. नियुक्तिकरण अदृश्य प्रकृति का कार्य है, जिसके परिणाम भविष्य में पता चलता है।

3. नियुक्तिकरण वर्तमान एवं भावी रिक्त पदों की पूर्ति के लिए की जाती है।

4. मानवीय संस्थान से सम्बन्धित होने के कारण इसे 'मानव संसाधन प्रबन्ध' भी कहते हैं। अतः उनका चयन एवं प्रशिक्षण सम्भव होता है।

5. नियुक्तिकरण एक गतिशील प्रक्रिया है। नियुक्तिकरण के क्षेत्र में मानव शक्ति का चयन, प्रशिक्षण, विकास, मूल्यांकन आदि परस्पर सम्मिलित उपतंत्र है जो स्टाफिंग को एक प्रणाली का रूप प्रदान करते है।

6. नियुक्तिकरण एक सामाजिक दायित्व भी है क्योंकि इससे समाज को रोजगार मिलता है।

7. नियुक्तिकरण अपने आप में स्वयं एक प्रणाली है जो कर्मचारियों को उनके आवश्यकता के अनुरूप बनाता है।

13.4 मानव संसाधन नियोजन

मानव संसाधन नियोजन के अन्तर्गत उपक्रम में गुणात्मक और संख्यात्मक दोनों दृष्टियों से मानव संसाधनों की आवश्यकताओं और विभिन्न स्रोतों से उनकी आपूर्ति के लिए योजना बनाई जाती है। मानव संसाधन नियोजन के दो चरण होते हैं – पहले चरण के अन्तर्गत मानव संसाधनों की आवश्यकताओं का नियोजन किया जाता है कि नियोजन की समयावधि में किस प्रकार के कितने लोगों की आवश्यकता होगी। दूसरे चरण के अन्तर्गत मानव संसाधनों की नियोजित आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए उनकी विभिन्न स्रोतों से आपूर्ति सुनिश्चित करने की योजना बनाई जाती है, अर्थात् नियोजित आवश्यकताओं के संदर्भ में आंतरिक स्रोतों के माध्यम से कितने लोग उपलब्ध हो सकेंगे और शेष लोगों की उपलब्धि के लिए कौन–कौन से कदम उठाए जायेंगे। मानव संसाधन नियोजन अपने में निम्न बातों को समाहित करता है–

(अ) मानव संसाधनों की आवश्यकताओं का निर्धारण –उपक्रम के सभी लक्ष्यों, नीतियों और भावी व्यावसायिक योजनाओं के आधार पर यह पूर्वानुमान लगाया जा सकता है कि भविष्य में निश्चित योजना विधि में कितने सेविवर्गियों की आवश्यकता पड़ेगी।

(ब) कार्य–विश्लेशण – कार्य विश्लेषण के माध्यम से यह पता चलता है कि भविष्य में किस प्रकार की योग्यता वाले लोगों की आवश्यकता पड़ेगी। कार्य विश्लेषण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा किसी कार्य के महत्वपूर्ण तत्वों को निर्धारित किया जाता है, और इसके कुशल निष्पादन के लिए आवश्यक मानवीय योग्याताओं को सुनिश्चित किया जाता है। इसके दो भाग होते हैं –**(I)** कार्य विवरण,

एवं (II) कार्य–विशिष्टता।

(I) कार्य–विवरण – इससे कार्य की विषय वस्तु, उससे सम्बन्धित कर्तव्यों, अधिकारों और उत्तरदायित्वों के बारे में जानकारी मिलती है। सामान्य तौर पर ये अपने आप में निम्न तथ्यों को समाहित करता है – (1) कार्य का नाम, (2) कार्य का संक्षिप्त विवरण, (3) उत्तरदायित्व एवं परिणाम, (4) कार्य की दशाएँ, (5) मशीन, उपकरण और सामग्री, (6) रोजगार की शर्तें, (7) अन्य कार्यों के साथ सम्बन्ध, एवं (8) पर्यवेक्षण से सम्बन्धित जानकारी।

(II) कार्य–विशिष्टता – कार्य विशिष्टता के माध्यम से यह पता चलता है कि कार्य को निष्पादित करने वाले व्यक्ति में किस प्रकार के गुण और योग्यताएँ होनी चाहिए। इसमें निम्न बातों को शामिल किया जाता है – (1) शिक्षा, (2) अनुभव, (3) प्रशिक्षण, (4) निर्णय–क्षमता, (5) पहलपन, (6) संदेशवाहन कुशलता, (7) भौतिक प्रयास, एवं (8) भावनात्मक विशेषताएँ कार्य विवरण कार्य के बारे में विस्तृत सूचना प्रदान करता है जबकि कार्य–विशिष्टता यह दर्शाती है कि उस कार्य को करने वाले व्यक्ति में अपेक्षित योग्यताएँ क्या–क्या होनी चाहिए।

(स) मानव संसाधनों की सम्पत्ति सूची – मानव संसाधनों की सम्पत्ति सूची के अन्तर्गत संगठन में कार्यरत प्रमुख सेविवर्गियों के बारे में आवश्यक जानकारी एकत्र की जाती है। सम्पत्ति सूची को तैयार करने की प्रक्रिया इस प्रकार है – सबसे पहले प्रमुख सेविवर्गियों की सूची बनायी जाती है। इसके अन्तर्गत वर्तमान में कार्यरत प्रबन्धकर्मियों के साथ–साथ हाल में सम्भावित प्रबन्धकर्मियों को भी शामिल किया जा सकता है। कुछ संगठनों मे उन सभी वेतनभोगी कर्मचारियों की सम्पत्ति सूची बनाई जाती है जो एक निश्चित आय स्तर के ऊपर आते हैं। प्रमुख सेविवर्गियों के निर्धारण के बाद उनके बारे में आवश्यक सूचनाएँ एकत्र की जाती हैं जो उनकी आयु, शिक्षा, अनुभव, रोजगार, अभिलेख, गुण–क्रमांकन, स्वास्थ्य, सेवानिवृत्ति, मनोवैज्ञानिक व अन्य परीक्षण आदि से सम्बन्धित होते हैं। इसके बाद इन सेविवर्गियों के कार्य का मूल्यांकन किया जाता है। इससे उनके वर्तमान और भावी प्रतिभा की स्थिति का पता चलता है। इसके बाद अन्तिम बिंदु पर उन व्यक्तियों के बारे में विस्तृत अध्ययन किया जाता हैं जिन्हें संगठन में आगे पदोन्नत किए जाने की प्रबल सम्भावना है और जो प्रमुख पदों पर कार्यरत हैं। इससे उनसे सम्बन्धित प्रशिक्षण और पदोन्नति की आवश्यकताओं के बारे में सुस्पष्ट जानकारी मिलती है कि उन्हें किस प्रकार का प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए और उन्हें कब पदोन्नत किया जाना चाहिए।

(द) उपलब्ध मानव –संसाधनों और अपेक्षित मानव संसाधनों के बीच अन्तराल का पता **लगाना –** संगठन में निश्चित समयावधि के भीतर जितने सेविवर्गियों की आवश्यकता होगी और उनकी तुलना में जितनें सेविवर्गियों की उपलब्धि होगी, इनकी सही तस्वीर तभी स्पष्ट हो सकती है। सेविवर्गियों की हानि का प्रत्यक्ष सम्बन्ध उनके सेवानिवृत्ति, मृत्य, सेवामुक्ति, त्यागपत्र, स्थानान्तरण आदि से है।

जब सेविवर्गिय–हानि को शामिल कर लिया जाता है तब इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि संगठन में मानव–संसाधनों की उपलब्धि और आवश्यकता के बीच कितना अन्तराल होगा। इस अन्तराल

की पूर्ति भर्ती और चयन की प्रक्रिया के माध्यम से की जा सकती है। परन्तु संगठन में उपलब्ध रहने वाले सेविवर्गियों के लिए प्रशिक्षण व विकास कार्यकमों की रूपरेखा बनाई जानी चाहिए। ऐसे कार्यक्रमों की रूपरेखा को तैयार करने में मानव संसाधनों की प्रबन्ध सूची की सहायता ली जा सकती है।

13.5 भर्ती

नियुक्तिकरण के दूसरे चरण के रूप में भर्ती प्रक्रिया की कार्यवाही शुरू होती है। भर्ती की प्रक्रिया का सम्बन्ध सेविवर्गियों की प्राप्ति के सम्भावित स्त्रोतों का पता लगाने और सम्भावित सेविवर्गियों की प्राप्ति एवं सम्भावित सेविवर्गियों को संगठन में आने के लिए अभिप्रेरित करने से है। मानव संसाधन के स्त्रोतों को दो भागों में बॉटा जा सकता है– (1) आन्तरिक स्त्रोत, एवं (2) बाह्म स्त्रोत।

13.5.1 आन्तरिक स्त्रोत

इसमें निम्न स्त्रोतों को शामिल करते है – (1) एक विभाग से दूसरे विभाग में स्थानान्तरण और प्रतिनियुक्ति, (2) विद्यमान सेविवर्गियों की पदोन्नति, (3) पुराने सेविवर्गियों द्वारा अनुशंसा, एवं (4) पुराने कर्मचारियों को फिर से लेना।

13.5.2 बाह्‌य स्त्रोत

इसमें निम्न का समावेश किया जा सकता है – (1) विज्ञापन, (2) रोजगार की एजेन्सियाँ–सरकारी एजेन्सी, निजी एजेन्सी, सेवायोजकों का संघ (3) विशिष्ट शिक्षण संस्थाएँ, (4) दूसरे संगठनों से प्रतिनियुक्ति, एवं (5) व्यक्तिगत रूप से अथवा डाक द्वारा सीधे भेजे गए आवेदन–पत्र।

किसी संगठन के लिए यह जरूरी नहीं है कि वह अपने यहॉ रिक्त पदों को भरने के लिए उक्त सभी स्त्रोतों का उपयोग करे। वस्तुतः वांछित सेविवर्गियों के अनुसार उक्त स्त्रोतों में से सर्वाधिक उपयुक्त और उपयोगी स्त्रोतों का चयन किया जाना चाहिए।

13.6 चयन

चयन प्रक्रिया के माध्यम से संगठन में आने को तत्पर, आवेदकों में से सर्वाधिक उपयुक्त व्यक्तियों को चुना जाता है। मानव संसाधनों के स्त्रोतों तथा उनके व्यक्तिगत गुणों पर विचार करने के उपरान्त उपयुक्त प्रार्थियों का प्रत्यक्ष साक्षात्कार करना चाहिए। 'साक्षात्कार' का अर्थ है प्रार्थियों को बुलाकर उनसे बातचीत करना तथा संस्था के लिए उनकी उपयुक्तता के विषय में निर्णय लेना। साक्षात्कार का एक मात्र उद्‌देश्य अनेक व्यक्तियों में से सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों का चयन करना होता है। स्वयं नियोक्ता या उच्च सेविवर्गीय अधिकारियों द्वारा साक्षात्कार का कार्य सम्पन्न किया जाता है। संस्था के अधिकारियों के अतिरिक्त साक्षात्कार लेने के लिए बाहरी विशेषज्ञों को भी आमंत्रित किया जा सकता है। साक्षात्कार के समय प्रार्थी अपनी योग्यता व अनुभव–विषयक सभी प्रमाण–पत्रों को साथ लाता है। इस प्रकार साक्षात्कार के अवसर पर प्रमाण–पत्रों की जॉच भी हो जाती है। साक्षात्कार प्रार्थी की योग्यता की कसौटी है जिससे यह ज्ञात हो जाता है कि अमुक प्रार्थी संस्था के लिए उपयुक्त है या नहीं।

साक्षात्कार की सफलता निम्न तत्वों पर निर्भर करती है—

(1) साक्षात्कार के पहले प्रार्थी के आवेदन पत्र में उल्लिखित तथ्यों व संलग्न प्रमाण पत्रों का अध्ययन करना चाहिए जिससे कि उसके विषय में अधिक से अधिक जानकारी मिल सके।

(2) प्रार्थी से पूछने के लिए पद के कार्य के सम्बन्ध में, पहले से ही प्रश्न—सूची तैयार कर लेना चाहिए।

(3) प्रत्येक प्रार्थी को साक्षात्कार की पूर्व सूचना होनी चाहिए।

(4) साक्षात्कार एकान्त स्थान में किया जाना चाहिए।

(5) प्रार्थी के दृष्टिकोण को समझने का प्रयास करना चाहिए तथा किसी पूर्वाग्रह से ग्रसित नहीं होना चाहिए।

(6) प्रार्थी में विश्वास रखने तथा रूचि लेने से उसका विश्वासपात्र बना जा सकता है। वह आराम से बात कर सके, इसका उसे अनुभव करना चाहिए।

(7) प्रार्थी की बात को धैर्यपूर्वक सुनना चाहिए। उसे गुमराह करने को कोशिश नहीं करनी चाहिए। सारी बात सीधी व स्पष्ट होनी चाहिए।

(8) साक्षात्कार का पूरा विवरण तत्काल अथवा शीघ्रातिशीघ्र लिख देना चाहिए।

(9) प्रत्येक प्रार्थी को साक्षात्कार के लिए पर्याप्त समय देना चाहिए।

इस प्रकार व्यक्तिगत गुण तथा उपक्रम के लिए उपयोगिता के आधार पर विभिन्न प्रार्थियों का मूल्यांकन करने से उपयुक्त व्यक्तियों का चयन किया जा सकता है।

13.7 आगमन एवं अभिस्थापन

नियुक्तिकरण का तीसरा चरण कार्य आगमन व अभिस्थापन का होता है। इस चरण के अन्तर्गत प्रत्याशियों का चयन होने के पश्चात् उनका अपने सहकर्मियों के साथ परिचय कराया जाता हैं, उन्हें उनके उत्तरदायित्वों की जानकारी दी जाती है तथा संगठन की नीतियों एवं लक्ष्यों के बारे में सूचनाएँ प्रदान की जाती है।

13.8 प्रशिक्षण और विकास

13.8.1 उद्देश्य

किसी भी संगठन की सफलता, उत्पादकता एवं कुशलता प्रमुख रूप से इस बात पर निर्भर करती है कि इस संगठन में काम करने वाले लोग कितने योग्य, सक्षम, और कुशल है और उन्हें किस प्रकार

से कार्य करने के लिए अभिप्रेरित किया जाता है। किसी व्यक्ति की क्षमता इस बात पर निर्भर करती है कि उसमें कार्य करने की कितनी योग्यता है और उसे उस कार्य को करने के लिए कितना और किस प्रकार का प्रशिक्षण दिया जाता है। जहाँ व्यक्ति की व्यक्तिगत क्षमता का मूल्यांकन चयन–प्रक्रिया के दौरान किया जाता है, वहीं जब उसे संगठन में काम पर लगाया जाता है तब उसके लिए आवश्यकतानुसार प्रशिक्षण भी की जाती है।

13.8.2 महत्वऔर आवश्यकता

पहले सेविवर्गियों को प्रशिक्षण देने की आवश्यकता पर अधिक बल नहीं दिया जाता था। यह समझा जाता था कि काम पर लगने के बाद वे स्वयं धीरे–धीरे ''प्रयास और त्रुटि'' के आधार पर काम करने की जानकारी और उसमें दक्षता प्राप्त कर लेंगे। परन्तु, आजकल संगठनों में कार्यरत सेविवर्गियों को औपचारिक रूप से तथा वैज्ञानिक ढंग से प्रशिक्षण देने को विशेष महत्व दिया जाता है। क्योंकि इसके पीछे यह मान्यता रहती है कि सेविवर्गियों के प्रशिक्षण व विकास पर लगाया गया समय और धन व्यर्थ नहीं होता अपितु वह उन पर किया गया एक निवेश है जो धीरे–धीरे अपना प्रभाव और परिणाम दिखाता है। इसके माध्यम से सेविवर्गियों के ज्ञान, कुशलता, मनोवृत्ति, अभिमुखता आदि में सुधार लाया जा सकता है। इसे सुधार का यह परिणाम होता है कि कर्मचारी–उत्पादकता बढ़ती है और संगठन में मानवीय सम्बन्ध सृदृढ़ बनते है। अतः प्रशिक्षण और विकास की श्रमिकों, लोगों की उत्पादकता और उसकी संतुष्टि को बढ़ाने में बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका होती हैं।

13.9 प्रशिक्षण को प्रकार एवं विधियां

सेविवर्गियों को प्रशिक्षण और विकास की दृष्टि से पाँच समूहों में बांटा जा सकता है–

(1) प्रबन्धक,

(2) पेशेवर सेविवर्गिय,

(3) तकनीकी कर्मचारी,

(4) कार्यालयी और लिपिकीय कर्मी, एवं

(5) कार्यशाला में कार्यरत श्रमिकगण।

प्रबन्ध विकास – अच्दे व महत्वाकांक्षी प्रबन्धक भविष्योन्मुखी होते हैं वे इसके लिए पहले से ही तैयारी करते है। इस दिशा में एक महत्वपूर्ण प्रयास यह है कि संगठन द्वारा प्रबन्धकों को प्रशिक्षित और विकसित करने की उपयुक्त योजना बनाई जाय जिससे कि वे नई अपेक्षाओं, समस्याओं व चुनौतियों की कसौटी पर खरे उतर सकें। संगठन में प्रबन्धकों के विकास और प्रशिक्षण के पर्याप्त अवसर व सुविधाएँ उपलब्ध होनी चाहिए, जिससे कि वे अपनी पूर्ण सम्भावनाओं के लक्ष्य तक पहुँच सके। वर्तमान समय में प्रबन्ध विकास के लिए प्रशिक्षक द्वारा अनेक पद्धतियों का किया जाता है। इन विधियों को दो

प्रमुख वर्गों में रखा जा सकता है –

(I) कार्य पर प्रशिक्षण, एवं

(II) कार्य के बाहर प्रशिक्षण।

(I) **कार्य पर प्रशिक्षण –** कार्य को सम्पादित करवाते हुए प्रशिक्षण देना कार्य पर प्रशिक्षण कहलाता है। इसके अन्तर्गत प्रशिक्षण प्राप्तकर्ता को कार्य के वास्तविक वातावरण में कार्य करने का सही–सही अभ्यास और अनुभव हो जाता है। इस तरह के प्रशिक्षण का प्रमुख उद्‌दश्य कार्य से भली–भाँति परिचित कराने व उसे सिखाने से होता है। कार्य पर प्रशिक्षण की अग्रलिखित विधियाँ मुख्य रूप से प्रचलित हैं।

1. अनुभव और सिखाना – यह सत्य तो सर्वविदित है कि अनुभव से अच्छा अध्यापक कोई नहीं होता, परन्तु मात्र अनुभव से ही सीखने की विधि पर निर्भर रहना विवेकपूर्ण नहीं हो सकती। यह विधि अमितव्ययी हो सकता है। इसमें समय अधिक लगता है और इस बात की अनिश्चितता बनी रहती है कि व्यक्ति शीघ्र ही अपने कार्य में निपुण हो जायेगा। इसलिए यह अपरिहार्य हो जाता है कि व्यक्ति को किसी पर्यवेक्षक के दिशा निर्देशन में कार्य पर प्रशिक्षित किया जाए। इससे व्यक्ति जल्दी ही कार्य में कुशलता प्राप्त कर लेता है। उसे अपनी कमियों व गलतियों को सुधारने का मौका मिलता है, परन्तु पर्यवेक्षक द्वारा सीखने की विधि पूर्ण नहीं है। इसकी सबसे बड़ी कमी यह है कि पर्यवेक्षक में शिक्षण–कुशलता की कमी हो सकती है या वह अपने कर्तव्यों से विमुख हो सकता है।

2. स्थिति–परिवर्तन - इस विधि के अन्तर्गत कर्मचारियों को थोड़े–थोड़े अवधि के लिए संगठन के विभिन्न विभागों में कार्य करने हेतु भेजा जाता है। इस विधि का मुख्य उद्‌देश्य प्रशिक्षु श्रमिकों के कार्य अनुभव को विस्तृत और व्यापक बनाना होता है। वह संगठन के विभिन्न विभागों व कार्यशील इकाइयों के काम–कांज से परिचित होता है। इससे उनमें सहकारी मनोवृत्ति का विकास होता है। इस विधि की प्रमुख कमी यह है कि इससे व्यक्ति अपने वास्तविक कार्य पर कम ही ध्यान दे पाता हैं और उसकी कुशलता का विकास बहुत ही कम हो पाता है, क्योंकि उसे विभिन्न विभागों में कम समय के लिए ही भेजा जाता है।

3. विशिष्ट परियोजना और कार्यदल – विशिष्ट परियोजनाओं और कार्यदलों के काम–काज को सम्भालना ठीक वैसा ही है जैसा कि कार्य में परिवर्तन में होता है। प्रशिक्षण की इस विधि में व्यक्ति को इन विशिष्ट कार्यों को करने का अनुभव तो मिलता ही है, साथ ही वह यह भी सीखता है कि विभिन्न प्रकार के अनुभव, चिन्तन, दृष्टिकोण और पृष्ठभूमि वाले लोगों के साथ किस प्रकार साथ–साथ कार्य किया जाता है।

4. समिति कार्यभार – समिति में अलग–अलग मन्तव्य रखने वाले वरिष्ठ और अनुभवी लोगों के बीच काम करने से व्यक्ति को कई बातें सीखने को मिलती है। उसे यह देखने का अवसर प्राप्त होता

है कि लोग अपनी बात को किस प्रकार उपयुक्त ठहराते हैं और उपक्रम की आवश्यकतानुसार अन्यों के साथ किस प्रकार समायोजन बिठाते हैं। समिति में रहकर यह सीखने को मिलता है कि किसी व्यक्ति का अपना मत सदैव सही नहीं होता और उसमें जटिल मुद्दों पर सबको साथ लेकर चलने की भावना होनी चाहिए।

(II) कार्य से बाहर प्रशिक्षण –कार्य से बाहर प्रशिक्षण की विधियों पर आधारित प्रशिक्षण प्राप्त करने के लिए प्रशिक्षु को अपना कार्यस्थल छोड़ना पड़ता है और अपना पूरा समय प्रशिक्षण पर लगाना पड़ता है। इस पद्धति के अन्तर्गत प्रशिक्षु को संगठन में ही स्थापित अथवा बाह्य स्थापित प्रशिक्षण संस्थान में प्रशिक्षण दिया जाता हैं। विभिन्न विशिष्ट संस्थाएँ प्रशिक्षण पाठयक्रमों का आयोजन भी करती हैं। हमारे देश में निजी व सार्वजनिक दोनों क्षेत्रों में कार्यरत कई संगठनों के पास अपने प्रशिक्षण संस्थान है। इनमें निजी क्षेत्र में टिस्कों, हिन्दुस्तान लीवर तथा लार्सन व टुब्रो और सार्वजनिक क्षेत्र में जीवन बीमा निगम, राज्य व्यापार निगम, भारतीय इस्पात अभिकरण आदि संस्थाएँ प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त प्रशिक्षण देने वाली प्रमुख विशिष्ट संस्थाएँ इस प्रकार है – भारतीय प्रबन्ध संस्थान, अखिल भारतीय प्रबन्ध परिषद्, राष्ट्रीय उत्पादकता परिषद्, आदि कार्य से बाहर प्रशिक्षण की विभिन्न विधियाँ इस प्रकार हैं :

1. विशिष्ट पाठ्यक्रम – इन विशिष्ट पाठ्यक्रमों के द्वारा प्रशिक्षु को ज्ञान पर आधारित प्रशिक्षण दिया जाता है। ऐसे कार्यक्रमों में उन्हें सम्बन्धित विषयों व क्षेत्रों के अवधारणाओं, सिद्धान्तों, विचारधाराओं, दृष्टिकोणों आदि का विस्तृत और गहन सैद्धान्तिक ज्ञान प्रदान किया जाता है। इसका मूल उद्देश्य प्रशिक्षु को सम्बन्धित विषयों व क्षेत्रों के मूलाधारों के प्रति जागरूक बनाना होता है। प्रशिक्षण की इस विधि की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि इसमें सम्प्रेषण का प्रवाह एकमार्गीय होता है।

2. सम्मेलन –कार्य से बाहर प्रशिक्षण देने की विधि के रूप में सम्मेलनों, सभाओं और विचार गोष्ठियों **का** आयोजन किया जा सकता है। इसमें एक व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के सम्मुख किसी विषय विशेष पर अपने विचार व्यक्त करता है। जिस पर वहाँ भाग लेने वाले व्यक्तियों द्वारा विस्तार से विचार–विमर्श किया जाता हैं। इससे प्रशिक्षु के ज्ञान में वृद्धि होती है और उसे अपनी मौलिकता प्रकट करने का अवसर प्राप्त होता हैं।

3. समस्या अध्ययन विधि –इस विधि का विकास अमेरिका के हार्वर्ड विश्वविद्यालय के द्वारा किया गया हैं। कोई ''समस्या'' वह गुत्थी है जो संगठन से सम्बन्धित किसी विषय के बारे में लिखित विवरण के रूप में होती है। इसमें संगठन के इतिहास, बाह्य वातावरण, आन्तरिक क्रिया, वित्तीय संरचना आदि से सम्बन्धित संक्षिप्त में कुछ मुख्य मुख्य पहलू सम्मिलित होते हैं। इस विधि के अन्तर्गत प्रस्तुत समस्या पर समूह में विचार विमर्श **कि**या जाता है और अपने–अपने मन्तव्य प्रकट किये जाते हैं। वास्तविक रूप से किसी समस्या को सुलझाने की तुलना में समस्या विधि पर आधारित प्रशिक्षण के अन्तर्गत समस्या को प्रस्तुत करना और उसे सुलझाने के लिए कहा जाना इस तरह से अलग होता है

कि इस विधि द्वारा प्रशिक्षु की विश्लेषणात्मक कुशलता और उसकी समझ–बुद्धि को विकसित करने का उद्देश्य निहित होता है।

4. **भूमिका निर्वहन –**इस विधि के अन्तर्गत एक कृत्रिम संघर्ष की स्थिति उत्पन्न की जाती है और विभिन्न व्यक्तियों को विभिन्न प्रकार की भूमिका प्रदान की जाती हैं। वे अपनी–अपनी भूमिकाओं के अनुरूप व्यवहार करते हैं और संघर्ष का समाधान करते हैं।

5. **संवेदनशीलता प्रशिक्षण –**इस विधि के अन्तर्गत समूह को छोटा रखा जाता है और समूह की प्रकृति असंरचित होती है अर्थात् इसमें औपचारिक सम्बन्धों का अभाव होता है। पर्यवेक्षक कुछ भी दिशानिर्देश नहीं देता हैं। यह मानवीय व्यवहार के बारे में प्रशिक्षण देने की एक अनुपम और विवादास्पद तकनीक है। संवेदनशीलता प्रशिक्षण विधि जिसे 'टी–समूह' भी कहते हैं, का विकास अमेरिका में राष्ट्रीय प्रशिक्षण प्रयोगशाला, बेथेल द्वारा किया गया। इसमें भाग लेने वाले सदस्यों के वार्तालाप के लिए कोई औपचारिक कार्य–सूची नहीं होती हैं। शुरू–शुरू में सदस्यों के बीच बहुत मन्द गति से बातचीत प्रारम्भ होती है। जो बाद में तेज गति पकड़ती है। सदस्यों के आपसी विचार–विमर्श और तर्क–वितर्क के दौरान विभिन्न प्रकार के दृश्य देखने को मिलते हैं। बीच–बीच में सदस्यों को वाद–विवाद जारी रखने के लिए आवश्यकतानुसार सहायता दी जा सकती है। प्रशिक्षु को यह भी बतलाया जाता है कि वह अपने व्यवहार में कहां पर गलती कर रहा है। इससे उसमें सहिष्णुता का विकास होता है, वह दूसरों को सुनता है, उनके मन्तव्यों को समझने का प्रयास करता है और अपने पूर्वाग्रहों को कम करने का प्रयास करता है।

6. **प्रबन्ध–क्रीड़ा और विकास कार्यक्रम** –इस विधि के अन्तर्गत वास्तविक व्यावसायिक स्थिति को एक ''प्रतिरूप'' के रूप में प्रस्तुत किया जाता है और सहभागियों को प्रतिस्पर्द्धी संगठनों के प्रबन्धक की भूमिका दी जाती है। इस क्रीड़ा में सहभागियों को कई प्रकार की रणनीतियाँ बनानी पड़ती है, जो विनियोजन, विपणन, उत्पादन, सामूहिक सौदेबाजी आदि से सम्बन्धित हो सकती हैं। इस खेल में परिस्थिति के अनुसार दो या दो से अधिक दलों को शामिल किया जा सकता है। यह खेल के सिद्धान्तों के आधार पर खेला जाता है जिसमें सिर्फ एक दल ही जीतता है। इसमें विकास के अनेक कार्यक्रम नियोजित किए जाते हैं।

13.10 सारांश

संगठनात्मक संरचना की रूपरेखा बन जाने के पश्चात् प्रबन्ध के अगले कार्य के रूप में नियुक्तिकरण अथवा स्टाफिंग की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। जिसके माध्यम से संगठनात्मक संरचना में निर्मित विभिन्न प्रबन्धकीय तथा गैर–प्रबन्धकीय पदों पर सही प्रकार के व्यक्तियों को लगाया जाता है। जो प्रबन्ध का महत्वपूर्ण कार्य एवं उत्तरदायित्व है जो संस्था के कार्य संचालन हेतु पर्याप्त संख्या में प्रबन्धकीय कर्मचारियों एवं अन्य कर्मचारियों को उपलब्ध कराने, उनका विकास करने और उन्हें संस्था के कार्य

संचालन हेतु पर्याप्त संख्या में प्रबन्धकीय और अन्य कर्मचारियों को उपलब्ध कराने, उनका विकास करने और उन्हें संस्था में बनाये रखने से सम्बन्धित होता है।

जार्ज टैरी के अनुसार, ''नियुक्तिकरण या स्टाफिंग का अभिप्राय संतोषजनक एवं संतुष्ट कार्यशक्ति को प्राप्त करना और उसे बनाये रखना है।''

मानव संसाधन नियोजन के द्वारा नियुक्तिकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ किया जाता है। जिसके अन्तर्गत संस्था में मानव संसाधनों की आवश्यकताओं का निर्धारण किया जाता है। इसके बाद भर्ती और चयन की प्रक्रिया शुरू होती है। भर्ती प्रक्रिया में सेविवर्गियों की प्राप्त के सम्भावित स्रोतों का पता लगाना और सम्भावित सेविवर्गियों की प्राप्त के लिए उन्हें अभिप्रेरित करना सम्मिलित है, जबकि चयन प्रक्रिया के माध्यम से संगठन में आने के ततर आवेदकों में से सर्वाधिक उपयुक्त व्यक्तियों को चुनना है। चयनित प्रत्याशियों को संस्था में अभिस्थापित कर उनको अपने सहकर्मियों के साथ परिचय कराया जाता है। उन्हें उनके उत्तरदायित्वों की जानकारी दी जाती है।

संगठन की सफलता, उत्पादकता एवं कुशलता प्रमुख रूप से संस्था के प्रबंधक एवं कर्मचारियों पर निर्भर करती है। विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी में तीव्र गति और व्यूहरचनात्मक प्रबन्ध के कारण प्रबन्धक एवं कर्मचारियों को उनके कार्यानुसार प्रशिक्षित किया जाना चाहिए। प्रत्येक संस्था में प्रबन्धक एवं कर्मचारियों को विभिन्न विधियों द्वारा समय–समय पर प्रशिक्षित किया जाता है।

13.11 महत्वपूर्ण शब्दावली

- **स्टाफिंग** – स्टाफिंग अथवा नियुक्तिकरण संस्था में मानव संसाधनों को आकृष्ट करने, प्राप्त करने, उन्हें बनाये रखने तथा विकसित करने आदि का मिला–जुला कार्य है। **मानव संसाधन नियोजन** –मानव संसाधन नियोजन संस्था के आवश्यकतानुसार मानव संसाधनों का पता लगाना तथा उन्हें विभिन्न स्रोतों से उनकी आपूर्ति के लिए योजना बनाना हैं।
- **भर्ती** –भर्ती संस्था के आवश्यकतानुसार संभावित कर्मचारियों की खोजना तथा उन्हें आवेदन करने के लिए प्रोत्साहित करना है।
- **चयन** –आवेदित अभ्यर्थियों में से संस्था के लिए सर्वाधिक उपयुक्त अभ्यर्थी को चुना, चयन कहलाता है।
- **आगमन एवं अभिस्थापन** – चयनित कर्मचारी को उनके विभाग पर पद देना उनके अपने सहकर्मियों के साथ परिचय करना तथा उनके अपने उत्तरदायित्वों की जानकारी प्रदान करना, आगमन एवं अभिस्थापन के अन्तर्गत आता है।
- **प्रशिक्षण** – प्रशिक्षण प्रबन्धकों एवं कर्मचारियों को किसी कार्य–विशेष को सही रूप से करने

के योग्य बनाने की क्रिया है।

13.12 आवश्यक प्रश्न

1. नियुक्तिकरण को परिभाषित कीजिए तथा इसके कार्यों की विवेचना कीजिए।
2. नियुक्तिकरण किसे कहते है ? नियुक्तिकरण के क्षेत्र और प्रक्रिया का वर्णन कीजिए।
3. निम्नांकित पर टिप्पणी लिखिए–

   (अ) भर्ती और चयन

   (ब) कार्य पर और कार्य के बाहर प्रशिक्षण

   (स) कार्य निष्पादन मूल्यांकन
4. प्रशिक्षण का प्रकार एवं विधियांकावर्णन कीजिए।

कुछ उपयोगी पुस्तकें

- ☐ प्रबन्ध के सिद्धान्त एस के सिंह प्रयाग पुस्तक भवन इलाहाबाद 2006
- ☐ व्यावसायिक प्रबन्ध ओ. पी. राय बी. के. सिंह वैभवसम्मी प्रकाशन, वाराणासी, 2012
- ☐ औद्योगिक संगठन एवं प्रबन्धन, आर.सी. गुप्ता, साहित्य भवन पब्लिकेशन आगरा, 2003
- ☐ व्यवसायिक संगठन, जगदीष प्रकाश, प्रयाग पुस्तक भवन, 2014
- ☐ औद्योगिक प्रबन्ध, जे.के. जैन, प्रतीक प्रकाशन आगरा, 2001

इकाई– 14 निर्देशन

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य

14.1 प्रस्तावना

14.2 निर्देशन का आशय

14.3 निर्देशन कार्य की विशेषतायें

14.4 निर्देशन का महत्व

14.5 पर्यवेक्षण

14.6 पर्यवेक्षकीय भूमिका का महत्व

14.7 पर्यवेक्षक के कार्य और उत्तरदायित्व

14.8 पर्यवेक्षक के आवश्यक गुण

14.9 सारांश

14.10 महत्वपूर्ण शब्दावली

14.11 आवश्यक प्रश्न

14.0 उद्देश्य

इस अध्याय के अध्ययन से आप निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर दे पायेंगे।

- ❖ निर्देशन के क्षेत्र पर प्रकाश डालिए।
- ❖ निर्देशन के महत्व की व्याख्या कीजिए।
- ❖ पर्यवेक्षक के आशय, विशेषताओं और सिद्धान्तों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।
- ❖ उत्तम पर्यवेक्षक के गुणों का उल्लेख कीजिए।
- ❖ निर्देशन और पर्यवेक्षण में अन्तर्भेद कीजिए।
- ❖ आधुनिक व्यवसाय में प्रभावी पर्यवेक्षण के महत्व की विवेचना कीजिए।
- ❖ पर्यवेक्षण के आशय और प्रकारों पर टिप्पणी लिखिए।

14.1 प्रस्तावना

''निर्देशन'' अथवा संचालन प्रबन्ध का एक अति आवश्यक कार्य है। नियोजन, संगठन एवं नियुक्तिकरण के उपरान्त प्रबन्धकों के सम्मुख अपने कर्मचारियों को निर्देशन देने की समस्या आती है। निर्देशन का कार्य नियोजन, संगठन एवं नियुक्तियों पश्चात् परन्तु नियंत्रण व समन्वय के पूर्व होता है। कार्य निष्पादन की अवधि के दौरान उठने वाली समस्याओं का निपटारा भी निर्देशन के अन्तर्गत ही आता है। निर्देशन के अन्तर्गत कर्मचारियों को आदेश देना, मार्गदर्शन एवं नेतृत्व करना, सन्देशवाहन, पर्यवेक्षण, अभिप्रेरण आदि सम्मिलित होता है। यह प्रबन्ध को गतिमान करने का एक अभिन्न अंग है और **जार्ज आर0 टेरी** निर्देशन को, प्रबन्ध को गति देने वाला कार्य मानते हैं।

14-2 निर्देशन का आशय

निर्देशन, प्रबन्ध का वह कार्य है जो संगठित एवं व्यवस्थित क्रिया को जन्म देता है। यह प्रबन्ध का अन्र्तव्यक्तिगत पक्ष है जिसके द्वारा उपक्रम के उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु अधीनस्थों को अपना कुशल व प्रभावी ढंग से योगदान करने के लिए मार्गदर्शन प्रदान किया जाता है। निर्देशन की प्रक्रिया अधीनस्थों को संगठन के संग एकीकृत करने से सम्बन्धित है ताकि उनके संकल्प व उत्साहपूर्ण सहयोग से संगठनात्मक लक्ष्यों को प्राप्त किया जा सके। निर्देशन के पीछे प्रबन्धको का प्रमुख उद्देश्य प्रबन्धकीय योजनाओं और निर्णयों को प्रभावी ढंग से अमली जामा पहनाना होता है। यह प्रबन्धकीय निर्णयों और कर्मचारियों के कार्यों के बीच की सम्बद्ध कड़ी है। प्रबन्धकीय कार्यों के रूप में निर्देशन एक कला है। कुछ प्रमुख परिभाषाएं निम्नांकित हैं –

(1) **कुण्ट्ज एवं ओ' डोनेल के अनुसार,** ''निर्देशन अधीनस्थों के पथ–प्रदर्शन तथा पर्यवेक्षण का कार्य है।''

(2) **मार्शल ई0 डीमोक के भाब्दों में,** ''निर्देशन प्रशासन का हृदय है, जिसके अन्तर्गत क्षेत्र का निर्धारण, आदेशों तथा निर्देशों का निर्गमन तथा गतिशील नेतृत्व प्रदान करना सम्मिलित किया जाता है।''

(3) **थियो हैमन के अनुसार,** ''निर्देशन के अन्तर्गत उस प्रक्रिया और प्रविधियों को सम्मिलित किया जाता है जिनका उपयोग निर्देशों को निर्गमित करने तथा यह देखने के लिए होता है कि क्रियाएं मूल योजना के अनुरूप ही हो रही हैं।''

(4) **स्ट्रांग के अनुसार,** ''निर्देशन में अधीनस्थों के कार्य के बारे में निर्देश या हिदायतों को देना तथा उन्हें कार्य करने के लिए आदेश देना सम्मिलित है।''

निर्देशन एक अति संवेदनशील कार्य है जिसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध मानवीय तत्वों से होता है। प्रबन्धकीय निर्णयों को सार्थक एवं प्रभावी क्रियाओं में परिवर्तित करने के लिए अधीनस्थों को अभिप्रेरित करना, नेतृत्व प्रदान करना, संदेशवाहन और पर्यवेक्षक आदि निर्देशन कहलाता है।

14.3 निर्देशन कार्य की विशेषतायें

निर्देशन की प्रकृति अथवा विशेषताओं के अन्तर्गत निम्नलिखित तथ्यों को सम्मिलित किया जाता है –

(1) प्रबन्ध का महत्वपूर्ण कार्य –प्रबन्ध के विविध कार्यों में निर्देशन का महत्वपूर्ण स्थान है। कार्य निष्पादन के लिए नियोजन एवं संगठन तो कार्य की पृष्ठिभूमि तैयार करते हैं परन्तु अन्य व्यक्तियों द्वारा कार्य करवाना निर्देशन के द्वारा ही सम्भव होता है। यह संस्था में प्रयत्नों का शुभारम्भ करता है।

(2) सार्वभौमिकता – संस्था चाहे छोटी हो या बड़ी, प्रबन्धक वरिष्ठ हों चाहे कनिष्ठ, प्रत्येक स्तर पर प्रबन्धक को निर्देशन करना पड़ता है। प्रबन्धन के हरेक क्षेत्र में निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु अधीनस्थों को उत्प्रेरित, निरीक्षण, मार्गदर्शन, समन्वित एवं विभिन्न सूचनाओं का आदान–प्रदान करना होता है।

(3) गतिशील एवं निरन्तर –निर्देशन गतिशील एवं निरन्तर जारी रहने वाली क्रिया है। योजनाओं और संगठनात्मक सम्बन्धों में परिवर्तनों के अनुरूप निर्देशन की विधियों व तकनीकों में परिवर्तन करना होता है। साथ ही प्रबन्धकों को नियमित एवं निरन्तर ढंग से मार्गदर्शन, परामर्श, प्रशिक्षण, पर्यवेक्षण, हिदायतें, सूचनाओं का आदान–प्रदान करना होता है। जहां निर्देशन में ढील हुई, काम की प्रगति मन्द पड़ जाती है।

(4) उच्चाधिकारी का कार्य–निर्देशन वरिष्ठ अधिकारी का ही कार्य होता है। एक वरिष्ठ अधिकारी ही अपने कनिष्ठों का उत्साहवर्द्धन, मार्गदर्शन, विवेचन, प्रदर्शन एवं निरीक्षण कर सकता है। एक अधीनस्थ की जिम्मेदारी अपने अधिकारी का निर्देशन करना नहीं है।

(5) मानवीय संसाधन से सम्बन्धित कार्य –निर्देशन का सम्बन्ध मानवीय संसाधन से होता है, भौतिक संसाधनों से इसका कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। निर्देशन हेतु मानव की मनोवृत्ति, कौशल, ज्ञान एवं व्यक्तित्वजन्य गुणों को ध्यान रखना जरूरी होता है। जब तक प्रबन्ध इस मानवीय जटिलताओं और निजताओं को नहीं समझ पाता है वह निर्देशन के बारे में सामान्यीकृत कदमों को उठाने की गलती कर बैठता है। निर्देशन के द्वारा व्यक्तियों का विकास किया जाता है। जिससे कि वे स्वतः प्रेरित हो करके कार्यकुशलता में वृद्धि कर सकें। निर्देशन मानव के मध्य आपसी सम्बन्धों से सम्बन्धित है।

(6) निर्देशन का सार निश्पादन है –निर्देशन एक सृजनात्मक कार्य है जो कार्य के निष्पादन को सरल एवं सम्भव बनाता है। यह नियोजन को निष्पादन में परिवर्तित करता है। निर्देशक संस्था का मार्गदर्शक, शिक्षक और निर्वाचक होता है जो विविध गतिविधियों से नियोजित लक्ष्य को क्रियान्वित करता है।

14.4 निर्देशन का महत्व

निर्देशन को क्रियान्वयन में प्रबन्ध का एक अभिन्न अंग माना जाता है। प्रबन्धक के कार्य का स्वयं निष्पादन नहीं होता है क्योंकि उसे दूसरों से कार्य लेना होता है। अतः दूसरों से काम लेने की क्रिया ही निर्देशन है। **प्रो0 मार्शल ई0 डिमोक** के शब्दों में, ''निर्देशन का कार्य प्रशासन का हृदय होता है।'' निर्देशन के महत्व को अग्रांकित बिन्दुओं से स्पष्ट किया जा सकता है –

(1) कार्यों को प्रारम्भ करने के लिए –संगठन में निर्धारित लक्ष्यों की पूर्ति हेतु किये जाने वाले कार्यों को प्रारम्भ करने में निर्देशन की आवश्यकता होती है। बिना निर्देशन के क्रियाएं प्रारम्भ ही नहीं की जा सकती है। इस हेतु उच्च अधिकारी को अधीनस्थों को आदेश–निर्देश, मार्गदर्शन, अधिकार का प्रतिनिधायन आदि करना होता है। जिस प्रकार रेलवे स्टेशन पर खड़ी गाड़ी बिना गार्ड के हरी झन्डी के प्रस्थान नहीं कर पाती है उसी प्रकार प्रबन्धकीय क्रियाओं के शुभारम्भ हेतु अधीनस्थों का निर्देशन जरूरी होता है।

(2) मानव संसाधन विकास –निर्देशन के द्वारा मानवीय संसाधनों की क्षमताओं, योग्यताओं और सृजनात्मकता को विकसित करने का पूरा अवसर मिलता है। द्विमागीय सन्देशवाहन व्यवस्था अपना करके प्रबन्धक निर्देशन कार्य के अन्तर्गत एक ओर तो आदेश–निर्देश से कर्मचारियों को अभिप्रेरित करते हैं तो दूसरी ओर कर्मचारियों की शिकायतों, सुझावों एवं समस्याओं पर पर्याप्त ध्यान दे करके एवं अपनत्व की भावना जागृत करके श्रम शक्ति का सदुपयोग सुनिश्चित करते हैं।

(3) सामूहिक प्रयत्नों की सफलता में सहायक – जहां पर भी सामूहिक प्रयत्न किए जाते हैं, वहां समूह और टीम भावना के विकास हेतु निर्देशन की महती आवश्यकता होती है। इसीलिए आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक व धार्मिक संगठनों में सामूहिक प्रयत्नों की सफलता हेतु निर्देशन की सार्वभौमिक आवश्यकता होती है।

(4) परिवर्तनों के प्रबन्ध में सुविधा –चूंकि परिवर्तन तो प्रकृति का शाश्वत नियम है अतः वे होते ही रहते हैं। परिवर्तनों को लागू किये बिना प्रबन्धकीय कार्यों की सफलता संदिग्ध रहती है। परन्तु जब भी परिवर्तन किये जाते हैं। उनका नैसर्गिक विरोध शुरू हो जाता हैं। प्रबन्धक कुशल निर्देशन के माध्यम से नेतृत्व, निरीक्षण, अभिप्रेरण, मार्गदर्शन प्रदान करके परिवर्तनों के प्रति कर्मचारियों को आकृष्ट कर सकता है। वह उनमें यह भावना विकसित कर सकता है कि परिवर्तनों के लागू होने से उनके व्यक्तिगत एवं सामूहिक लक्ष्यों की पूर्ति सम्भव हो सकेगी।

(5) भावी प्रबन्धकों का विकास –निर्देशन के द्वारा भावी प्रबन्धकों का विकास किया जाता हैं। जब अधीनस्थ आदेश–निर्देश, अभिप्रेरण, मार्गदर्शन, नेतृत्व, संदेशवाहन आदि करते है तो उनमें प्रबन्धकीय क्षमता भी विकसित होती है और शनैः शनैः वे भावी प्रबन्धक के रूप में तैयार हो जाते हैं।

(6) **अन्य –** कुछ अन्य महत्व भी है जैसे –(i) निर्देशन से संगठन में स्थायित्व एवं सन्तुलन की स्थापना होती है। (ii) निर्देशन संगठन में अनुशासन व्यवस्था कायम करने में सहायक होता है। (iii) निर्देशन सौहार्द्रपूर्ण मानवीय सम्बन्धों की स्थापना में सहायक होता है। (iv) निर्देशन कर्मचारी मनोबल में वृद्धि करता है।

14.5 पर्यवेक्षण

पर्यवेक्षण निर्देशन की एक प्रमुख प्रविधि है जिसमें अधीनस्थ कर्मचारियों की क्रियाओं की देखरेख करने और उनके निरीक्षण से सम्बन्धित कार्यों को सम्मिलित किया जाता है। जो व्यक्ति इस महत्वपूर्ण कार्य को करता है उसे पर्यवेक्षक कहते हैं। पर्यवेक्षक को कुछ अन्य नामों से भी पुकारा जाता है जैसे– फोरमैन, अधीक्षक, चीफ ओवरसियर, चार्ज मैन, लीडमैन, मुख्य लिपिक आदि।

पर्यवेक्षण का अर्थ– पर्यवेक्षण शब्द लैटिन भाषा के मूल शब्द (Supervision) का हिन्दी समानार्थी है जो दो शब्दों से मिलकर बना है: Super+vision, Superका अर्थ है ऊपर से (From the above) और Vision का अर्थ है देखना (to See)। इस प्रकार पर्यवेक्षण का अर्थ हुआ 'ऊपर से देखने का कार्य' (Overseeing Activity)। प्रबन्ध विज्ञान के अन्तर्गत पर्यवेक्षण का अर्थ मात्र ऊपर से देखना ही नहीं है बल्कि अधिशासी का अधिकारयुक्त देख–रेख ही पर्यवेक्षण है जिसका उद्देश्य अधीनस्थों से सही कार्य कराना है। **वाइटल्स** के शब्दों में, ''पर्यवेक्षण से आशय कार्य के निष्पादन में अधीनस्थों का प्रत्यक्ष एवं तुरन्त मार्गदर्शन करने एवं नियंत्रण करने से है।'' मेरी **कुशिंग नाइल्स** के अनुसार, ''ऐसे व्यक्ति जो दूसरे के कार्य की देखभाल करते हैं तथा मध्य स्तरीय प्रबन्ध के प्रति उत्तरदायी होते है, पर्यवेक्षक कहलाते हैं तथा उनका कार्य ही पर्यवेक्षण है।'' **संयुक्त राज्य अमेरिका के टोफ्ट हार्टले अधिनियम, 1947** के अनुसार, ''पर्यवेक्षक व्यक्ति हैं जो कर्मचारियों के चयन, अवक्रयन, अनुशासन, पारिश्रमिक तथा इसी प्रकार के अन्य कार्यों के बारे में स्वतंत्र निर्णय लेने का अधिकार रखते हैं।''

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि पर्यवेक्षक उच्चाधिकारियों एवं श्रमिकों के बीच एक सम्बद्ध कड़ी के रूप में होते हैं, जिन्हें कार्य के स्वभाव और विभागों के आधार पर विभिन्न नामों से पुकारा जाता है, जैसे कारखानों में फोरमैन, पी0उब्ल्यू0डी0 में ओवरसीयर, कार्यालय में प्रमुख लिपिक आदि।

14.6 पर्यवेक्षकीय भूमिका का महत्व

व्यवसाय के प्रारम्भिक काल में पर्यवेक्षक की उच्च प्रबन्ध द्वारा उपेक्षा की जाती थी। वे दिन लद गए जब पर्यवेक्षक को 'चालाक' या 'जंगली सांड़' कहा जाता था। आज पर्यवेक्षण के ऊपर ही समस्त व्यवसाय की सफलता निर्भर करती है। वह प्रतिदिन अधीनस्थों के प्रत्यक्ष सम्पर्क में आता है, उन्हें आदेश व निर्देश देता है, उनकी समस्याओं को समझने और हल करने की कोशिश करता है, उच्च प्रबन्धकों के आदेशों को अधीनस्थों तक पहुंचाता है और निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार उनसे काम कराता है। इस प्रकार पर्यवेक्षक तो अधीनस्थों का 'मित्र, दार्शनिक और मार्गदर्शक' होता है। **जोजेफ टिफिन तथा अर्नेस्ट जेमेक कार्मिक** के शब्दों, ''स्वस्थ मानवीय सम्बन्धों के विकास में पर्यवेक्षक को

सामान्यतः अधारशिला के रूप में मान्यता प्रदान की जाती है। अपने अधीनस्थों में वह प्रबन्ध तथा प्रशासन का प्रतिनिधित्व करता है। उसका व्यक्तित्व तथा व्यवहार उन व्यक्तियों के, जिनका वह पर्यवेक्षण करता है, दृष्टिगोचर एवं व्यवहार पर प्रभाव डालते हैं।'' इस कथन से पर्यवेक्षक का महत्व स्पष्ट होता है। पर्यवेक्षक के महत्व के प्रमुख बिन्दु निम्नलिखित हैं– (1) श्रम–प्रबन्ध में मधुर सम्बन्धों की स्थापना, (2) संगठन के लक्ष्यों को मितव्ययितापूर्वक प्राप्त करने में सहायक, (3) उपलब्ध साधनों का अधिकतम उपयोग, (4) नियमों एवं कार्यविधियों से श्रमिकों को अवगत कराने हेतु, (5) कर्मचारियों की समस्याओं व विवादों का निपटारा हेतु, (6) लागत नियंत्रण हेतु, (7) अनुशासन व प्रशिक्षण व्यवस्था आदि। इस प्रकार पर्यवेक्षक उच्चाधिकारियों और श्रमिकों के मध्य की अति आवश्यक कड़ी होता है।

14.7 पर्यवेक्षक के कार्य और उत्तरदायित्व

पर्यवेक्षक के कार्य और उत्तरदायित्व का अध्ययन निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जाता है–

(अ) कर्मचारियों के प्रति –(1) कर्मचारियों की आवश्यकताओं और रूचियों का ध्यान रखना, (2) कर्मचारियों में समूह के प्रति निष्ठा व अपनत्व की भावना पैदा करना, (3) कर्मचारियों की वैयक्तिक विभिन्नताओं का अध्ययन करके उनके साथ मानवोचित व्यवहार करना, (4) कर्मचारियों से सम्बन्धित नीतियों की व्याख्या करना, (5) कर्मचारियों की समय पाबन्दी और अनुशासन पर बल देना, (6) कर्मचारियों के आत्म विश्वास का विकास करके हीन भावना न पनपने देना, (7) कार्य सुधार हेतु सुझाव देना और सुझाव आमंत्रित करना, (8) कर्मचारियों की वैयक्तिक व सुरक्षा समस्याओं को हल करने में सहयोग देना, (9) कर्मचारियों के मनोबल बढ़ाने हेतु प्रशंसा करना, (10) कर्मचारियों से निष्पक्ष व्यवहार करना और (11) कर्मचारियों से सामाजिक संवेदनशीलता बनाए रखना।

(ब) कार्य के प्रति –(1) अपने विभाग से सम्बन्धित कार्य की सम्पूर्ण योजना तैयार करना, (2) कार्य से सम्बन्धित उपकरणों, सामग्री, वातावरण, स्थान, श्रमिक की उपलब्धता सुनिश्चित करना, (3) कर्मचारियों में योग्यतानुसार कार्य का आबंटन करना, (4) कार्य का अवलोकन करना, (5) कार्य के किस्म, मात्रा, निष्पादन और समयानुकूलता की जांच करना, (6) कार्य से सम्बन्धित नवीन सुझावों व विचारों का स्वागत करना, और (7) शोध व अनुसंधान को प्रोत्साहित करना।

(स) उच्चाधिकारियों के प्रति –(1) उच्च प्रबन्ध अधिकारियों से निर्देश प्राप्त करना, (2) उच्चाधिकारियों को कार्य की प्रगति का विवरण देना, (3) महत्वपूर्ण मामलों पर उनके ध्यान आकर्षित करना, (4) उच्चाधिकारियों के कार्य में सहयोग देना, (5) कार्य प्रगति का नियमित प्रतिवेदन देना, (6) कर्मचारियों के वेतन वृद्धि, महंगाई भत्ता, पदोन्नति, स्थानान्तरण आदि के मामले उनके समक्ष सही रूप में प्रस्तुत करना, और (7) अपने विभाग का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व स्वीकार करना।

(द) सहयोगियों के प्रति –(1) अन्य विभागों से समन्वय बनाए रखना, (2) सहयोगी पर्यवेक्षकों के सुझावों व आलोचनाओं को रचनात्मक स्वीकृति देना, (3) सहयोगियों की समस्याओं को हल करने

में सहयोग देना, (4) सहयोगी पर्यवेक्षकों को उनसे सम्बन्धित कार्यों के विषय में समय पर सूचना देना, और (5) सहयोगी पर्यवेक्षकों की तकनीकों, विधियों व प्रक्रियाओं का अवलोकन करना।

14.8 पर्यवेक्षक के आवश्यक गुण

पर्यवेक्षक उपक्रम का बुनियाद स्तम्भ होता है जो न केवल उच्च प्रबन्धकों वरन् सरकार, श्रम संघों और कर्मचारियो के प्रति भी उत्तरदायी होता है। अतः उसे अपने उत्तरदायित्व को निभाने के लिए अत्यन्त सावधानी के साथ काम करना पड़ता है, जिसके लिए उसमें कुछ विशिष्ट योग्यताओं अथवा गुणों का होना आवश्यक है। उसे कैसा होना चाहिए, इस सन्दर्भ में **डेल योडर** ने बहुत सुन्दर उपमाएं दी हैं, ''पर्यवेक्षक मं अत्यन्त धैर्यवान व्यक्ति जैसा धैर्य, गैंडे जैसी खाल, लोमड़ी जैसी चतुराई, सिंह जैसा साहस, चमगादड़ जैसा अन्धापन एवं रहस्यमयी व्यक्ति जैसी चुप्पी होनी चाहिए।'' अपने कार्य में सफलता पाने के लिए पर्यवेक्षक में निम्नांकित गुणों का होना आवश्यक है–

(1) तकनीकी दक्षता– पर्यवेक्षक को परामर्शात्मक, निरंकुश और खुली छूट की तकनीकों का विस्तृत ज्ञान होना चाहिए। उसे किसी एक तकनीक पर ही निर्भर नहीं रहना चाहिए बल्कि परिस्थिति के अनुसार तकनीकों में आवश्यक परिवर्तन भी करते रहना चाहिए।

(2) प्रशासनिक कुशलता– पर्यवेक्षक को अपने अधीनस्थ कर्मचारियों को आदेश देने पड़ते हैं, कार्य योजना बनानी पड़ती है, काम लेना होता है और नियंत्रण भी स्थापित करना होता है। इस सम्बन्ध में तनिक भी चूक होने पर गम्भीर परिणाम निकल सकते हैं। पर्यवेक्षक में प्रशासनिक कुशलता के गुण होने चाहिए, जैसे– व्यावहारिकता, अनुशासनप्रियता, निष्पक्षता, संदेशवाहन क्षमता, दूरदर्शिता, शीघ्र पकड़, भावनात्मक परिपक्वता, स्थिरता, निर्णायकता, उत्तरदायित्वता, कार्यनिष्ठा, सहयोग प्राप्त करने की क्षमता, आदर्श आचरण, साहस और सावधानी।

(3) दलीय भावना– पर्यवेक्षक को कर्मचारियों के समस्त समूह से कार्य लेना होता है अतः यह आवश्यक है कि वह दलीय भावना से प्रेरित होकर कार्य करे। उसमें अधीनस्थों को समझने और उनका उपयोग करने की क्षमता होनी चाहिए। उसे व्यक्तियों और उत्पादन दोनों का ध्यान रखना होता है। लेकिन उसे सदैव ही प्राथमिकता व्यक्तियों को देनी चाहिए। उसे लोक आसक्तचित। बनने का प्रयत्न करना चाहिए न कि उत्पादन आसक्तचित दलीय भावना से कर्मचारियों मं आपसी झगड़ों का निपटारा करके सहयोगपूर्वक कार्य करना चाहिए।

(4) सामाजिक संवदेनशीलता– एक सफल पर्यवेक्षक में सामाजिक संवेदनशीलता (Social Sensibility) का गुण होना जरूरी होता है जिससे कि वह अधीनस्थों के वैयक्तिक गुणों, आदतों, स्वभावों और रूचियों को आसानी से समझ सके और तदनुसार ही व्यवहार करे।

(5) अन्य गुण–उपरोक्त गुणो के अतिरिक्त एक पर्यवेक्षक में अग्रलिखित अन्य गुण भी विद्यमान होने चाहिए– कार्य के प्रति रूचि, आकर्षक व्यक्तित्व, आवश्यक आदेश व निर्देश देने की क्षमता, निरीक्षण कार्य में समय देना और परिश्रम करना, प्रतिनिधायन करना, श्रमिकों की क्रियाओं का उचित अभिलेख

रखना, स्वयं को श्रेष्ठ उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करना, कर्मचारियों को प्रशिक्षित करना, विभागीय शिकायतों को दूर करना, खुले मस्तिष्क वाला होना, कार्य का उचित प्रतिफल देना, सदैव प्रसन्नचित रहता, और अधीनस्थों को सदैव प्रोत्साहित करने की क्षमता होना आदि।

उपरोक्त विवरण से प्रकट होता है कि श्रमिक वर्ग एवं प्रबन्ध के मध्य सम्बन्ध स्थापित करने वाला निम्नस्तरीय प्रबन्ध ही पर्यवेक्षक होते हैं। इस स्तर में अधीक्षक, फोरमैन, सहायक, फोरमैन, ओवरसियर, मुख्य लिपिक आदि आते हैं। यह पर्यवेक्षण स्तर ही प्रबन्ध का अन्तिम एवं सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्तर होता है। परन्तु औद्योगिक संगठनों में पर्यवेक्षक की स्थिति कुछ विचित्र पायी जाती है। श्रमिक उसे प्रबन्ध वर्ग का अंग मानकर उसे अपने विश्वास में नहीं लेते हैं। वह स्वयं भी अपने को एक उत्तरदायी प्रबन्ध की भांति कर्त्तव्यबद्ध अनुभव तो करता है परन्तु उसे प्रबन्धक के समान अधिकार और सत्ता प्राप्त नहीं होती है। संगठन में प्रबन्धक की स्थिति और गुण के सम्बन्ध में निम्न विचारधाराएं उल्लेखनीय है–

(1) एक महत्वपूर्ण व्यक्ति के रूप में –कुछ लोग पर्यवेक्षक को संगठन क्रम में एक अति महत्वपूर्ण कड़ी मानते हैं। संगठन में उसकी स्थिति बिल्कुल उसी प्रकार की है जैसे कि सायकिल के पहिये में धुरी की होती है। सारा काम तथा संगठन उसी के चारों आरे घूमता है। वह आवश्यक निर्णय भी लेता है और कार्य तथा व्यक्तियों पर नियंत्रण करता है। वह उच्च प्रबन्ध द्वारा निर्धारित नीतियों, योजनाओं, निर्णयों आदि को कर्मचारियों तक पहुंचाता है। श्रमिकों के सामने प्रबन्धकीय नीतियों की व्याख्या और प्रबन्धकों के सामने श्रमिकों का प्रतिनिधित्व इसी महत्वपूर्ण व्यक्ति के रूप में पर्यवेक्षक करता है।

(2) एक मध्यस्थ के रूप में –इस विचारधारा के अनुसार पर्यवेक्षक तो प्रबन्धकों और श्रमिकों के मध्य एक मध्यस्थ है। वह दोनों के बीच एक महत्वपूर्ण सन्देशवाहन केन्द्र है। वह प्रबन्ध की सूचनाओं को श्रमिकों तक और श्रमिकों के सुझावों को प्रबन्ध तक तत्परता से पहुंचाता है।

(3) एक सीमान्त व्यक्ति के रूप में –कुछ लोगों का विचार है कि वह एक सीमान्त व्यक्ति है, इसका आशय यह है कि प्रबन्ध और श्रमिक वर्ग प्रत्येक की ओर से यह किनारे पर ही रखा जाता है। प्रबन्ध के व्यक्ति उसे कर्मचारियों में सम्मिलित करते हैं अर्थात् उसे प्रबन्ध का व्यक्ति नहीं समझते हैं। कर्मचारी वर्ग उसे प्रबन्ध का नुमाइन्दा मानते हैं और उसकी उपेक्षा करते हैं। अतः संगठन में पर्यवेक्षक बेचारा एक सीमान्त व्यक्ति के रूप में बिल्कुल अकेला पड़ जाता है।

(4) मानवीय सम्बन्धों के विशेषज्ञ के रूप में –पर्यवेक्षक कर्मचारियों के अधिक सम्पर्क में रहता है और उपक्रम में अच्छे मानवीय सम्बन्ध बनाने का सतत् प्रयास करता है। वह (1) सहभागिता, (2) सन्देशवाहन, (3) लोकतन्त्रात्मक नेतृत्व, (4) कार्य परिवर्तन, (5) कर्मचारियों से प्रत्यक्ष सम्पर्क, (6) कर्मचारियों से साक्षात्कार, (7) कर्मचारियों की वैयक्तिक समस्याओं में रूचि, (8) स्वामी और सेवक की जगह बन्धुत्व का रिश्ता, (9) त्रिपक्षीय हितों (प्रबन्ध, श्रमिक और स्वयं) का समन्वय करके अच्छे मानवीय मानवीय सम्बन्धों के अनुकूल संगठनात्मक वातावरण तैयार करता है। वह कर्मचारियों के प्रति उन्मुख

पर्यवेक्षक के रूप में उनकी व्यक्तिगत भिन्नताओं को ध्यान में रखकर श्रमिकों को अधिकतम सन्तुष्टि प्रदान करने की कोशिश करता है।

(5) एक कर्मचारी के रूप में –पर्यवेक्षक को केवल एक कर्मचारी की मान्यता रखने के कई तर्क हैं। वह प्रारम्भ में तो कर्मचारी ही होता है, बाद में पदोन्नति उपरान्त पर्यवेक्षक या अधीक्षक बन जाता है। अतः उसे कर्मचारी का पक्ष प्रबन्धक के सामने रखने में सुविधा रहती है। फिर, पर्यवेक्षक या प्रबन्ध के समान अधिकार नहीं होते हैं उसका कार्य तो उच्च और मध्य स्तरीय प्रबन्ध द्वारा लिए गए निर्णयों को क्रियान्वित करने तक सीमित रहता है। वह प्रबन्धकीय निर्णयों की व्याख्या ही करता है, निर्णय को नहीं ले सकता है और न ही निर्णय को प्रभावित कर सकता है। वह स्वयं को प्रबन्ध वर्ग का अंग अनुभव नहीं करता है।

उपरोक्त विचारधाराओं से एक ही दिशा का बोध होता है, वह है पर्यवेक्षक के दायित्व की बहुमुखी प्रवृत्ति। वह विविध परिस्थितियों में अलग–अलग ढंग से कार्य करता है। वह प्रबन्धक भी है, कर्मचारी भी है, कर्मचारियों का मित्र, नेता और पथ प्रदर्शक भी है। औद्योगिक उपक्रम में विभिन्न स्थितियों में कार्य करने के कारण उपक्रम की सफलता अच्छे पर्यवेक्षक पर ही निर्भर करती है।

14.9 सारांश

निर्देशन प्रबन्ध का एक अति आवश्यक कार्य है। जिसके अन्तर्गत कर्मचारियों को आदेश देना, मार्गदर्शन एवं नेतृत्व करना, सन्देशवाहन, पर्यवेक्षण, अभिप्रेरण आदि सम्मिलित होता है। इसके द्वारा अधीनस्थों को संगठन के संग एकीकृत करने से सम्बन्धित है ताकि उनके संकल्प व उत्साहपूर्ण सहयोग से संगठनात्मक लक्ष्यों को प्राप्त किया जा सकता है। निर्देशन के पीछे प्रबन्धको का प्रमुख उद्देश्य प्रबन्धकीय योजनाओं और निर्णयों को प्रभावी ढंग से अमली जामा पहनाना होता है।

कुण्ट्ज एवं ओ' डोनेल के अनुसार, ''निर्देशन अधीनस्थों के पथ–प्रदर्शन तथा पर्यवेक्षण का कार्य है।''

निर्देशन कार्य की विशेषतायें –(1) प्रबन्ध का महत्वपूर्ण कार्य, (2) सार्वभौमिकता, (3) गतिशील एवं निरन्तर, (4) उच्चाधिकारी का कार्य, (5) मानवीय संसाधन से सम्बन्धित कार्य, एवं (6) निर्देशन का सार निष्पादन है।

प्रबन्ध में निर्देशन का वही महत्व है जो नाव में नाविक का होता है। **प्रो0 मार्शल ई0 डिमोक** के शब्दों में, ''निर्देशन का कार्य प्रशासन का हृदय होता है।'' निर्देशन द्वारा कार्यों का शुभारम्भ कर मानव संसाधनों की योग्यता, क्षमता एवं कुशलता का उचित उपयोग कर संस्थागत लक्ष्यों का प्राप्त किया जाता है। **पर्यवेक्षण का अर्थ है** – 'ऊपर से देखने का कार्य'। प्रबन्ध विज्ञान के अन्तर्गत पर्यवेक्षण का अर्थ मात्र ऊपर से देखना ही नहीं है बल्कि अधिशासी का अधिकारयुक्त देख–रेख ही पर्यवेक्षण है जिसका उद्देश्य अधीनस्थों से सही कार्य कराना है। **मेरीकुशिंग नाइल्स** के अनुसार, ''ऐसे व्यक्ति जो दूसरे के कार्य की देखभाल करते हैं तथा मध्य स्तरीय प्रबन्ध के प्रति उत्तरदायी होते है,

पर्यवेक्षक कहलाते हैं तथा उनका कार्य ही पर्यवेक्षण है।''

पर्यवेक्षक उच्चाधिकारियों एवं श्रमिकों के बीच मधुर संबंध बनाये रखने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। इसके साथ–साथ पर्यवेक्षक कर्मचारियों के प्रति, कार्य के प्रति, उच्चाधिकारियों के प्रति, एवं सहयोगियों के प्रति अपने उत्तरदायित्वों को निभाता है। जिसके लिए उसके धैर्यवान व्यक्ति जैसा धैर्य, गैंडे जैसी खाल, लोमड़ी जैसी चतुराई, सिंह जैसा साहस, चमगादड़ जैसा अन्धापन एवं रहस्यमयी व्यक्ति जैसी चुप्पी जैसे गुण होने चाहिए।

14.10 महत्वपूर्ण शब्दावली

- ☐ **निर्देशन** – निर्देशन, प्रबन्ध का वह कार्य है जिसके द्वारा उपक्रम के उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु अधीनस्थों को अपना कुशल व प्रभावी ढंग से योगदान करने के लिए मागदर्शन प्रदान किया जाता है।
- ☐ **पर्यवेक्षण** – पर्यवेक्षण कार्य के निष्पादन में अधीनस्थों का प्रत्यक्ष एवं तुरन्त मार्गदर्शन करने एवं नियंत्रण करने से है।
- ☐ **सामाजिक संवेदनशीलता** – एक सफल पर्यवेक्षक में सामाजिक संवेदनशीलता का गुण होना जरूरी होता है। जिससे कि वह अधीनस्थों के वैयक्तिक गुणों, आदतों, स्वभावों और रूचियों को आसानी से समझ सके और तदनुसार ही व्यवहार करें।

14.11आवश्यक प्रश्न

1. निर्देशन से क्या आशय है ? इसे प्रबन्ध का एक आवश्यक कार्य क्यों माना जाता है?
2. ''निर्देशन प्रबन्धकीय निर्णयों और क्रियात्मक गतिविधियों को जोड़ने वाली कड़ी है।'' इस कथन के आलोक में निर्देशन की प्रकृति, महत्व और प्रक्रिया स्पष्ट कीजिए।
3. प्रबन्ध के निर्देशन कार्य की प्रकृति और अंगों का विवेचन कीजिए।
4. निर्देशन के सिद्धान्तों और तकनीकों की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए।
5. 'पर्यवेक्षण' से आप क्या समझते हैं? इसके प्रकार बताइए। वर्तमान औद्योगिक संरचना में पर्यवेक्षक के महत्व और स्थिति की विवेचना कीजिए।
6. प्रबन्ध के पर्यवेक्षण कार्य का तात्पर्य क्या है? इसके महत्व और कार्यों पर प्रकाश डालिए।
7. ''पर्यवेक्षण मनुष्य को अधिक श्रेष्ठ स्तर के निष्पादन हेतु प्राथमिक रूप से अनुदेशन, मार्गदर्शन और प्रेरण है।'' इस कथन को सिद्ध कीजिए और मुख्य पर्यवेक्षणात्मक तकनीकों का वर्णन कीजिए।
8. एक प्रभावी पर्यवेक्षक के कार्यों, उत्तरदायित्वों और आवश्यक गुणों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

कुछ उपयोगी पुस्तकें

- प्रबन्ध के सिद्धान्त एस के सिंह प्रयाग पुस्तक भवन इलाहाबाद 2006
- व्यावसायिक प्रबन्ध ओ. पी. राय बी. के. सिंह वैभवसम्मी प्रकाशन, वाराणासी, 2012
- औद्योगिक संगठन एवं प्रबन्धन, आर.सी. गुप्ता, साहित्य भवन पब्लिकेशन आगरा, 2003
- व्यवसायिक संगठन, जगदीष प्रकाश, प्रयाग पुस्तक भवन, 2014
- औद्योगिक प्रबन्ध, जे.के. जैन, प्रतीक प्रकाशन आगरा, 2001

इकाई—15 अभिप्रेरणा

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य

15.1 प्रस्तावना

15.2 अभिप्रेरणा की अवधारणा

15.3 अभिप्रेरण की भूमिका

15.4 अभिप्रेरण की प्रकार

15.5 अभिप्रेरणा के सिद्वान्त अथवा विचारधाराएँ

15.5.1 मैस्लो का आवश्यकता क्रमबद्वता का सिद्वान्त

15.5.2 हर्जबर्ग की द्विघटक आरोग्य विचारधारा

15.5.3 मैकग्रेगर का 'एक्स' तथा 'वाई' सिद्वान्त

15.6 सारांश

15.7 महत्वपूर्ण शब्दावली

15.8 आवश्यक प्रश्न

15.0 उद्देश्य

इस अध्याय के अध्ययन से आप निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर दे पायेंगे।

- वित्तीय एवं अवित्तीय प्रेरणाओं का संक्षिप्त वर्णन कीजिये।
- मैस्लो के ''उच्च क्रम आवश्यकताओं'' और हर्जबर्ग के '' अभिप्रेरक कारकों'' में क्या सम्बन्ध है ?
- गैर—मौद्रिक अभिप्रेरणा का महत्त्व स्पष्ट कीजिए।
- मौद्रिक अभिप्रेरणा का महत्त्व स्पष्ट कीजिये।
- मैकग्रेगर के अभिप्रेरणा से सिद्धान्त का वर्णन कीजिये।
- हर्जबर्ग के अभिप्रेरणा सिद्धान्त का उल्लेख कीजिए।
- अभिप्रेरणा में मैकग्रेगर के सिद्धान्त 'एक्स' तथा सिद्धान्त 'वाई' का अन्तर स्पष्ट कीजिये।

❖ वित्तीय और गैर–वित्तीय प्रेरणाओं में अन्तर कीजिये।

15.1 प्रस्तावना

किसी भी संस्था की सफलता उस संस्था के भौतिक संसाधनों एवं कर्मचारियों के प्रभावी उपयोग पर निर्भर करती है। कर्मचारी एक सक्रिय सजीव साधन है, जबकि भौतिक संसाधन निर्जीव होते हैं। भौतिक संसाधनों (जैसे मशीन) के निर्जीव होने के कारण उनसे हम अपनी इच्छानुसार कार्य करा सकते है, परन्तु कर्मचारियों के सक्रिय सजीव साधन होने के कारण बलपूर्वक अपनी इच्छानुसार कार्य नहीं कराया जा सकता। वस्तुतः कर्मचारियों की तुलना मशीन से कभी भी नहीं की जा सकती, क्योंकि मशीन का बटन तो जैसे ही On किया जाता है, वैसे ही मशीन कार्य करना प्रारम्भ कर देती है एवं तब तक कार्य करती रहती है जब तक power की Supply जारी रहती है तथा जैसे ही मशीन के बटन को Off कर देते है मशीन कार्य करना बन्द कर देती है। स्पष्ट है कि मशीन हमारी इच्छानुसार जब तक हम चाहें कार्य करती है, लेकिन यह बात कर्मचारियों पर लागू नहीं होती, कोई भी प्रबन्ध कर्मचारियों से बलपूर्वक अपनी इच्छानुसार कार्य नही करा सकता।

'कार्य करने की क्षमता' एवं 'कार्य करने की इच्छा' दो अलग–अलग बातें हैं। एक व्यक्ति कितना भी योग्य, अनुभवी और कार्य करने की क्षमता रखता हो, लेकिन यदि उसकी कार्य करने की इच्छा न हो तो उस व्यक्ति की योग्यता, अनुभव एवं कार्य करने की क्षमता का कोई महत्व नही होता। धन से किसी व्यक्ति का समय खरीदा जा सकता है, उसकी भौतिक और शारीरिक उपस्थिति निश्चित की जा सकती है, लेकिन उसकी कार्य करने की इच्छा को नहीं खरीदा जा सकता। कार्य करने की इच्छा उत्पन्न करने के लिये उन्हें प्रेरित करना पड़ता है। अभिप्रेरणा एक ऐसी शक्ति है जो व्यक्तियों में कार्य करने की इच्छा उत्पन्न करती है। मनुष्य जो भी कार्य करता है उसके पीछे एक प्रेरक शक्ति होती है। ये प्रेरणा या प्रेरक शक्ति उसकी आवश्यकताओं तथा इच्छाओं की अभिव्यक्ति है। यह किसी व्यक्ति के व्यवहार को निश्चित करती है और उसे किसी कार्य को करने या न करने के लिए निर्देशित करती है। अभिप्रेरणा की समस्या वास्तव में कर्मचारियों के संगठनात्मक व्यवहार की समस्या है। स्पष्ट है कि किसी संस्था में कार्यरत कर्मचारियों से उनकी कार्यक्षमता के अनुसाार कार्य कराने के लिये कर्मचारियों की कार्य करने की इच्छा को प्रभावित करने वाले घटकों एवं सिद्धातों की जानकारी किसी प्रबन्धक के लिये परमावश्यक है।

15.2 अभिप्रेरणा की अवधारणा

अभिप्रेरणा की प्रमुख अवधारणाएँ निम्नलिखित है–

1. प्रक्रिया अवधारणा – प्रक्रिया अवधारणा के अनुसार अभिप्रेरणा एक निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है जो कभी समाप्त नही होती है। कर्मचारियों से कार्य कराने के लिये उन्हें निरन्तर अभिप्रेरित करना पड़ता है।

2. मनोवैज्ञानिक अवधारणा– अभिप्रेरण की अवधारणा मूलतः मनोवैज्ञानिक है जो मनुष्य को तत्परता एवं रूचि से कार्य करने के लिये सदैव अभिप्रेरित करती है। मनुष्य के अन्दर से अभिप्रेरणा उत्पन्न होती है बाहर से नही।

3. मानवीय सन्तुष्टि की अवधारणा– अभिप्रेरण मानवीय सन्तुष्टि का परिणाम है। अभिप्रेरण न तो क्रय की जा सकती है और न हस्तान्तरित।

4. वांछित कार्य कराने की अवधारणा– जूलियस के अनुसार, ''अभिप्रेरण वांछित कार्य कराने के लिये सही बटन को दबाती है।'' स्पष्ट है कि अभिप्रेरण वांछित कार्य कराने की एक तकनीक है।

5. कार्य करने के लिये प्रेरित करने की अवधारणा– अभिप्रेरण की यह अवधारणा प्रत्येक कर्मचारी को अधिकतम कार्य करने के लिये प्रेरित करती है, ताकि निर्धारित उद्देश्य एवं लक्ष्य को प्राप्त किया जा सके।

6. कार्यात्मक अवधारणा– इस अवधारणा के अनुसार अभिप्रेरण प्रबन्ध का महत्वपूर्ण कार्य है जिसका निष्पादन प्रत्येक प्रबन्धक को करना होता है। **जॉर्ज आर0 टैरी** के अनुसार ''अभिप्रेरण प्रबन्धकीय कार्य है जो लोगों को प्रोत्साहित करके वांछित दिशा की ओर अग्रसर करता है।''

अभिप्रेरण का अर्थ एवं परिभाषाएँ

अभिप्रेरण को अंग्रेजी में Motivation कहते हैं। इस शब्द की उत्पत्ति अंग्रेजी के Motiveशब्द से हुई है जिसका शाब्दिक अर्थ इच्छा शक्ति को जागृत करना हैं। इस प्रकार अभिप्रेरण से तात्पर्य उस शक्ति से है जो व्यक्तियों में काम करने की इच्छा जागृत करती है। सरल शब्दों में, अभिप्रेरण या उत्प्रेरण कर्मचारियों की 'मनोवैज्ञानिक ऊर्जा' जो उन्हें संगठन में योगदान के लिये प्रेरित करती है। वस्तुतः अभिप्रेरण एक चालक–शक्ति है, जो सम्पूर्ण संगठन को गतिशील करती है। **हैनरी फेयोल,** जो प्रबन्ध–विज्ञान के जनक कहलाते है, ने प्रबन्ध प्रकार्यो का विवेचन करते समय 'आदेश शब्द का प्रयोग किया है। अभिप्रेरण की प्रमुख परिभाषाएँ इस प्रकार हैं–

1. **कुण्टज तथा ओ' डोनेल** के अनुसार ''लोगों को इच्छित तरीके से कार्य करने के लिये प्रोत्साहित करना ही अभिप्रेरण है।''

2. **स्टेनले वेन्स** के अनुसार, ''अभिप्रेरण के अन्तर्गत कोई भी ऐसी भावना या इच्छा सम्मिलित होती है जो किसी व्यक्ति की इच्छा को इस प्रकार बना देती है कि वह कार्य करने को प्रेरित हो जाये।''

3. **डेल एस0 बीच** के अनुसार, ''अभिप्रेरण को एक लक्ष्य या पारितोषिक प्राप्त करने की शक्ति के विस्तार की इच्छा के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।''

4. **विलियम जी0 स्कॉट** के अनुसार, ''अभिप्रेरण व्यक्तियों को इच्छित लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु कार्य

करने के लिये प्रेरित करने की एक प्रक्रिया है।''

5. **माइकल जे0 जुसियस** के अनुसार, ''अभिप्रेरण स्वयं को या किसी अन्य व्यक्ति को इच्छित कार्य करने हेतु प्रोत्साहित करने की क्रिया है अथवा एक वांछित प्रतिक्रिया प्राप्त करने के लिए सही बटन दबाना है।''

6. **मेक्फारलैण्ड** के अनुसार, ''अभिप्रेरणा वह विधि है जिसके द्वारा संवेग, उद्वेग, इच्छाएँ, आकांक्षाएँ, प्रयास अथवा आवश्यकताएँ मानव आचरण को निर्देशित, नियन्त्रित एवं स्पष्ट करती है।''

उपरोक्त परिभाषाओं का अध्ययन करने के उपरान्त हम यह कह सकते है कि अभिप्रेरण वह मनोवैज्ञानिक उत्तेजना है जो कर्मचारियों को कार्य करने के लिए प्रोत्साहित करती है, कार्य पर बनाए रखती है और उन्हें अधिकतम सन्तुष्टि प्रदान करती है।

15.3 अभिप्रेरण की भूमिका

सामान्यतः अभिप्रेरण की निम्नलिखित भूमिका होती है–

1. संगठनात्मक लक्ष्यों को प्राप्त करना।
2. संस्था में कर्मचारियों का स्वैच्छिक सहयोग करना।
3. कर्मचारियों के मनोबल में वृद्दि करना।
4. उच्च मानवीय सम्बन्धों की स्थापना करना।
5. कर्मचारियों की कार्यकुशलता में वृद्दि करना।
6. कर्मचारियों का आत्म–विकास करना।
7. बाह्य नियन्त्रण के स्थान पर आत्म नियन्त्रण को प्रोत्साहित करना।
8. कर्मचारियों के मध्य पारस्परिक सहयोग की भावना का विकास करना।
9. कर्मचारियों की आर्थिक, सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना।

15.4 अभिप्रेरण की प्रकार

एक व्यावसायिक उपक्रम के प्रबन्धक द्वारा जो अभिप्रेरक अपने कर्मचारियों को अभिप्रेरित करने के काम में लिये जा सकते है, उन्हें वित्तीय या अवित्तीय वर्गो में विभाजित किया जा सकता है–

वित्तीय तथा अवित्तीय अभिप्रेरणाएँ –वित्तीय प्रेरणाएँ वे हैं जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मुद्रा से सम्बन्धित होती हैं। वित्तीय प्रेरणाओं में वेतन, मजदूरी, बोनस, सेवा निवृत्ति लाभ, लाभ विभाजन, छुट्टियों का वेतन, जीवन बीमा, निःशुल्क चिकित्सा सेवा आदि को सम्मिलित किया जाता है। यह तो

हम जानते ही है कि मुद्रा एक महत्वपूर्ण अभिप्रेरक तत्व है जो केवल भौतिक सुख ही नही वरन् स्वाभिमान सम्बन्धी आवश्यकताओं की सन्तुष्टि भी करती है। **अवित्तीय प्रेरणाएँ** वे हैं जो प्रत्यक्ष रूप से मुद्रा से सम्बन्धित नहीं होती हैं। ये अभिप्रेरणाएँ मनुष्य में उच्च स्तरीय आवश्यकताओंः जैसे– स्वाभिमान व आत्मविकास की आवश्यकताओं के सम्बन्ध में सन्तुष्टि प्रदान करती है। ये अभिप्रेरणाएँ मनोवैज्ञानिक हैं जो कि कर्मचारियों की आन्तरिक भावनाओं से सम्बन्ध रखती हैं। अवित्तीय अभिप्रेरणाओं में प्रशंसा करना,हिस्सेदारी, उच्च स्तरीय उततरदायित्व प्रदान करना, कार्य के निर्णयों में हिस्सा प्रदान करना, अधिकार देना, अच्छी कार्य दशाएँ उत्पन्न करना आदि को शामिल किया जाता है। ड्यूबिन के अनुसार, ''अवित्तीय अभिप्रेरणाएँ मानसिक पुरस्कार हैं।''

गैर–वित्तीय प्रेरणाओं के कुछ महत्वपूर्ण उदाहरण

1. **नौकरी की सुरक्षा**– प्रत्येक कर्मचारी चाहता है कि उसकी नौकरी में छँटनी तथा सेवा–मुक्ति की जोखिम न हो। सामान्यतया यह देखा गया हैं कि एक व्यक्ति अस्थाई नौकरी की अपेक्षा स्थाई नौकरी होने पर अधिक मन लगाकर कार्य करता है। इसलिए यदि कर्मचारियों में उनकी नौकरी की सुरक्षा का भाव उत्पन्न कर दिया जाए तो वे उपक्रम के कार्यों का सम्पादन रूचि एवं अपनी सम्पूर्ण शक्ति से करेंगे।

2. **पद**–संगठन संरचना में व्यक्ति का अच्छा पद एवं स्थिति उसे अधिक कार्य के लिए अभिप्रेरित करती है। अच्छा पद व्यक्ति को प्रतिष्ठा एवं सम्मान देने के साथ–साथ उसमें आशा, महत्वाकांक्षा एवं उपलब्धि का भाव उत्पन्न करता है। योग्य व्यक्ति को उचित पद प्रदान करके उसकी निराशा व कुण्ठा को समाप्त किया जा सकता है तथा उसकी भूमिका को सक्रिय बनाया जा सकता है।

3. **विकास के अवसर**–प्रत्येक व्यक्ति विकास एवं उन्नति के अवसर चाहता है। इससे वह अपनी योग्यताओं, कौशल एवं सम्भवनाओं को विकसित कर सकता है। अतः संगठन में पदोन्नति, प्रशिक्षण, शिक्षा व अन्य विकास की योजनाओं के द्वारा कर्मचारियों को अभिप्रेरित किया जा सकता है।

4. **कार्य में गर्व**–प्रत्येक व्यक्ति प्रतिष्ठित संस्थाओं में गौरवपूर्ण कार्य करना चाहता है। संगठन की ख्याति व छवि से व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा पर प्रभाव पड़ता है। अतः संस्था की प्रतिष्ठा में वृद्धि के साथ–साथ उसके कार्यो को भी गौरवपूर्ण बनाकर व्यक्ति को संगठन में रूके रहने के लिए प्रेरित किया जा सकता है।

5. **पुरस्कार या दण्ड**–अधिक एवं अच्छा कार्य करने पर पुरस्कार एवं काम न करने पर दण्ड की समुचित व्यवस्था होनी चाहिए। इससे अच्छा काम करने वाले को प्रेरणा मिलती है और कम करने वाले अच्छा काम करने का मौका मिलता है। जहाँ अधिक एवं कम काम करने वाले को एक ही मापदण्ड से आँका जाता है, वहाँ अच्छा काम करने वाले निरूत्साहित हो जाते हैं। पुरस्कार का प्रावधान कर्मचारी में संस्था के प्रति निष्ठा एवं विश्वास उत्पन्न करना है।

6. **कार्य–चक्र एवं परिवर्तन**– कुछ संस्थाएँ अपने कर्मचारियों को अभिप्रेरण देने के लिए कार्य–चक्र विधि का प्रयोग करती है। इस विधि में कर्मचारियों को थोड़े–थोड़े समय के लिए विभिन्न कार्यों पर लगाया जाता है । इससे वह एक कार्य करते हुए थकता नहीं है और कार्य में रूचि बनी रहती है। इस विधि द्वारा सभी कर्मचारियों को सब कार्य करने का अवसर मिलता है, इससे उनके ज्ञान एवं चातुर्य में वृद्वि होती है।

7. **कार्य विस्तार**– कार्य विस्तार के अन्तर्गत कार्य को विविध प्रकृति का बनाकर इसकी नीरसता को समाप्त किया जाता है। इससे कार्य में न केवल थकान, ऊब व निराशा समाप्त हो जाती है, बल्कि कार्य में रूचि एवं चुनौती भी उत्पन्न होती है।

8. **कार्य सम्पन्नता** – कार्य–सम्पन्नता के द्वारा कार्य में एक चुनौती, महत्ता एवं उपलब्धि का भाव उत्पन्न किया जाता है। इसके द्वारा कर्मचारियों के उत्तरदायित्वों व चुनौतियों को विस्तृत किया जाता है । इसमें कार्य के निष्पादन के साथ–साथ उसके नियोजन व नियन्त्रण आदि पहलुओं को सौंप दिया जाता है।

9. **सहभागिता**– संस्था के महत्वपूर्ण निर्णयों, योजनाओं व कार्यक्रमों में कर्मचारियों को भागीदार बनाकर उनकों अभिप्रेरित किया जा सकता है। सहभागिता से कर्मचारियों में आत्म–विश्वास व सन्तुष्टि व सम्मान की भावना उत्पन्न होती है। वे संस्था के प्रति अधिक जागरूक, उत्तरदायी एवं सृजनशील बन जाते हैं।

10. **कुशल सम्प्रेशण व्यवस्था**–उपक्रम में कार्य करने वाले व्यक्तियों का सहयोग प्राप्त करने के लिए एक प्रभावशाली सम्प्रेषण व्यवस्था का निर्माण करना अधिक लाभदायक होगा। कुशल सम्प्रेषण व्यवस्था के माध्यम से एक प्रबन्धक कर्मचारियों को कम्पनी की समस्त योजनाओं से अवगत करा सकता है तथा उपक्रम के कर्मचारी के मन में उत्पन्न भ्रमों को तुरन्त समाप्त कर सकता है, जिसका कर्मचारियों की कार्यक्षमता पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है।

11. **मान्यता**–यदि कर्मचारियों के कार्यो को मान्यता प्रदान की जाए तो उनसे अच्छे काम की अपेक्षा की जा सकती है। यदि एक प्रबन्धक अथवा पर्यवेक्षक अपने अधीन काम करने वाले व्यक्तियों के कार्यो की प्रशंसा करता है तो निःसन्देह वे कर्मचारी पूर्व की अपेक्षा अधिक मेहनत से कार्य करेंगे, क्योंकि मान्यता एवं प्रशंसा से उन्हें आत्मिक सन्तुष्टि मिलेगी।

12. **अधिकारों का प्रत्यायोजन**– अधिकारों के प्रत्यायोजन का अभिप्राय अपने अधिकारों में से कुछ अधिकार अपने अधीनस्थों को प्रदान करने से है। एक अधीनस्थ को अपने उच्च अधिकारी से यदि अधिक अधिकार प्राप्त होंगे तो उसमें विश्वास एव अपनत्व की भावना उदय होगी जो कि उसे अधिक कार्य करने की शक्ति प्रदान कर सकेगी।

15.5 अभिप्रेरणा के सिद्वान्त अथवा विचारधाराएँ

कुछ महत्वूपर्ण अभिप्रेरणा सिद्वान्तों की विवेचना निम्नलिखित हैं–

15.5.1 मैस्लो का आवश्यकता क्रमबद्वता का सिद्वान्त

इस विचारधारा का प्रतिपादन 1943 ई0 में अमेरिका के विख्यात मनोवैज्ञानिक अब्राहम एच0 मैस्लो द्वारा किया गया था। इसे अभिप्रेरण की सर्वश्रेष्ठ विचारधाओं में माना जाता है। उनके अनुसार मानव की आवश्यकताएँ अनन्त हैं और एक साथ उन्हें सन्तुष्ट नहीं किया जा सकता है। इन आवश्यकताओं में एक निश्चित क्रमबद्वता होती है और व्यक्ति को कार्य के प्रति रूचि एवं शक्ति उत्पन्न कराने हेतु उसकी एक के बाद दूसरी आवश्यकताओं को क्रमबद्वता में सन्तुष्ट करना आवश्यक होता है। मैस्लो ने आवश्यकताओं की निम्नलिखित पाँच वर्गो में विभाजित किया है–

1. **भाारीरिक आवश्यकताएँ**–मैस्लो के अनुसार, सबसे पहले मनुष्य की शारीरिक आवश्यकताएँ होती हैं इनमें उन्होंने भोजन, प्यास, नींद, स्वास्थ्य, विश्राम और काम भावना को शामिल किया है । इन आवश्यकताओं की पूर्ति परमावश्यक है और पूरा न होने पर मृत्यु तक हो सकती है।

2. **सुरक्षा आवश्यकताएँ**–इन आवश्यकताओं में मैस्लो ने सुरक्षा स्थायित्व, आराम, शान्ति और नौकरी की सुरक्षा आदि को शामिल किया है। शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद कर्मचारी रोजगार की सुरक्षा चाहता है।

3. **प्रेम व सामाजिक आवश्यकताएँ**–इन आवश्यकताओं में व्यक्ति की अपनत्व तथा प्रेम सम्बन्धी आवश्यकताओं को शामिल करते हैं। इनमें दूसरों से अपनी प्रशंसा या मान्यता प्राप्त करना, अपनत्व की भावना का पोषण, समूह की सदस्यता प्राप्ति, साथियों से प्रेम व स्नेह प्राप्त करना तथा सामूहिक कार्यो में हाथ बाँटने की इच्छा आदि आवश्यकताएँ सम्मिलित हैं । यदि मानव की इन आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती है तो कर्मचारी के लिए समाज में रहना सम्भव नहीं हो पाता है। उसके मन में सदैव भय बना रहता है कि कहीं उसका सामाजिक बहिष्कार न हो जाए।

4. **आत्म–सम्मान एवं अहम् सम्बन्धी आवश्यकताएँ** – व्यक्ति की सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद सम्मान एवं स्वाभिमान, आवश्यकताओं का जन्म होता है। इस प्रकार, आवश्यकताओं की क्रमबद्वता में इनका चौथा स्थान है। इन आवश्यकताओं में प्रतिष्ठा पाने की इच्छा और अहम् शान्त करने की इच्छा प्रमुख है। इन आवश्यकताओं से कुछ तो सन्तुष्ट हो जाते है और कुछ जीवन – पर्यन्त सन्तुष्ट नहीं हो पाते हैं। एक कर्मचारी जितने अधिक ऊँचे पद पर होगा उसकी सम्मान एवं स्वाभिमान की आवश्यकताएँ उतनी ही अधिक होगी।

5. आत्म –विकास सम्बन्धी आवश्यकताएँ– मैस्लो की आवश्यकता की क्रमबद्वता में अन्तिम स्थान आत्म–विकास की आवश्यकताओं का है जिन पर कि व्यक्ति सबसे अन्त में ध्यान देता है। प्रत्येक व्यक्ति की यह इच्छा होती है कि जो कुछ उसमें बनने की योग्यता है वह उसके योग्य बन जाए। इन आवश्यकताओं में आत्म शक्तियों को पहचाना, कार्य को चुनौती के रूप में स्वीकार करके उसे पूरा करना, बौद्विक जिज्ञासा तथा उसकी सन्तुष्टि सृजनात्मक व अच्छे विचारों की प्रशंसा तथा उसकी वास्तविकता को स्वीकार करना आदि को सम्मिलित किया जा सकता है। मैस्लो के अनुसार ''एक संगीतकार को संगीत बनाना चाहिए एक कलाकार को चित्र बनाना

चाहिए, एक कवि को लिखना चाहिए, यदि वह अन्ततोगत्वा प्रसन्न होना चाहता है। हर एक व्यक्ति को जो हो सकता है उसे वह होना चाहिए। इन आवश्यकताओं को हम आत्म–विकास कह सकते हैं।''

मैस्लो का मत है कि एक मनुष्य उपरोक्त पाँच आवश्यकताओं को इसी क्रम में सन्तुष्ट करने का प्रयत्न करता है, क्योंकि उसे उसकी तीव्रता इसी क्रम में अनुभव होती ळें

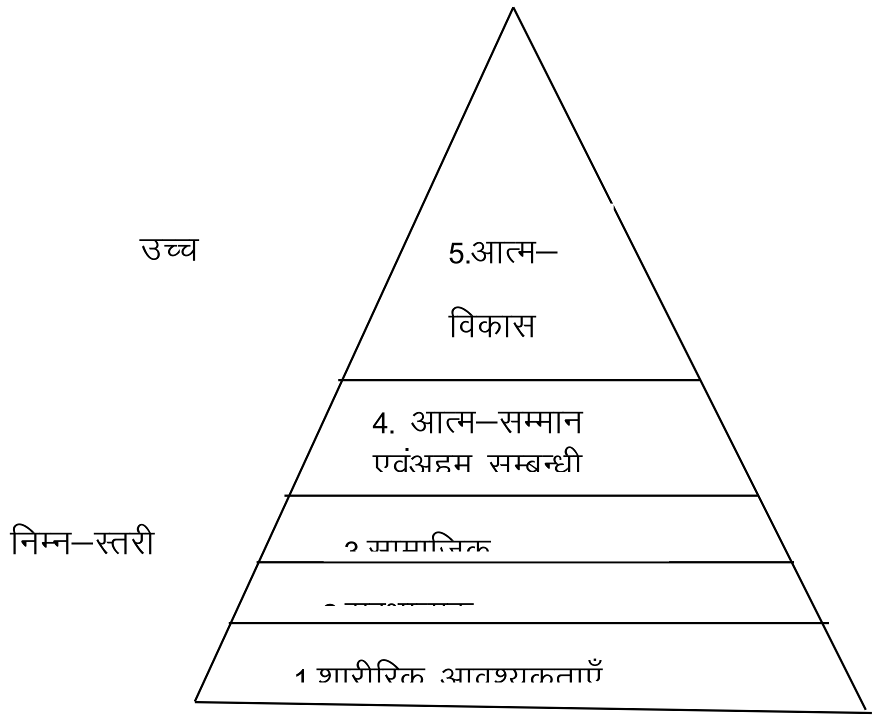

मैस्लो का कहना है कि शारीरिक आवश्यकताएँ क्रमबद्धता के निम्नतम स्तर पर होते हुए भी सर्वाधिक प्रभुत्व वाली होती हैं, क्योंकि इनका सम्बन्ध अस्तित्व में बने रहने से होता है। एक बार जब किसी विशेष स्तर की आवश्यकताएँ पर्याप्त रूप से सन्तुष्ट हो जाती हैं तो अगली उच्चस्तरीय आवश्यकताएँ कार्यशील हो जाती हैं । ऐसा इसलिए होता है कि एक बार जब कोई आवश्यकता सन्तुष्ट हो जाती है तब वह व्यक्ति के व्यवहार को अभिप्रेरित नही करती। सिर्फ असन्तुष्ट आवश्यकताएँ ही लोगों को कार्य करने के लिए बाध्य करती हैं। आत्म विकास की आवश्यकता सर्वाधिक उच्चस्तरीय आवश्यकता है। यह व्यक्ति की सम्भावना के अधिकतम विकास तक पहुँचने की आवश्यकता है। इसकी पूर्ण सन्तुष्टि आमतौर पर सम्भव नही होती है, इसलिए यह आवश्यकता सदैव असन्तुष्ट बनी रहती है। मैस्लो का मत है कि उच्च स्तरीय आवश्यकताओं की तुलना में निम्न स्तरीय आवश्यकताओं की तीव्रता अधिक पायी जाती है। लोग निम्न स्तरीय आवश्यकताओं को अधिक महत्व देते हैं और पहले उनकी सन्तुष्टि चाहते हैं। फिर वे क्रमशः सीढ़ी–दर सीढ़ी उच्च स्तरीय आवश्यकताओं की तरफ बढ़ते हैं। एक बार जब पर्याप्त रूप से किसी स्तर विशेष की आवश्यकताएँ सन्तुष्ट हो जाती हैं तो व्यक्ति उच्च स्तरीय आवश्यकताओं की तरफ बढ़ते हैं और उसकी सन्तुष्टि चाहते हैं। अगली उच्च स्तरीय आवश्यकताओं की ओर बढ़ने की एक पूर्ण भावना यह है कि उससे पहले वाली निम्न स्तरीय आवश्यकता पर्याप्त रूप

से सन्तुष्ट कर ली जाए। वस्तुतः उच्च स्तरीय आवश्यकताओं का उदय होना निम्न स्तरीय आवश्यकताओं की सन्तुष्टि का परिणाम है। दबाव की दशा में सबसे पहले उच्च स्तरीय आवश्यकताओं का परित्याग किया जाता है।

मैस्लो का अभिमत है कि अभिप्रेरण की प्रक्रिया और कुछ नहीं, बल्कि इन आवश्यकताओं को जगाने, स्पष्ट करने और उनको अनुभव कराने की प्रक्रिया है जिससे कि प्रबन्धक कर्मचारियों को यह बता सकें कि आप अधिक से अधिक काम में सहयोग देकर किस प्रकार इनकी पूर्ति कर सकते हैं। व्यक्ति स्वयं अपनी आवश्यकताओं से ही प्रेरित होता है और किसी तत्व से नहीं, अतः अभिप्रेरण की प्रक्रिया में प्रबन्ध को यही जानना होता है कि अमुक कर्मचारी में कौन–सी आवश्यकता किस स्तर पर विद्यमान है। यह जान लेने के बाद वह उस व्यक्ति के लिए उपयुक्त अभिप्रेरण का उत्प्रेरक चुन कर लागू कर सकता है।

संक्षेप में, मैस्लो के अनुसार आवश्यकता का क्रम विभिन्न बातों पर निर्भर करता है, उनमें से कुछ प्रमुख बातें निम्नलिखित हैं–

1. उच्च आवश्यकताएँ निम्न आवश्यकताओं की सन्तुष्टि का परिणाम होती हैं।
2. कोई भी आवश्यकता मनुष्य के लिए अभिप्रेरण का कार्य तब करेगी, जबकि उसकी अन्य निम्न–स्तरीय आवश्यकताएँ पूरी हो चुकी हों।
3. आवश्यकताएँ जितनी ऊँची होंगी, जीवन रक्षा की दृष्टि से उनका उतना ही कम महत्व होगा।
4. उच्च आवश्यकताओं की पूर्ति में मानसिक तनाव कम होता है।
5. उच्च आवश्यकताओं की पूर्ति से मानसिक सन्तोष में वृद्धि होती है।
6. उच्च आवश्यकताएँ बाह्य वातावरण तथा आर्थिक दशा पर निर्भर करती हैं।
7. व्यक्ति के आत्म–मूल्यांकन में उच्च–स्तरीय आवश्यकताओं की भूमिका अधिक महत्वपूर्ण होती है।

मान्यताएँ

मैस्लो की विचारधारा निम्नलिखित पर आधारित हैं–

1. मानव की आवश्यकताएँ निरन्तर रूप से जन्म लेती रहती हैं। उसकी एक आवश्यकता की सन्तुष्टि होने के साथ ही दूसरी आवश्यकता जन्म ले लेती है। यह प्रक्रिया आजन्म चलती रहती है।
2. मानव की कोई भी असन्तुष्ट या नई आवश्यकता उसे कार्य करने के लिए प्रेरित करती है। सन्तुष्ट आवश्यकता प्रेरित नहीं करती है।

3. आवश्यकताओं को क्रमबद्वता किया जा सकता हैं। शारीरिक आवश्यकताएँ निम्नतर स्तर पर होती हैं, परन्तु अति आवश्यक होती हैं । इसके बाद क्रमशः सुरक्षा सम्बन्धी, सामाजिक,स्वाभिमान तथा आत्म–विकास की आवश्यकताएँ जन्म लेती हैं।

4. मैस्लो ने पाँचों आवश्यकताओं को उच्च–स्तरीय एवं निम्न–स्तरीय आवश्यकताओं में विभक्त किया है। शारीरिक एवं सुरक्षा सम्बन्धी आवश्यकताएँ हैं, जबकि सामाजिक, स्वाभिमान एवं आत्म–सम्मान की आवश्यकताएँ उच्च–स्तरीय आवश्यकताएँ हैं।

5. मैस्लो का यह भी मानना है कि निम्न–स्तरीय आवश्यकताओं की सन्तुष्टि मूलतः बाह्रय स्त्रोतों से होती है, जबकि उच्च–स्तरीय आवश्यकताओं की सन्तुष्टि अन्तर्मन से ही होती है।

6. मैस्लो का यह भी विश्वास था कि लोगों को प्रथम चार आवश्यकताएँ (शारीरिक, सुरक्षा सम्बन्धी, सामाजिक तथा स्वाभिमान की आवश्यकता) तब अभिप्रेरित करती हैं, जबकि उसके पास उनकी कमी होती है, किन्तु सर्वोच्च आवश्यकता अर्थात् आत्म–विकास की आवश्यकता तब अभिप्रेरित करती है, जबकि व्यक्ति के पास अप्रयुक्त क्षमताएँ व योग्यताएँ होती है।

7. मैस्लो का यह भी मानना है कि किसी भी व्यक्ति की कोई भी आवश्यकता पूर्णतः सन्तुष्ट नहीं होती है। आवश्यकताएँ उचित स्तर तक ही सन्तुष्ट हो सकती हैं।

प्रबन्धक को अपने अधीनस्थों को अभिप्रेरित करने के लिए उनकी असंतुष्ट आवश्यकताओं की जानकारी होनी चाहिए। यह सिद्धान्त श्रेष्ठतम विचारधाराओं में गिना जाता है। इस विचारधारा के पक्ष में मुख्यतः निम्नलिखित तक्र दिये जाते हैं–

1. यह तक्रपूर्ण विचारधारा है, क्योंकि इस विचारधारा के अनुसार कोई भी व्यक्ति जो कुछ करता है अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही करता है।

2. इस विचारधारा के अनुसार सन्तुष्ट आवश्यकताएँ अभिप्रेरित नहीं करती हैं। अतः प्रबन्धक अपने अधीनस्थों की असन्तुष्ट आवश्यकताओं पर ही ध्यान देते हैं।

3. यह विचारधारा प्रबधंकों को यह भी जानकारी देती है कि कोई भी अधीनस्थ आवश्यकता के अगले क्रम पर तभी आगे बढ़ता है, जबकि उसकी निचले स्तर की आवश्यकताओं की उचित स्तर तक सन्तुष्टि हो जाती है।

4. यह विचारधारा मानव व्यवहार को प्रभावित करने वाले घटकों को समझने में सहायता देती है इसका कारण यह है कि यह विचारधारा यह स्पष्ट करती है कि विभिन्न व्यक्ति समान परिस्थितियों में भी भिन्न–भिन्न व्यवहार क्यों करते हैं।

मैस्लो का सिद्धान्त सहज व बोधगम्य होने के कारण आकर्षित करता है। यह मानवीय अभिप्रेरण का एक सामान्य सिद्धान्त है जिसे मोटे तौर पर सभी संस्कृतियों में लागू किया जा सकता है।यह

मानवीय आवश्यकताओं की एक समग्र तस्वीर प्रस्तुत करता है और इस बात को स्पष्ट करता है कि व्यक्ति किस तरह से अभिप्रेरित होता है। इसकी यह मूल मान्यता ताक्रिक प्रतीत होती है कि असन्तुष्ट आवश्यकताएँ व्यक्ति के व्यवहार पर हावी रहती हैं। यह सिद्धान्त किसी संगठन में विभिन्न स्तरों पर कार्यरत लोगों की अपूरित आवश्यकताओं की पहचान करके अभिप्रेरण के साधन के रूप में उनकी सन्तुष्टि के लिए आवश्यक उपायों की रूपरेखा बनाने तथा नई उच्च स्तरीय आवश्यकताओं को जागृत करने के लिए प्रबन्धकों का मार्गदर्शन करती है। इन विशेषताओं और उपादेयताओं के बावजूद क्रिस, आगारिस, पोर्टर, बेनिस आदि ने इस सिद्धान्त की कटु आलोचना निम्न आधारों पर की है–

1. आवश्यकताओं का मैस्लो का वर्गीकरण प्रत्येक क्षेत्र में उपयुक्त नहीं कहा जा सकता है। आलोचकों का यह विचार है कि सभी व्यक्ति मैस्लो के द्वारा बताये गये क्रम में अपनी आवश्यकताओं को पूरा नहीं करते हैं।
2. अधिकांश आवश्यकताओं के एक दूसरे में व्याप्त होने के कारण उनमें स्पष्ट अन्तर कर पाना सम्भव नहीं है । इसके अतिरिक्त मैस्लो के इस वर्गीकरण को अन्तिम नहीं माना जा सकता। स्वयं मैस्लो ने कुछ वर्ष बाद दो अन्य आवश्यकताओं –एकीकरण तथा आध्यात्मिक आवश्यकताओं का वर्णन किया है।
3. यह विचारधारा मानती है कि मनुष्य की एक समय में एक ही प्रकार की आवश्यकता होती है, जबकि व्यवहार में व्यक्ति की एक समय में एक से अधिक आवश्यकताएँ भी हो सकती हैं।
4. यह विचारधारा व्यक्तियों की आवश्यकताओं की सन्तुष्टि पर आधारित है, किन्तु कुछ आवश्यकताएँ कभी भी सन्तुष्ट नहीं होती हैं।
5. यह मान्यता उचित नहीं है कि जब तक निम्न स्तर की आवश्यकताएँ पूरी नहीं होती है, तब तक उच्च स्तर की आवश्यकताओं की सन्तुष्टि कोई प्रेरणा नहीं देती हैं।
6. मानवीय व्यवहार विभिन्न घटकों से निर्धारित एवं प्रेरित होता है। अतः कई बार प्राथमिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि न होने पर भी सामाजिक व स्वाभिमान सम्बन्धी आवश्यकताएँ उत्पन्न हो सकती हैं।
7. सभी कर्मचारियों की आवश्यकता अनुक्रम एक समान नहीं होता हैं। आर्थिक –सामाजिक रूप से समृद्ध कर्मचारियों की उच्च–स्तरीय आवश्यकताएँ होती है, जबकि आर्थिक–सामाजिक रूप से पिछड़े कर्मचारियों की आवश्यकताएँ निम्नस्तरीय ही होती है।
8. सामान्य मनुष्य इतना दूरदर्शी नहीं होता है कि वह अपनी भावी आवश्यकताओं का पहले से ही अनुमान लगा ले।
9. सभी व्यक्ति सदैव अपनी किन्हीं आवश्यकताओं के कारण ही किसी कार्य को करने के लिए अभिप्रेरित नहीं हो सकते है उनके पीछे कुछ अन्य कारण भी हो सकते हैं।

उपर्युक्त सभी आलोचनाओं के उपरान्त भी यह विचारधारा काफी लोकप्रिय विचारधारा है। प्रबन्धक व्यक्तियों को अभिप्रेरित करने के लिए उनकी आवश्यकतों को समझने की कोशिश करते है और उन्हें सन्तुष्ट करते है।

15.5.2 हर्जबर्ग की द्विघटक आरोग्य विचारधारा

20 वीं शताब्दी के पाँचवे दशक के उत्तरार्द्ध में अमेरिकी व्यवहारवादी मनोवैज्ञानकि फ्रेडरिक हर्जबर्ग एवं उनके सहयोगियों ने अभिप्रेरणा की एक नई विचारधारा का प्रतिपादन किया। इस विचारधारा को द्विघटक आरोग्य विचारधारा अथवा अभिप्रेरण – आरोग्य विचारधारा के नाम से जाना जाता है । यह विचारधारा पिट्सबर्ग क्षेत्र के लगभग 200 अभियन्ताओं और लेखापालकों की कार्य प्रवृत्तियों पर किए गए प्रयोगात्मक शोध से प्राप्त निष्कर्षो पर आधारित है। शोध के दौरान सभी 200 कर्मचारियों से निम्नलिखित दो प्रश्न पूछे गये–

1. क्या आप विस्तार से यह बता सकते हैं कि आपने अपने कार्य बारे में अत्यधिक अच्छा कब अनुभव किया?
2. क्या आप विस्तार से यह बता सकते है कि आपने अपने कार्य के बारे में अत्यधिक बुरा कब अनुभव किया?

उन सबसे यह भी कहा गया कि वे उन परिस्थितियों को भी विस्तार से बतायें जिनमें अत्यधिक अच्छा या बुरा अनुभव हुआ। **हर्जबर्ग** ने इन सभी कर्मचारियों के उत्तरों का विश्लेषण किया तो पाया कि जिन कारणों या घटकों से कर्मचारियों ने अच्छा अनुभव किया वे कारण उन कारणों या घटकों से बिल्कुल भिन्न थे जिनके कारण उन्होंने बुरा अनुभव किया। हर्जबर्ग और उनके सहयोगियों ने अध्ययनों और अनुसन्धानों के आधार पर निम्नलिखित दो प्रमुख निष्कर्ष निकाले–

1. जब व्यक्ति अपने कार्य से असन्तुष्टि प्राप्त करते हैं तो इस असन्तुष्टि का कारण वह वातावरण है जिसमें वे कार्य करते हैं। हर्जबर्ग ने वातावरण को प्रभावित करने वाले घटकों को 'स्वास्थ्य या आरोग्य घटकों' के नाम से पुकारा है। ये सभी घटक मनुष्य के वातावरण से सम्बन्धित हैं और मनुष्य को सन्तुष्ट होने से रोकते हैं । इन सभी घटकों को हर्जबर्ग और उनके सहयोगियों ने बाह्रय घटक माना है।
2. जब व्यक्ति कार्य से सन्तुष्टि प्राप्त करते हैं तो यह केवल उनके द्वारा किए गए कार्य से ही प्राप्त हुई मानी जाती है। अन्य शब्दों में, कार्य–सन्तुष्टि केवल निष्पादित कार्य से ही प्राप्त की जा सकती है। हर्जबर्ग ने सन्तुष्टि प्रदान करने वाले घटकों को 'अभिप्रेरक घटक या तत्व' के नाम से सम्बोधित किया है। इन सभी घटकों को हर्जबर्ग एवं उनके सहयोगियों ने कार्य के आन्तरिक घटक माना है। स्पष्ट है कि हर्जबर्ग और उनके सहयोगियों ने कार्य असन्तुष्टि के लिए स्वास्थ्य/आरोग्य तत्वों एवं कार्य सन्तुष्टि के लिए अभिप्रेरक तत्वों को उत्तरदायी माना है। दोनों

घटकों की विस्तृत विवेचना निम्न प्रकार है–

1. **आरोग्य/स्वास्थ्य या पोषक घटक**– आरोग्य घटकों का सम्बन्ध कार्य वातावरण से होता है तथा ये कार्य के बाह्य घटक होते है। ये कर्मचारी की कार्यक्षमता को बनाये रखते हैं, अतः इन्हें अनुरक्षण तत्व भी कहा जाता है। वस्तुतः ये तत्व असन्तुष्टि को दूर करके अभिप्रेरण के लिए एक उचित आधार तैयार करते हैं। दूसरे शब्दों में, इनके अभाव में व्यक्ति को कष्ट व असन्तोष होगा, किन्तु इनके होने से या अनुकूल होने से व्यक्ति को सन्तुष्टि या प्रेरणा प्राप्त नहीं होगी। ये असंतोष उत्पन्न करने वाले घटक हैं, अभिप्रेरक नहीं। हर्जबर्ग ने आठ आरोग्य घटकों की पहचान की है जो इस प्रकार है : संस्था की नीतियाँ, संस्था का प्रशासन, कार्यदशाएँ, कार्य–सुरक्षा, वेतन, अनुषंगी लाभ, पर्यवेक्षण की किस्म तथा अधिकारियों, सहकर्मियों एवं अधीनस्थों में पारस्परिक सम्बन्ध। हर्जबर्ग का मानना था कि कर्मचारियों में सन्तोष स्तर बनाये रखने हेतु संस्था के कार्य वातावरण में इन घटकों की उपस्थिति अनिवार्य है। इन घटकों की अनुपस्थिति या कमी कर्मचारियों में असंतोष उत्पन्न कर सकती है। अतः कर्मचारियों में असन्तोष नहीं पनपने हेतु संस्था के कार्य वातावरण में इन घटकों का विद्यमान होना अनिवार्य है।

हर्जबर्ग ने आरोग्य शब्द का प्रयोग चिकित्सा विज्ञान के क्षेत्र में प्रयुक्त प्रतिरोधक और परिवेशात्मक के समतुल्य किया है। उदाहरणार्थ, प्रदूषण रहित जल बीमारी को रोकता है, किन्तु बीमारी का इलाज नही करता है । ठीक उसी तरह से आरोग्य घटक कार्य के प्रति ऋणात्मक अनुभवों व असन्तुष्टि को रोकता है। **गेलरमैन** के अनुसार ''आरोग्य तत्व व्यक्तियों को अच्छा अभिप्रेरण देने के लिए बहुत आवश्यक है, किन्तु वे स्वयं अभिप्रेरित करने में असमर्थ होते हैं। ये मनोबल की छत्रछाया में आवश्यक आधार तो बना सकते हैं, परन्तु ये व्यक्तियों को अपने कार्यो को अच्छी तरह से करने में किसी प्रकार की अभिप्रेरणाएँ प्रदान नहीं करते।''

2. **अभिप्रेरण या सन्तोषदायी घटक** –ये कार्य से सम्बन्धित घटक होते हैं। ये व्यक्ति को अधिक एवं अच्छा कार्य करने के लिए प्रेरित करते हैं। इन्हें सन्तुष्टि प्रदान करने वाले तत्व भी कहा जाता है। हर्जबर्ग का मत है कि अभिप्रेरक तत्वों के द्वारा ही व्यक्तियों को अभिप्रेरित किया जा सकता है, स्वास्थ्य तत्वों के द्वारा नहीं। हर्जबर्ग ने ऐसे छः घटकों की पहचान की है जो इस प्रकार हैं : उपलब्धियाँ, मान्यता या सम्मान, उत्तरदायित्व, विकास, व्यक्तिगत उन्नति, कार्य की प्रकृति । यदि संस्था में ये घटक पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होते रहते हैं और वृद्वि होती रहती है तो कर्मचारियों की सन्तुष्टि में भी वृद्वि होती है। फलतः कर्मचारी अभिप्रेरित होते है।

क्र0 सं0	स्वास्थ्य/आरोग्य तत्व (Hygiene Factors)	अभिप्रेरक तत्व (Motivators)
1.	कम्पनी नीति एवं प्रशासन	उपलब्धि

2.	पयर्वेक्षण	मान्यता
3.	कार्य दशाएँ	चुनौतीपूर्ण कार्य
4.	पारस्परिक सम्बन्ध	उन्नति एवं विकास
5.	वेतन	उत्तरदायित्व
6.	पद एवं कार्य सुरक्षा	कार्य स्वयं

हर्जबर्ग का सुझाव था कि संस्था के कार्य वातावरण में पर्याप्त मात्रा में आरोग्य या पोषक घटक बनाये रखना चाहिए ताकि असन्तोष उत्पन्न ही न हो सके। इसी प्रकार, प्रबन्धकों को संस्था के भीतर अभिप्रेरक या सन्तोषदायी धटक भी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध करने चाहिए ताकि कर्मचारी सन्तुष्ट एवं अभिप्रेरित हो।

हर्जबर्ग की द्विघटक आरोग्य विचारधारा के पक्ष में तक्र :

1. यह विचारधारा कर्मचारी को कार्य पर बनाये रखने वाले या सन्तोष के स्तर को बनाये रखने वाले घटकों तथा सन्तोष में वृद्धि करने वाले घटकों या अभिप्रेरक घटकों के बीच स्पष्ट अन्तर करती ह।
2. यह विचारधारा कार्य संरचना में कार्य–समृद्धि के महत्व को भी स्पष्ट करती है।
3. यह अभिप्रेरणा की विवेकपूर्ण विचारधारा है जो कारण एवं परिणाम का स्पष्टीकरण प्रस्तुत करती है।
4. यह विचारधारा कार्य की प्रकृति एवं कार्य की सन्तुष्टि से अभिप्रेरण के स्तर पर पड़ने वाले प्रभावों को स्पष्ट करती है।
5. यह विचारधारा तक्रसंगत निष्कर्ष प्रस्तुत करती है, क्योंकि यह प्रयोगात्मक शोधों पर आधारित है।
6. यह विचारधारा कर्मचारियों को अभिप्रेरित करने के लिए ठोस उपायों का सुझाव देती है।

सीमाएँ अथवा आलोचनाएँ :

इस विचारधारा की कुछ प्रमुख आलोचनाएँ निम्नलिखित है–

1. यह विचारधारा कर्मचारियों की बहुत ही सीमित संख्या (200 कर्मचारियों) पर शोध के आधार पर विकसित की गई है। अतः इससे प्राप्त निष्कर्षो से कुछ भी सामान्यीकरण करना उचित नहीं है।
2. यह विचारधारा काफी संकुचित है, क्योंकि यह अभिप्रेरण की विषय–वस्तु के समस्त पहलुओं पर

विचार नहीं करती है।

3. इसमें बताए गए दो प्रकार के घटकों के मध्य अन्तर करना एवं समझना कठिन है, क्योंकि एक व्यक्ति के लिए जो आरोग्य घटक है, वही दूसरे व्यक्ति के लिए अभिप्रेरक घटक हो सकते है। अतः ऐसा वर्गीकरण अव्यावहारिक है।

4. यह विचारधारा इस मान्यता पर आधारित है कि आरोग्य घटक अभिप्रेरित नहीं करते, केवल अभिप्रेरक घटक ही अभिप्रेरित करते हैं, किन्तु आलोचकों का कहना है कि दोनों ही प्रकार के घटक अभिप्रेरित करते हैं। वास्तव में, विकासशील देशों तथा प्रबन्ध के निचले स्तरों पर आरोग्य तत्व भी अभिप्रेरणा प्रदान करते हैं।

5. इस विचारधारा की आलोचना इसलिए भी कि जाती है कि वास्तविक जीवन में सन्तुष्टि एवं कार्य निष्पादन में कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता है। व्यवहार में अनेक व्यक्ति ऐसे मिल जायेंगे जो अपने कार्य से तो सन्तुष्ट है, परन्तु उनका कार्य निष्पादन परिणाम बहुत अच्छा नहीं है।

6. यह भी आरोप है कि सभी अभिप्रेरक घटकों पर समुचित ध्यान नहीं दिया गया है। यहाँ तक कि पदोन्नति एवं पारस्परिक सम्बन्धों और अच्छे वेतन को अभिप्रेरक तत्वों में सम्मिलित नहीं किया गया है।

7. यह विचारधारा केवल प्रबधंकीय स्तर के कर्मचारियों पर लागू होती है, सामान्य कर्मचारियों अथवा श्रमिकों पर नहीं।

8. इस विचारधारा ने अभिप्रेरणा एवं सन्तुष्टि का सम्बन्ध अत्यधिक सरल बना दिया है, जबकि वास्तव में ऐसा नहीं है।

9. यह विचारधारा किसी व्यक्ति के निष्पादन स्तर की अपेक्षा 'सन्तुष्टि' अथवा असन्तुष्टि पर ही अधिक ध्यान देती है।

उपर्युक्त आलोचनाओं के बावजूद भी यह स्वीकार किया जाता है कि हर्जबर्ग की द्विघटक आरोग्य विचारधारा अभिप्रेरण में कार्य केन्द्रित घटकों की ओर ध्यान आकर्षित करती है और श्रेष्ठतम विचारधाराओं में गिनी जाती है। यह विचारधारा कर्मचारी अभिप्रेरण को समझने हेतु महत्वपूर्ण अर्न्तदृष्टि प्रदान करती है और अभिप्रेरण के लिए कार्य सम्पन्नता एवं कार्य की पुनर्रचना पर पर्याप्त ध्यान भी देती है।

मैस्लो एवं हर्जबर्ग सिद्धान्तों की तुलना और सम्बन्ध

मैस्लो और हर्जबर्ग दोनों ने मानवीय आवश्यकताओं की पहचान करके अभिप्रेरण के सामान्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। दोनों विचारधाराओं में कोई खास विरोधाभास नही है और एक दूसरे के पूरक हैं। मैस्लो की शारीरिक, सुरक्षात्मक और सामाजिक आवश्यकताओं को हर्जबर्ग ने आरोग्य घटकों की श्रेणी में रखा है जबकि विकास की आवश्यकता अभिप्रेरक है। हर्जबर्ग ने मैस्लो की स्वाभिमान आवश्यकताओं (आत्म–सम्मान आत्म–विश्वास, स्वायत्तता, प्रतिष्ठा,शक्ति और मान्यता आदि) के कुछ

भागों को अभिप्रेरकों में कुछ भाग को आरोग्य घटकों में शामिल किया है। वास्तव में, दोनों सिद्वान्त समान मान्यताओं पर आधारित हैं कि मानव व्यवहार मानवीय आवश्यकताओं से संचालित होता है। दोनों सिद्वान्त व्यक्तिगत व्यवहार जो समय और स्थान पर बदलते रहते है, का अभिप्रेरण पर प्रभाव स्पष्ट नहीं करते हैं। इन दोनों ही सिद्वान्तों ने अभिप्रेरण प्रक्रिया को अति सरलीकृत करके आवश्यकता को ही अभिप्रेरण का आधार माना है। मैस्लो एवं हर्जबर्ग की विचारधाराओं का सावधानीपूर्वक, गहन अध्ययन एवं विश्लेषण किया जाए तो इन दोनों में निम्नलिखित समानाताएँ विद्यमान हैं–

1. दोनों ही विचारधाराएँ मानवीय आवश्यकताओं पर आधारित हैं। मैस्लो ने आवश्यकताओं को प्रत्यक्ष रूप में आधार माना है, जबकि हर्जबर्ग ने अप्रत्यक्ष रूप में।
2. दोनों ही विचारधाराएँ अभिप्रेरण की तकनीकों व साधनों का वर्णन करती हैं।
3. दोनों ही विचारधाराएँ इस मान्यता पर आधारित हैं कि आवश्यकताएँ वे प्रेरक शक्ति हैं, जो व्यक्ति को कुछ करने के लिए प्रेरित करती हैं।
4. दोनों ही विचारधाराएँ मनोवैज्ञानिक विश्लेषण पर आधारित हैं।
5. दोनों ही विचारधाराएँ आवश्यकताओं की सन्तुष्टि पर आधारित हैं।
6. दोनों ही विचारधाराएँ प्रबन्ध जगत में व्यावहारिक एवं लोकप्रिय रही हैं।
7. दोनों ही विचारधाराएँ अभिप्रेरण में व्यक्तिगत भिन्नताओं को स्पष्ट करने में भी असफल रही हैं।
8. मैस्लो ने पाँच वर्गो में आवश्यकताओं का वर्गीकरण किया है जबकि हर्जबर्ग ने दो वर्गो में आवश्यकताओं को वर्गीकृत किया है किन्तु इनमें सभी आवश्यकताएं सम्मिलित हैं। मैस्लो द्वारा वर्गीकृत प्रथम तीन आवश्यकताएं (शारीरिक, सुरक्षात्मक सामाजिक तथा कुछ अंहकारी आवश्यकताएं) हर्जबर्ग के आरोग्य तत्वों में आ जाती है। इसी प्रकार मैस्लो के वर्गीकरण की शेष आवश्यकताएं (कुछ अहंकारी तथा आत्म–विकास की आवश्यकताएँ) हर्जबर्ग के अभिप्रेरक तत्वों में निहित हैं।

मैस्लो एवं हर्जबर्ग की विचारधाराओं में असमानताएँ

1. मैस्लो का मत है कि आवश्यकताओं में क्रमबद्वता पायी जाती है और निम्नस्तरीय आवश्यकताओं की सन्तुष्टि होने पर उच्चस्तरीय आवश्यकताएं जागृत और सक्रिय हो जाती हैं। हर्जबर्ग के अनुसार, आवश्यकताओं में ऐसी कोई क्रमबद्धता नहीं होती है और सभी आवश्यकताएँ हर समय सक्रिय रहती हैं। मैस्लो ने आवश्यकताओं को पॉच भागों में बाँटा है, जबकि हर्जबर्ग ने दो में।
2. मैस्लो का विचार था कि किसी भी आवश्यकता की सन्तुष्टि कर्मचारी को अभिप्रेरित करती है, परन्तु हर्जबर्ग का मानना है कि मात्र कार्य–विषय वस्तु वाली आवश्यकताएं जैसे–उपलब्धि, मान्यता, उन्नति, संवृद्धि और कार्य–स्वयं ही कर्मचारी को अभिप्रेरित करते हैं। कार्य सन्दर्भ घटक जैसे–

संगठनात्मक नीतियां, पर्यवेक्षण, कार्यशील दशाएँ के वेतन और कार्य सुरक्षा कर्मचारी को अभिप्रेरित नहीं करते हैं।

3. मैस्लो की विचारधारा को सामान्य कार्यकर्ता, उच्चस्तरीय प्रबधंक, अविकसित देश और विकसित देश सब पर लागू किया जा सकता है। इसके विपरीत, हर्जबर्ग का परीक्षण विकसित देशों और उच्च पदस्थ व्यक्तियों पर क्रियाशील होता है।
4. मैस्लो का सिद्वांत अधिक वर्णनात्मक है जबकि हर्जबर्ग का सिद्वांत निदानात्मक है।
5. मैस्लो ने वेतन, पद, पारस्परिक सम्बन्धों आदि को अभिप्रेरक तत्व माना है जबकि हर्जबर्ग ने इन्हें प्रेरक तत्व नही माना है।
6. मैस्लो के अनुसार एक बार सन्तुष्ट आवश्यकता बार–बार कर्मचारी को अभिप्रेरित नही करती, बल्कि अभिप्रेरण के लिए दूसरी आवश्यकता को सन्तुष्ट करना होगा। हर्जबर्ग ने अभिप्रेरण के लिए उन्हीं तत्वों का बार–बार सहारा लेने को कहा है।

15.5.3 मैकग्रेगर का 'एक्स' तथा 'वाई' सिद्वान्त

कर्मचारी अभिप्रेरण हेतु अमेरिकी विद्वान डगलस मैकग्रेगर की दो विचारधाराएं हैं जिन्हें एक्स सिद्वान्त और वाई सिद्वान्त के नाम से जाना जाता है । इन दोनों विचारधाराओं की मेकग्रेगर में अपनी पुस्तक **'उद्यम के मानवीय पक्ष'** में व्याख्या किया हैं। वे लम्बे समय तक अमेरिका के मीशीगन विश्वविद्यालय में प्रबन्ध विज्ञान के प्रोफेसर पर पर कार्यरत रहे, उन्होंने उपक्रम में मानवीय तत्व को महत्वपूर्ण मानते हुए श्रमिकों को दो वर्गो में विभक्त किया। उनके अनुसार कुछ श्रमिक ऐसे होते हैं जो काम नही करना चाहते है और कुछ श्रमिका ऐसे होते हैं जो स्वयं ही कार्य करने को तत्पर रहते हैं बशर्ते कि, उनको उपयुक्त वातावरण प्रदान किया जाए। जो श्रमिक काम नहीं करना चाहते, आलसी होते है और काम से जी चुराने की प्रवृत्ति होती है, उन्हें प्रेरित करने के लिए मैकग्रेगर ने एक्स सिद्वान्त का प्रतिपादन किया। दूसरी श्रेणी के श्रमिक जो काम करने को इच्छुक होते होते है और आगे बढ़ना चाहते है उन्हें अभिप्रेरित करने के लिए मैकग्रेगर ने वाई सिद्वान्त का प्रतिपादन किया। मैकग्रेगर ने अपनी पुस्तक और शोध पत्रों के माध्यम से पेशेवर प्रबन्धकों को यह पथ प्रदर्शित किया कि श्रमिकों में विभेदता होने के कारण उनकी सामाजिक, मानसिक और भावनात्मक मान्यताऍ अलग–अलग होती हैं अतः श्रमिकों को एक ही उपाय से अभिप्रेरित नहीं किया जा सकता।

एक्स विचारधारा– यह नकरात्मक विचारधारा होने के कारण कर्मचारियों पर कठोर नियंत्रण की बात करता हैं। इस विचारधारा की विशेषताएं निम्नवत हैं:

1. एक सामान्य व्यक्ति आलसी होता है। वह काम करना पसन्द नहीं करता है तथा काम को टालना चाहता है । वह जितना सम्भव हो, कम से कम काम करना चाहता है।
2. सामान्यतः कर्मचारी काम करना नहीं चाहते हैं, अतः उन्हें काम करने हेतु बाध्य करने के लिए

प्रताड़ित करना, भय दिखाना, दण्ड देना चा नियन्त्रित करना पड़ता है।

3. एक सामान्य व्यक्ति में आकांक्षा या अभिलाषा की कमी पायी जाती है एवं वह जिम्मेदारी से बचना चाहता है तथा दूसरों के निर्देशन में ही कार्य करना पसन्द करता है।

4. एक सामान्य व्यक्ति अपेक्षाकृत कम महत्वाकांक्षी होता है। वह केवल कार्य सुरक्षा या रोजगार की गारण्टी चाहता है।

5. अधिकांश व्यक्ति संगठनात्मक समस्याओं के समाधान हेतु सीमित क्षमता रखते है अर्थात सृजनात्मक क्षमता का अभाव होता है।

6. जीवन निर्वाह एवं सुरक्षा आवश्यकताओं के लिए अधिकांश व्यक्तियों को अभिप्रेरण की आवश्यकता होती है।

7. अधिकांश व्यक्तियों पर पर्याप्त नियन्त्रण की आवश्यकता होती है।

8. अधिकांश व्यक्तियों को संगठनात्मक उद्देश्यों से कोई सरोकार नहीं होता है।

उपर्युक्त विशेषताओं के अनुसार, यह विचारधारा इस बात पर बल देती है कि प्रबन्धकों को कर्मचारियों को निर्देशित करना चाहिए, उन पर कठोर नियन्त्रण रखना चाहिए और उनकी क्रियाओं का पर्याप्त पर्यवेक्षण करना चाहिए। साथ ही, कर्मचारियों को अभिप्रेरित करने के लिए मौद्रिक एवं अमौद्रिक तथा सकारात्मक एवं नकारात्मक अभिप्रेरण विधियों का सहारा लेना ही प्रबन्धकों के लिए श्रेयकर होता है। इस प्रकार यह विचारधारा निरंकुश प्रबन्धकीय शैली का प्रतिनिधित्व करती है और मानवीय व्यवहार को किसी भी प्रकार करने के लिए वाई विचारधारा का विकास किया।

आलोचनाएँ–इस विचारधारा की प्रमुख कमियाँ निम्नानुसार हैं–

1. यह विचारधारा मानव व्यवहार के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण अपनाती है। यह मानवीय प्रतिष्ठा पर आघात करती है।
2. यह मानवीय आवश्यकताओं व भावनाओं को नकारती है।
3. यह साधनों को उपयोग में लाने का उत्तरदायित्व प्रबन्धकों पर डालती है।
4. यह भय एवं दण्ड के आधार पर कर्मचारियों से काम लेती है।
5. यह प्रबन्धकों को निरंकुश बनने की प्रेरणा देती है।
6. यह विचारधारा मानव के बाह्य स्वरूप पर ही बल देती है, उसके अन्तर्मन को नकारती है।
7. इस विचारधारा ने मनुष्य को केवल आर्थिक मनुष्य ही मान लिया है, जो ठीक नहीं है।
8. यह मानव व्यवहार की परम्परागत अवधारणा पर आधारित है, अतः वर्तमान युग में अव्यावहारिक

है।

इस विचारधारा की मान्यताओं एवं निष्कर्षो को स्वयं मैकग्रेगर ने स्वीकार नहीं किया। उनके अनुसार, कठोर नियन्त्रण द्वारा व्यक्तियों को अभिप्रेरण करने का तरीका न तो व्यावहारिक ही है, न ही न्यायसंगत। यह विचारधारा उस स्थिति में बिल्कुल महत्वहीन है, जबकि एक व्यक्ति अपनी प्राथमिक आवश्यकताओं जैसे–शारीरिक एवं सुरक्षा आवश्यकताओं को सन्तुष्ट कर चुका है।

वाई विचारधारा : वाई विचारधारा उपर्युक्त वर्णित 'एक्स' विचारधारा के बिल्कुल विपरीत है। यह विचारधारा यह मानकर चलती है कि मनुष्य अपनी प्रकृति से आलसी और कामचोर नहीं होते। वे स्वयं निर्देशित होते हैं और यदि उचित रूप से अभिप्रेरित किया जाए तो वे कार्य के प्रति सकारात्मक रूख रखते हैं। अतः प्रबन्धकों का यह मुख्य कार्य है कि वह कर्मचारियों में इस छिपी हुई शक्ति को विकसित करे। प्रबन्धकों का यह मुख्य कार्य है कि वह कर्मचारियों में इस छिपी हुई शक्ति को विकसित करे। प्रबन्धक पर्याप्त अभिप्रेरण के माध्यम से कर्मचारियों को अपने लक्ष्यों की प्राप्ति की ओर अग्रसर कर सकता है। संक्षेप में, यह विचारधारा निम्नलिखित विशेषताओं पर आधारित है–

1. सामान्यतः कोई भी व्यक्ति काम को नापसन्द नहीं करता है या कामचोर नहीं होता है। प्रत्येक व्यक्ति काम को उतना ही सहज एवं स्वाभाविक रूप से लेता है जैसे– वह खेलकूद, आराम या मनोरंजन की क्रियाओं को लेता है, परन्तु शर्त यह है कि संस्था में कार्य करने का उचित वातावरण हो एवं उसे कार्य करने का अवसर दिया जाना चाहिए।
2. जब कर्मचारी कार्य के लिए प्रतिबद्व हो जाते हैं तो वे स्वयं अपना निर्देशन एवं नियन्त्रण कर लेते हैं बाहरी नियन्त्रणों जैसे अनुशासन, भय एवं दण्ड से कार्यो को नही करवाया जा सकता है।
3. सामान्यतः व्यक्ति यह सोचते हैं कि कार्य के लिए प्रतिबद्व होने के कारण ही उन्हें पुरस्कार मिलेगा।
4. उचित परिस्थितियों में एक औसत व्यक्ति न केवल उत्तरदायित्वों का निर्वाह करना वरन् उन्हें करना भी सीख लेता है । उत्तरदायित्व को टालना, महत्वाकांक्षा का अभाव तथा सुरक्षा पर बल देना सामान्य रूप से अनुभव के परिणाम हैं, ये मानव के जन्मजात गुण नहीं होते हैं।
5. संगठनात्मक समस्याओं के समाधान के लिए कल्पनाशीलता, सृजनात्मक एवं कार्य कुशलता के उपयोग की क्षमता केवल कुछ व्यक्तियों में ही नही होती है, वरन् समस्त व्यक्तियों में व्यापक रूप में पायी जाती है ।
6. व्यक्तियों में अभिप्रेरण सामाजिक प्रतिष्ठा तथा आत्म–विकास के स्तरों पर ही घटित नहीं होता है बल्कि इनके साथ–साथ शारीरिक एवं सुरक्षा स्तरों पर भी कर्मचारी अभिप्रेरित होते हैं।
7. वर्तमान औद्योगिक दशाओं में, औसत मानव की बौद्विक क्षमताओं का केवल आंशिक उपयोग ही किया जा रहा है।

मूल्यांकन–'वाई' विचारधारा मानव व्यवहार के प्रति एक नवीन दृष्टिकोण प्रदान करती है। यह

प्रबन्धकों को कर्मचारियों की क्षमताओं एवं उनके व्यवहार के प्रति सकारात्मक रूख अपनाने पर जोर देती है। यह संस्थागत एवं वैयक्तिक लक्ष्यों को एक मानती है तथा कर्मचारियों पर न्यूनतम नियन्त्रण एवं निर्देशन रखने पर बल देती है। इस विचारधारा के प्रमुख गुण निम्न प्रकार हैं–

1. यह मानव को विवेकशील एवं सृजनशील मानती है।
2. यह मानव के सम्मान एवं महत्व को स्वीकार करती है।
3. यह सस्था के एवं वैयक्तिक लक्ष्यों में एकीकरण करती है।
4. यह संस्था में जनतान्त्रिक व्यवस्था को प्रोत्साहित करती है।
5. यह आत्म–नियन्त्रण एवं स्वतः निर्देशन के महत्व को स्वीकार करती है।
6. यह मनुष्य के समग्र रूप पर ध्यान देती है। यह उसके आर्थिक पहलू को ही नहीं, वरन् सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक आयाम पर भी विचार करती है।

कुछ लोग इस विचारधारा की आलोचना भी करते हैं। उनके अनुसार यह कोई नवीन विचारधारा नहीं है। यह व्यक्ति पर बहुत अधिक दायित्व डाल देती है। यह उसे स्व–विवेक से प्रेरित मानती है। यह व्यक्ति को बहुत अधिक सृजनशील मानती है। प्रायः मानवीय क्षमताओं एवं सृजनशीलता का उपयोग करने के लिए उपयुक्त वातावरण का निर्माण करना बहुत कठिन होता है। मैकग्रेगर का मत है कि प्रबन्धकों को इन दोनों विचारधाराओं की मान्यताओं के आधार पर व्यक्तियों के स्वभाव, लक्षणों एवं व्यवहार का अध्ययन एवं अवलोकन करके अभिप्रेरण की उचित विधि अपनानी चाहिए।

'X' विचारधारा एवं 'Y' विचारधारा में अन्तर

क्र0 सं0	अन्तर का आधार	'X' विचारधारा	'Y' विचारधारा
1	प्रकृति	यह अभिप्रेरणा की पुरातन या परम्परागत विचारधारा है।	यह अभिप्रेरणा की नवीन विचारधारा है।
2	मानव व्यवहार के सम्बन्ध में विचार	यह विचारधारा मानव व्यवहार के सम्बन्ध में निराशावादी एवं नकारात्मक विचार प्रस्तुत करती है।	यह विचारधारा मानव व्यवहार के सम्बन्ध में आशावादी एवं सकारात्मक विचार प्रस्तुत करती है।
3	कार्य के प्रति मानवीय दृष्टिकोण	यह विचारधारा मानती है कि एक सामान्य व्यक्ति कामचोर है। वह काम से बचना चाहता	यह विचारधारा यह मानती है कि एक सामान्य व्यक्ति काम को उतना ही सहज रूप से

		है।	करना चाहता है, जैसे कि वह खेलना, मनोरंज एवं आराम करना चाहता है।
4	निर्देशन	यह विचारधारा मानती है कि सामान्यतः लोग दूसरों से आदेश–निर्देश प्राप्त करना चाहते है।	यह विचारधारा मानती है कि यदि लोग अपने कार्य के लिए प्रतिबद्व है तो वे सामान्यतः आत्म–निर्देशन एवं आत्म–निरीक्षण पसन्द करते है।
5	कार्य करने का तरीका	इस विचारधारा की यह मान्यता है कि भय दिखाकर या भौतिक पुरस्कार प्रदान कर व्यक्ति से काम लिया जा सकता है।	यह विचार धारा की मान्यता है कि व्यक्ति को स्वयं विकास का अवसर प्रदान कर उससे काम कराया जा सकेगा।
6	दायित्व	यह विचारधारा मानती है कि लोग सामान्यतः उत्तरदायित्व से बचना चाहते है।	यह विचारधारा मानती है कि लोग दायित्व स्वीकार ही नहीं करते, बल्कि अधिक दायित्वों की माँग भी करते है।
7	सृजनशीलता एवं परिवर्तन	यह विचारधारा मानती है कि सामान्यतः लोगों में सृजनशीलता नहीं होती है। अतः परिवर्तन का विरोध करते है।	यह विचारधारा मानती है कि सामान्यतः लोग सृजनशील होते है। अतः वे परिवर्तन को स्वीकार करने हेतु तत्पर होते है।
8	आवश्यकताओं पर ध्यान	यह विचारधारा मानव की निम्नस्तरीय आवश्यकताओं अर्थात शारीरिक एवं सुरक्षा सम्बन्धी आवश्यकताओं पर ध्यान केन्द्रित करती है	यह विचारधारा मानव की उच्चस्तरीय आवश्यकताओं अर्थात सामाजिक स्वाभिमान तथा आत्म–विकास की आवश्यकताओं पर ध्यान केन्द्रित करती है।
9	नेतृत्व शैली	यह विचारधारा निरंकुश नेतृत्व का प्रतिनिधित्व करती है।	यह विचारधारा प्रजातान्त्रिक नेतृत्व का प्रतिनिधित्व करती है।
10	प्रेरणाओं का महत्व	यह विचारधारा अभिप्रेरणा हेतु वित्तीय प्रेरणाओं के महत्व को रेखांकित करती है।	यह विचारधारा अभिप्रेरणा हेतु गैर–वित्तीय प्रेरणाओं के महत्व को रेंखाकित करती है।
11	उपयुक्तता	यह विचारधारा अशिक्षित या	यह विचारधारा शिक्षित,

		चातुर्यहीन या संवेदनशील निम्नस्तरीय कर्मचारियों की अभिप्रेरणा के लिए उपयोगी हो सकती है।	कौशलयुक्त एवं संवेदनशील कर्मचारियों की अभिप्रेरणा के लिए उपयोगी है।

15.6 सारांश

अभिप्रेरण को अंग्रेजी में Motivation कहते हैं। इस शब्द की उत्पत्ति अंग्रेजी के Motive शब्द से हुई है जिसका शाब्दिक अर्थ इच्छा शक्ति को जागृत करना हैं। इस प्रकार अभिप्रेरण से तात्पर्य उस शक्ति से है जो व्यक्तियों में काम करने की इच्छा जागृत करती है। दूसरे शब्दों में अभिप्रेरण वह मनोवैज्ञानिक उत्तेजना है जो व्यक्तियों/कर्मचारियों को कार्य करने के लिए प्रोत्साहित करती है, कार्य पर बनाए रखती है और उन्हें अधिकतम सन्तुष्टि प्रदान करती है।

माइकल जे0 जुसियस के अनुसार, ''अभिप्रेरण स्वयं को या किसी अन्य व्यक्ति को इच्छित कार्य करने हेतु प्रोत्साहित करने की क्रिया है अथवा एक वांछित प्रतिक्रिया प्राप्त करने के लिए सही बटन दबाना है।''

संस्था में कर्मचारियों को वित्तीय तथा अवित्तीय विधि द्वारा अभिप्रेरित किया जाता है। वित्तीय प्रेरणाएँ वे हैं जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मुद्रा से सम्बन्धित होती हैं। जिसमें वेतन, मजदूरी, बोनस, सेवा निवृत्ति लाभ, लाभ विभाजन, छुट्टियों का वेतन, जीवन बीमा, निःशुल्क चिकित्सा सेवा आदि को सम्मिलित किया जाता है।अवित्तीय प्रेरणाएँवे हैं जो प्रत्यक्ष रूप से मुद्रा से सम्बन्धित नहीं होती हैं। ये अभिप्रेरणाएँ मनोवैज्ञानिक हैं जो कि कर्मचारियों की आन्तरिक भावनाओं से सम्बन्ध रखती हैं।

अभिप्रेरण विचारधाराएँ अथवा सिद्धान्तों में मैस्लों ने आवश्यकता क्रमबद्धता का सिद्धान्त, हर्जबर्ग ने द्विघटन अरोग्य विचारधारा तथा मैकग्रेगर ने एक्स तथा वाई सिद्धान्त दिया है। मैस्लो ने व्यक्तियों को अभिप्रेरित होने या करने के लिए उनके आवश्यकताओं को पाँच भागों में विभाजित किया है – (1) शारीरिक, (2) सुरक्षा, (3) सामाजिक, (4) आत्म– सम्मान, तथा (5) आत्म – विकास। हर्जबर्ग ने अभिप्रेरणा को दो घटकों में विभाजित किया है – (1) आरोग्य/स्वास्थ्य या पोषक घटक और (2) अभिप्रेरणा या सन्तोषदायी घटक। मैकग्रेगर का एक्स विचारधारा नकरात्मक विचारधारा होने के कारण कर्मचारियों पर कठोर नियंत्रण की बात करता है, जबकि वाई विचारधारा एक्स की विपरीत विचारधारा है जो सकारात्मक रूख रखता है।

15.7 महत्वपूर्ण शब्दावली

- **अभिप्रेरण** –अभिप्रेरण वह मनोवैज्ञानिक उत्तेजना है जो कर्मचारियों को कार्य करने के लिए प्रोत्साहित करती है, कार्य पर बनाए रखती है और उन्हें अधिकतम सन्तुष्टि प्रदान करती है।

- **वित्तीय प्रेरणाएँ** –वित्तीय प्रेरणाएँ वे हैं जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मुद्रा से सम्बन्धित होती हैं।
- **अवित्तीय प्रेरणाएँ** –अवित्तीय प्रेरणाएँवे हैं जो प्रत्यक्ष रूप से मुद्रा से सम्बन्धित नहीं होती हैं।
- **आरोग्य/स्वास्थ्य घटक** –आरोग्य घटकों का सम्बन्ध कार्य वातावरण से होता है तथा ये कार्य के बाह्रा घटक होते है। ये कर्मचारी की कार्यक्षमता को बनाये रखते हैं, अतः इन्हें अनुरक्षण तत्व भी कहा जाता है।
- **अभिप्रेरण घटक** –ये कार्य से सम्बन्धित घटक होते हैं। ये व्यक्ति को अधिक एवं अच्छा कार्य करने के लिए प्रेरित करते हैं। इन्हें सन्तुष्टि प्रदान करने वाले तत्व भी कहा जाता है।
- **एक्स विचारधारा** – एक्स विचारधारा नकारात्मक विचारधारा है। जो श्रमिक काम नहीं करना चाहते, आलसी होते है और काम से जी चुराने की प्रवृत्तिा होती है, उन्हें प्रेरित करने के लिए इस विचारधारा का प्रयोग किया जाता है।
- **वाई विचारधारा** – यह विचारधारा एक्स के विपरीत सकारात्मक विचारधारा है। श्रमिक जो काम करने के इच्छुक होते है और आगे बढ़ना चाहते है, उन्हें अभिप्रेरित करने के लिए वाई विचारधारा का प्रयोग किया जाता है।

15.8 आवश्यक प्रश्न

1. अभिप्रेरण की अवधारणा को समझाइये तथा अभिप्रेरणा को प्रभावित करने वाले घटकों का उल्लेख कीजिये। अभिप्रेरण के 'एक्स' एवं 'वाई' सिद्धान्त को संक्षेप में लिखिये।
2. अभिप्रेरणा से आप क्या समझते हैं ? इस सम्बन्ध में डगलस मैकग्रेगर के विचारों का आलोचनात्मक मूल्याँकन कीजिए।
3. मैस्लो तथा हर्जबर्ग द्वारा दी गई अभिप्रेरणा विचारधाराएँ समझाइये। उनकी समानताएँ एवं अन्तर भी बताइये।
4. अभिप्रेरणा का विवेचन कीजिये तथा अभिप्रेरणा के मैस्लो सिद्धान्त को भी समझाइये।
5. 'अभिप्रेरणा' से आप क्या समझते है ? इस सम्बन्ध में मैस्लो द्वारा प्रतिपादित आवश्यकताओं के क्रमबद्धता सिद्धान्त की विवेचना कीजिए।
6. वित्तीय एवं अवित्तीय प्रेरणाओं में अन्तर कीजिए। ऐसी कुछ अवित्तीय प्रेरणाओं को समझाइये जिन्हें कर्मचारियों को प्रदान किया जा सकता है।

कुछ उपयोगी पुस्तकें

- प्रबन्ध के सिद्धान्त एस के सिंह प्रयाग पुस्तक भवन इलाहाबाद 2006
- व्यावसायिक प्रबन्ध ओ. पी. राय बी. के. सिंह वैभवसम्मी प्रकाशन, वाराणासी, 2012
- औद्योगिक संगठन एवं प्रबन्धन, आर.सी. गुप्ता, साहित्य भवन पब्लिकेशन आगरा, 2003
- व्यवसायिक संगठन, जगदीष प्रकाश, प्रयाग पुस्तक भवन, 2014
- औद्योगिक प्रबन्ध, जे.के. जैन, प्रतीक प्रकाशन आगरा, 2001

इकाई– 16 नेतृत्व

इकाई की रूपरेखा

16.0 उद्देश्य

16.1 प्रस्तावना

16.2 नेतृत्व का अर्थ एवं अवधारणा

16.3 नेतृत्व के कार्य

16.4 प्रबंधकीय नेतृत्व का महत्व

16.5 नेतृत्व की शैलियों के प्रकार

16.6 नेतृत्व की विचारधाराएं

16.7 प्रभावी नेता के लक्षण

16.8 मनोबल का अर्थ

16.9 मनोबल का महत्त्व

16.10 मनोबल को निर्धारित करने वाले तत्त्व

16.11 मनोबल एवं नेतृत्व में संबंध

16.12 सारांश

16.13 महत्वपूर्ण शब्दावली

16.14 आवश्यक प्रश्न

16.0 प्रस्तावना

अभिप्रेरण और सन्देशवाहन की ही भांति नेतृत्व भी निर्देशन का एक अति महत्वपूर्ण पहलू है। किसी भी संस्था की सफलता या असफलता काफी हद तक नेतृत्व की किस्म पर निर्भर करती है। अगर कर्मचारियों की क्रियाओं का सही और प्रभावी ढंग से मार्गदर्शन किया जाए तो कोई भी कारण ऐसा नहीं होगा जिसकी वजह से संस्था को असफलता का सामना करना पड़े। एक कुशल नेतृत्व किसी उपक्रम को अंधेरे से उजाले में ले जाता है तथा पग–पग पर आने वाली कठिनाइयों पर विजय पाते हुए प्रगति व सफलता के मार्ग पर आगे ले जाता है। प्रबन्धकीय सफलता का रहस्य वस्तुतः नेतृत्व में

ही निहित होता है।

16.1 उद्देश्य

इस अध्याय के अध्ययन से आप निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर दे पायेंगे।

- ❖ नेतृत्व के लक्षणों की संक्षेप में व्याख्या कीजिए
- ❖ नेतृत्व के गुणमूलक विचारधारा की आलोचना सहित बताइए।
- ❖ नेतृत्व की प्रकृति की व्याख्या कीजिए।
- ❖ मनोबल एवं नेतृत्व में संबंध की व्याख्या कीजिए।
- ❖ मनोबल का अर्थ से आप क्या समझते हैं?
- ❖ नेतृत्व के पथ लक्ष्य विचारधारा की व्याख्या कीजिए।

16.2 नेतृत्व का अर्थ एवं अवधारणा

सामान्यतया नेतृत्व से तात्पर्य किसी व्यक्ति विशेष के उस गुण से है जिसके माध्यम से वह अनुयायियों का मार्गदर्शन करता है तथा नेता के रूप में उनकी क्रियाओं का निर्देशन करता है। एक नेता के पीछे उसके अनुयायियों का एक समूह होता है जो उसके निर्देशन के अनुरूप कार्य करते है। नेतृत्व वह क्षमता है जिसके द्वारा अनुयायियों का समूह वांछित कार्य स्वेच्छापूर्वक एवं बिना दबाव के कार्य करता हैं। एक शक्तिशाली नेतृत्व अपने अनुयायियों को कार्य–निष्पादन हेतु प्रोत्साहित करता हैं। नेतृत्व की प्रमुख परिभाषाएं इस प्रकार है –

1. **सामाजिक विज्ञान के भाब्दकोश के अनुसार**, ''नेतृत्व का आशय किसी व्यक्ति एवं वर्ग के मध्य ऐसे सम्बन्ध से है जिससे कि सामान्य हित के लिए दोनों परस्पर मिल जाते हैं तथा अनुयायियों का समूह उस अपने नेता के निर्देशानुसार ही कार्य करता हैं।''
2. **चेस्टर आई0 बर्नार्ड के भाब्दों में,** ''नेतृत्व का आशय व्यक्ति के व्यवहार के उस गुण से है जिसके द्वारा वह अन्य लोगों को संगठित प्रयास से सम्बन्धित कार्य करने में मार्गदर्शन करता है।''
3. **कुण्ट्ज एवं ओ' डोनेल के मत में,** ''किसी लक्ष्य की प्राप्ति हेतु सन्देशवाहन के माध्यम द्वारा व्यक्तियों को प्रभावित कर सकने की योग्यता नेतृत्व कहलाती है।''
4. **जी0 आर0 टेरी के भाब्दों में,** ''नेतृत्व व्यक्तियों को स्वेच्छा से सामूहिक उद्देश्यों की ओर प्रेरित करने की प्रक्रिया है।''

5. **अल्फर्ड और बीटी के अनुसार,** ''नेतृत्व वह क्षमता है जिसके द्वारा अनुयायियों के किसी समूह से वांछित कार्य स्वेच्छापूर्वक एवं बिना किसी दबाव के प्राप्त किये जाते हैं।''

6. **लिविंग्स्टन के अनुसार,** ''नेतृत्व अन्य लोगों से किसी सामान्य उद्देश्य को अनुसरण करने की इच्छा के जागृत करने की योग्यता है।''

7. **डब्ल्यू0 जी0 वेनिस के भाब्दों में,** ''नेतृत्व एक अधीनस्थ को वांछित ढंग से व्यवहार करने को प्रेरित करने की प्रक्रिया है।''

संक्षेप में, नेतृत्व से आशय ऐसी क्षमता से है जिसके द्वारा कोई व्यक्ति अपने प्रभाव से अनुयायियों को प्रभावित करता है, उनका मार्गदर्शन करता है और उन्हें निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए कार्य करने के लिए प्रोत्साहित करता है।

नेतृत्व के प्रमुख लक्षण व विशेषताएं निम्न है। जिससे इसकी अवधारणा स्पष्ट होती हैं।

(1) अनुयायियों की विद्यमानता– अनुयायियों की उपस्थिति के बिना नेतृत्व की कल्पना हास्यास्पद है। नेतृत्व शून्यता में तो सम्भव ही नहीं है, नेता के पीछे अनुयायी होना अत्यावश्यक है। अनुयायियों की संख्या जितनी अधिक होगी, नेता का महत्व उतना ही अधिक होगा।

(2) अनुयायियों की स्वैच्छिक सहमति– नेता को अपने अनुयायियों में स्वाभाविक और स्वैच्छिक आज्ञापालन प्राप्त होना चाहिए। नेता का नेतृत्व तो अनुयायी स्वेच्छा से स्वीकारते हैं, अगर वे दबाव, भय या विवशता के कारण स्वीकार करते हैं तो यह तानाशाही कहलायेगी, नेतृत्व नहीं। अनुयायी अपने नेता को सम्मान, विश्वास, निष्ठा, समर्पण और श्रद्धा के कारण स्वीकार करते हैं।

(3) महत्वपूर्ण सामान्य हितों की उपस्थिति– नेता और उसके अनुयायियों के हितों की एकता होनी जरूरी होती है। कुछ ऐसे महत्वपूर्ण और सामान्य हित होने चाहिए जिसकी प्राप्ति में नेता और अनुयायी दोनों का स्वार्थ हो। यदि नेता का हित और अनुयायियों का हित भिन्न हो तो हितों एमें एकता व सामंजस्य के अभाव में नेतृत्व प्रभावी नहीं हो पाता है। नेतृत्व के लिए सामान्य हितों, उद्देश्यों, आदर्शों, दर्शनों और विश्वासों की उपस्थिति आवश्यक होती है। **जी0 आर0 टेरी** के शब्दों में, ''नेतृत्व पारस्परिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए लोगों को स्वेच्छा से प्रयत्न करने के लिए प्रभावित करने की क्रिया है।'' अतः आदर्श नेता को चाहिए कि वह संगठन के हित और व्यक्ति व वर्ग की आकांक्षाओं के मध्य व्यवहारिक समझौते को लाने का प्रयास करें। आदर्श नेता को अनुयायियों की व्यक्तिगत समस्याओं, आकांक्षाओं व आदर्शों को भी समझना पड़ता है।

(4) आदर्श आचरण - एल0 एफ0 उर्विक के शब्दों में, ''नेता के भाषण और उसके लेख अनुयायियों को उतना प्रभावित नहीं करते हैं जितना कि उसका चरित्र व आचरण।'' नेता कौन से कार्य

करता है और किस प्रकार का आचरण करता है, इन बातों का अनुयायियों पर गहरा प्रभाव पड़ता है। नेता अपने आचरण से ही अनुयायियों को प्रभावित करता है और मार्गदर्शन करता है। उसे अपने आचरण, परिश्रम, ईमानदारी, सत्यनिष्ठा, निःस्वार्थ भावना से अनुयायियों के समक्ष एक उच्च कोटि का आदर्श प्रस्तुत करना चाहिए। एक अधिकारी जो स्वयं कार्यालय देर से आता हो अपने अनुयायियों से ठीक समय पर आने की आशा नहीं कर सकता है। नेता की कथनी और करनीमें भी अन्तर नहीं होना चाहिए।

(5) अन्य– कुछ अन्य लक्षण निम्नांकित हैं –

(अ) नेता और अनुयायियों के पारस्परिक सम्बन्ध निष्क्रिय न होकर क्रियाशील होते है।

(ब) नेतृत्व एक निरन्तर चलने वाली गतिशील प्रक्रिया हैं।

(स) नेता को अपनी शक्तियों और दुर्बलताओं का सही–सही ज्ञान होना चाहिए, उसमें आत्म–बोध होना चाहिए और अपने बारे में कोई भ्रान्ति नहीं पालनी चाहिए।

(द) नेतृत्व परिस्थितियों के साथ परिवर्तनशील होना चाहिए, उसे निरंकुश न होकर जनतांत्रिक विधि से कार्य करना चाहिए।

(य) नेता को मानवीय व्यवहार के प्रति यथार्थवादी दृष्टिकोण रखना चाहिए और उसे कभी भी निराश नहीं होना चाहिए।

16.3 नेतृत्व के कार्य

नेतृत्व वास्तव में, एक प्रेरक शक्ति है जो नियत उद्देश्य की प्राप्ति हेतु लोगों को कार्य करने के लिए प्रेरित करती है। अनुयायियों का नेतृत्व करते समय निम्न कर्तव्यों और कार्यों को करना पड़ता हैः

(1) सहयोग प्राप्त करना - एक नेता के लिए नेतृत्व करते समय सबसे प्रमुख कार्य अपने अनुयायियों से भरपूर सहयोग प्राप्त करना है। यह सहयोग एवं सहानुभूति प्राप्त करने की कुछ प्रमुख शर्तें इस प्रकार होती है – (1) उपक्रम में कार्य करने वाले प्रत्येक कर्मचारी को नेता यह विश्वास दिलाए कि उपक्रम की सफलता में ही उनका भी हित निहित है। (2) नेता अपने अनुयायियों के साथ कार्य स्वयं परिश्रम से करते हुए अनुकरणीय उदाहरण रखें। (3) नेता को एक मनोवैज्ञानिक की तरह अपने अनुयायियों की इच्छाओं का पता लगाते रहना चाहिए और उनको यथासम्भव पूरा करना चाहिए। (4) नेता को अपने सहयोगियों से अपने प्रति नहीं वरन् एक सामान्य उद्देश्य हेतु सेवा भाव रखने को कहना चाहिए, जिससे कि वे केवल 'अनुसरणकर्ता' नहीं बल्कि 'सहकार्यकर्ता' भी बनना पसन्द करें।

(2) अगुआई करना -नेतृत्व का आवश्यक कार्य अगुआई करना है। नेता को जो कार्य अनुयायियों

से कराने की आशा हो, पहल करके पहले स्वयं उसे करना चाहिए। अनुयायी तो अपने नेता के आचरण से प्रभावित होता है, भाषण से नहीं। अगुआई के लिए नेता में दूरदृष्टि, पूर्वानुमान लगाने की क्षमता, प्रबल, इच्छाशक्ति, दृढ़ संकल्प, मूल्यों और लक्ष्यों में पक्का विश्वास, जोखिम उठाने की तत्परता, क्रियाओं के नियोजन एवं मार्गदर्शन की योग्यता जैसे गुण अवश्य होने चाहिए। नेता को अपने आदर्श आचरण से अधीनस्थों को प्रेरित करना चाहिए जिससे कि वे स्वेच्छा से अधिकतम कार्य करने को तत्पर हो जाए। नेता को अपने आदर्श आचरण से अनुयायियों को अनुगमन करने के लिए प्रेरित करना चाहिए, न कि उन्हें पीछे से धक्का मारकर कार्य करने को कहना पड़े।

(3) नियोजित, निश्चित एवं स्पष्ट आदेश देना -नेतृत्व का एक आवश्यक कर्तव्य यह भी है कि अनुगमनीय लक्ष्यों, समस्याओं और आदशों की विवेकपूर्ण व्याख्या एवं विश्लेषण करके अपने अनुयायियों को स्पष्टतया समझाए, जिससे कि वे उन्हें सही सन्दर्भों में समझ सकें, उनके प्रति आश्वस्त हो सकें और स्वैच्छिक सहयोग प्रदान कर सके। सन्देशवाहन की ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि आदेश निश्चित, लिखित, स्पष्ट, सुबोध और पूर्ण नियोजित ढंग से किए जाए। **श्री बर्नोड** के अनुसार, ''आदेशों के पालनीय होने हेतु यह आवश्यक है कि वे सम्बन्धित व्यक्तियों के लिए सम्भव तथा स्वीकार्य हों।''

(4) अनुशासन कायम रखना–अनुशासन एक ऐसी शक्ति है जो किसी व्यक्ति अथवा समूह को नियमन, नियंत्रण और कार्यविधियों का पालन करने के लिए प्रेरित करती है। एक कुशल नेता को उपक्रम में अनुशासन बनाये रखने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिए। एक नेता को चाहिए कि अनुशासन कायम करने हेतु सबके साथ समान और गैर पक्षपातपूर्ण व्यवहार करे और अनुयायियों की गतिविधियों पर ध्यान रखते हुए उन्हें भटकने से रोके। जब अधीन कर्मचारी सही हों तो उसकी प्रशंसा करनी चाहिए और त्रुटि करने वाले का दण्ड देना चाहिए। प्रयास यह होना चाहिए कि कर्मचारियों में डर व भय के बिना स्व–अनुशासन की भावना पैदा हो।

(5) उपक्रम के प्रति निशठा बनाए रखना -एक कुशल नेता का यह भी कर्तव्य है कि वह अपने अधीनस्थों में उपक्रम के प्रति पूर्ण निष्ठा बनाए रखे। उसे उपक्रम की योजनाओं को 'निजी योजना' मानकर काम करना चाहिए। उसे अधीनस्थों के मतभेदों को पूर्ण निष्पक्षता के साथ दूर करना चाहिए। उनकी पारिवारिक समस्याओं को सुन करके समाधान हेतु सुझाव देना चाहिए, कर्मचारियों के पदोन्नति, प्रशिक्षण, मजदूरी, भुगतान, आवास, निःशुल्क यातायात, रियायती बिजली व पानी, बच्चों की शिक्षा आदि का उचित व्यवस्था करना चाहिए। तभी जा करके स्वस्थ एवं मित्रतापूर्ण वातावरण निर्मित होता है जिसमें मनमुटाव और कटुताओं में कमी आती है। फलतः नेतृत्व और अनुयायी उपक्रम के प्रति निष्ठावान बने रहते हैं।

(6) अन्य–कुछ अन्य कर्तव्य भी हो सकते हैं जैसे –(i) समूह का बाहर में प्रतिनिधित्व करना, (ii) अनुयायियों का अभिप्रेरण करना, (iii) अधीनस्थों का पथ–प्रदर्शन करना, (iv) आदर्श व्यवहार प्रस्तुत

करना, (v) समूह गत्यात्मकता को समझना, (vi) परिवर्तित परिवेश को समझना, और (vii) नियोजन और निर्देशन करना।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि नेता, उपक्रम में अत्यधिक महत्वपूर्ण कार्य करता है। उपक्रम की सफलता हेतु सही नेतृत्व एक अपरिहार्यता होती है। सामान्य लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु कर्मचारी समूह का पथ–प्रदर्शन एक सच्चे अर्थों वाला व्यक्ति ही कर सकता है। यह ठीक ही कहा जाता है कि, ''लोगों पर हुक्म तो कोई निर्बुद्धि भी चला सकता है मगर उन्हें नेतृत्व एक सही व्यक्ति ही प्रदान कर सकता है।''

16.4 प्रबंधकीय नेतृत्व का महत्व

नेतृत्व की महिमा जीवन के हरेक क्षेत्र में है। जहां कहीं भी निर्धारित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए एक से अधिक व्यक्ति कार्य करते हैं, वहां नेतृत्व की आवश्यकता एवं महत्ता को भुलाया नहीं जा सकता है। आज की परिवर्तित परिस्थितियों में चाहे संगठन धार्मिक हो, सामाजिक हो, आर्थिक हो, राजनैतिक हो या व्यावसायिक हो, प्रत्येक में नेतृत्व की महत्ता अनोखी दिख रही होती है। योग्य एवं अनुभवी नेताओं ने ही विश्व के इतिहास की रचना की है। इतिहास के पन्ने पलटने से विदित होता है कि नैपोलियन बोनापार्ट, विन्सटन चर्चिल, जार्ज वाशिंगटन, जवाहर लाल नेहरू, और महात्मा गांधी आदि नेताओं ने विषम परिस्थितियों में अपने कुशल नेतृत्व द्वारा देशवासियों का मार्गदर्शन किया। मार्च, 1977 में अपने देश में लगाई गई आपात् काल के बाद सत्ता परिवर्तन में लोकनायक जय प्रकाश नारायण का नेतृत्व विश्व–विख्यात रहा है। इसी प्रकार जनवरी, 1980 में हुए राजनैतिक सत्ता परिवर्तन में श्रीमती इंदिरा गांधी, 1998 में अटल बिहारी वाजपेयी और 2004 में श्रीमती सोनिया गांधी की नेतृत्व क्षमता उल्लेखनीय रही है। न्यूटन और आइन्स्टीन, बुद्ध और महावीर, रामतीर्थ और विवेकानन्द, कृष्ण और ईसा मसीह, सभी ने अपने–अपने क्षेत्र में कुशल नेतृत्व प्रदान किया है। व्यावसायिक नेताओं में फोर्ड राक फेलर, जे0आर0डी0 टाटा और जी0डी0 बिड़ला के नाम अग्रणी हैं। नेपोलियन की एक उक्ति बड़ी प्रसिद्ध है कि निकृष्ट सिपाही नहीं होते हैं, बल्कि सिर्फ उनके अधिकारी होते हैं।इसका यह अभिप्राय है कि किसी भी संगठन में सफलता कुशल नेतृत्व के कारण ही प्राप्त होती है। अगर गीदड़ों की फौज का लगाम शेर के हाथ में तो वह फौज जीत जाती है और शेरों की फौज का लगाम अगर गीदड़ के हाथ में हो तो हार ही प्राप्त होती है। नेतृत्व की आवश्यकता एवं महत्ता को हम बिन्दुवार इस प्रकार वर्णित कर सकते हैं–

(1) अभिप्रेरण शक्ति –नेतृत्व एक प्रेरक शक्ति है जो संगठन में कार्यरत लोगों के सामूहिक लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु प्रेरणा प्रदान करता है। कुशल नेतृत्व उस विद्युत शक्ति के समान होता है जो सम्पूर्ण समूह को ऊर्जा प्रदान करता है। प्रबन्ध चूंकि उपक्रम में लगे व्यक्तियों से कार्य कराने की कला

है और यह बिना नेतृत्व के सम्भव नहीं है। नेतृत्व के द्वारा अधीनस्थों के व्यक्तिगत गुणों का विकास होता है और उनको अपनी योग्यता को प्रदर्शित करने का अवसर मिलता है।

(2) सहयोग की आधारशिला –एक कुशल नेता विभिन्न साधनों, सहयोगियों व अनुसरणकर्ताओं का सहयोग प्राप्त कर सकता है। एक नेता अपने मैत्रीपूर्ण व्यवहार, प्रभावी सन्देशवाहन व्यवस्था, कार्य की प्रशंसा व मान्यता, शिकायतों के शीघ्र समाधान, विश्वास की भावना, अधीनस्थों के कार्य में हाथ बंटाना, न्यायोचित और आदर्श आचरण द्वारा अधीनस्थों का अधिकाधिक स्वैच्छिक सहयोग प्राप्त करने में सफल होता है। बिना कुशल नेतृत्व के समूह विघटित हो जाते हैं, सामूहिक भावना नष्ट हो जाती है और उनकी शक्ति बिखर कर बेकार हो जाती है।

(3) उपक्रम के क्रियाओं का सुचारू रूप से संचालन –नेतृत्व के माध्यम से उपक्रम का कार्य निर्बाध गति से चलता रहता है। उपक्रम के विभिन्न क्रियाओं को एक सूत्र में पिरोने का कार्य नेता ही करता है। यदि नेता द्वारा उपक्रम की क्रियाओं का संचालन व नेतृत्व न किया जाए तो समूह अव्यवस्थित हो जाता है।

(4) व्यावसायिक सफलता हेतु –नेतृत्व की गुणवत्ता ही व्यावसायिक सफलता और असफलता को निर्धारित करती है। **पीटर एफ0 ड्रकर** के शब्दों में, ''व्यावसायिक नेता किसी व्यावसायिक उपक्रम के आधारभूत एवं दुर्लभ साधन हैं। अनेक व्यावसायिक उपक्रमों की असफलता का मूल कारण अकुशल नेतृत्व ही है।'' **जॉन जी0 ग्लोवर** के अनुसार, ''अधिकांश व्यावसायिक प्रतिष्ठानों के असफल होने में अकुशल नेतृत्व जितना उत्तरदायी है उतना कोई अन्य कारण उत्तरदायी नहीं होता है।''

(5) व्यक्तित्व के विकास हेतु –संगठनों में सेवारत व्यक्तियों के व्यक्तित्व, उत्साह, लगन, निष्ठा, मनोबल के विकास में कुशल नेतृत्व का महत्वपूर्ण योगदान रहता है। कुशल नेता अपने अधीनस्थों व अनुयायियों के व्यक्तित्व को निखारने में सृजनहार का कार्य करता है जिससे कर्मचारियों का संतोष बढ़ता है। **जी0आर0 टेरी** ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि, ''नेतृत्व से इच्छा शक्ति उत्प्रेरित होती है और जिससे लक्ष्य प्राप्ति की शिथिल इच्छाएं, लक्ष्य की सफलता के लिए ज्वलन्त भावनाओं में परिवर्तित हो जाती है।'' **पीटर एफ0 ड्रकर** के शब्दों में, ''नेतृत्व व्यक्ति की दृष्टि को व्यापक और उर्ध्वगामी बनाता है, कार्य निष्पादन को उच्चता प्रदान करता है और अपरिमित क्षमता वाले व्यक्तित्व का निर्माण करता है।''

(6) सामाजिक उत्तरदायित्वों की पूर्ति –कुशल नेतृत्व के माध्यम से प्रबन्ध सामाजिक उत्तरदायित्वों की पूर्ति कर सकता है। समाज और कर्मचारियों के लिए आवास, शिक्षा, विद्युत, चिकित्सा, पानी, भविष्य–निधि, बीमा, मंदिर आदि की सुविधा कुशल नेतृत्व के द्वारा ही की जा सकती है। यह एक द्विमार्गीय यातायात है। जहां एक ओर कर्मचारी उपक्रम की प्रगति के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर

करने को तत्पर होते हैं वहीं दूसरी ओर प्रबन्ध भी हर–सम्भव सुविधा देने को सहर्ष तैयार हो जाता है।

(7) अन्य –(i) परिवर्तनों को लागू करने हेतु, (ii) अधिकारी वर्ग को सुविधा प्रदान करने के लिए, (iii) मधुर मानवीय सम्बन्धी की स्थापना हेतु, (iv) समन्वयता को बढ़ावा, (v) मार्गदर्शन का सार।

16.5 नेतृत्व की शैलियों के प्रकार

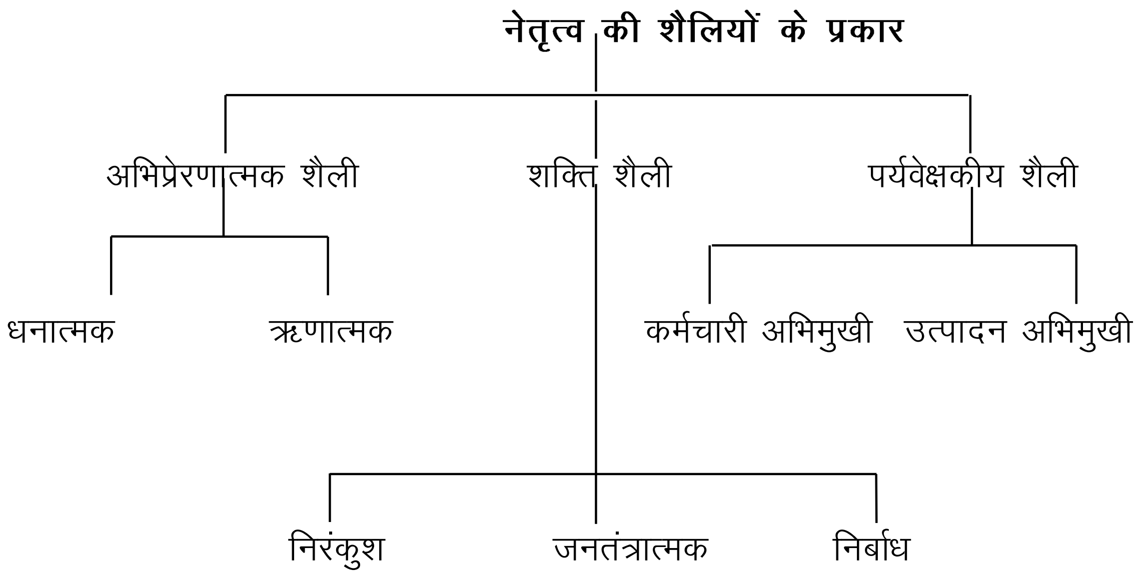

(I) अभिप्रेरणात्मक शैली –एक नेता जिन विधियों द्वारा अपने अनुयायियों का मार्गदर्शन करता है और उन्हें कार्य हेतु अभिप्रेरित करता है, वे अभिप्रेरणात्मक शैली कहलाती हैं। अनुयायियों को अभिप्रेरित करने की दो शैलियां होती हैं–

(अ) धनात्मक अभिप्रेरणात्मक शैली –जब नेता अपने अनुयायियों को मौद्रिक तथा अमौद्रिक प्रेरणाएं देकर काम करने के लिए आवश्यक निर्देश देता है तो इसे धनात्मक अभिप्रेरण शैली कहते हैं। इस शैली में अनुयायियों के वित्तीय एवं अवित्तीय लाभ प्राप्त होने के कारण वे कार्य करने के प्रति आकृष्ट होते हैं, अधिक मेहनत और लगन से कार्य करते हैं और औद्योगिक शान्ति की स्थापना में सहायता करते हैं।

(ब) ऋणात्मक अभिप्रेरणात्मक शैली – इस प्रकार के नेतृत्व में 'बिनु भय होय न प्रीति' का सिद्धान्त लागू होता है। इस शैली में नेता डरा–धमकाकर, दण्ड का भय दिखाकर, कार्य से हटाने, वेतन में कमी करने और अधिक समय तक काम लेने की धमकी देकर कार्य हेतु अभिप्रेरित किया जाता है। इस विधि द्वारा अनुयायियों को कुछ समय तक के लिए तो अवश्य अभिप्रेरित किया जा सकता है, सदैव के लिए नहीं। इस शैली से समूह प्रसन्नता, समूह शान्ति और औद्योगिक शान्ति के

वातावरण का निर्माण किया जाना सम्भव नहीं हो पाता है।

नेतृत्व के इन दोनों शैलियों में कौन सी श्रेष्ठ है, इसका स्पष्ट उत्तर देना तो सम्भव नहीं है। सामान्यतया एक नेता दोनों ही विधियों का मिश्रित रूप ही काम में लाता है। सामान्यतया नेता को धनात्मक अभिप्रेरण शैली से काम लेना चाहिए परन्तु अनियंत्रित, असामान्य और अपवादात्मक वातावरण में ऋणात्मक अभिप्रेरण शैली को भी प्रयोग करना चाहिए और सामान्य दशा बनते ही फिर धनात्मक अभिप्रेरण शैली उपयुक्त रहती है।

(II) शक्ति शैली –इस शैली के अन्तर्गत नेता अपने शक्ति का उपयोग करता है। इस प्रकार नेता शक्ति के आधार पर ही नेतृत्व प्रदान करता है। शक्ति के आधार पर नेतृत्व की निम्न तीन शैलियां प्रचलित हैं–

(अ) निरंकुश शैली –नेतृत्व की इस निरंकुश अथवा सत्तावादी शैली में सभी अधिकार नेता के पास केन्द्रित रहते हैं। नेता में अपने अधिकारों के प्रति असीम मोह रहता है और वह अपने अधिकारों का विकेन्द्रीकरण करना नहीं चाहता है। वह सभी निर्णय स्वयं ही लेता है और निर्णयन प्रक्रिया में अनुयायियों को शामिल नहीं करता है। अधीनस्थों का कार्य मात्र इतना होता है कि नेता के आदेशों का पूर्णतः अनुकरण करते हुए कार्य करें। अधीनस्थों को सुझाव आदि देने का अधिकार नहीं होता है। निरंकुश नेतृत्व कार्यों की सफलता का श्रेय तो स्वयं को देता है और असफलता के लिए अधीनस्थों को दोषी ठहराता है। बहुत बार तो अनुयायियों को लक्ष्यों तक ही पता नहीं होता है और वे छोटी–छोटी बातों के लिए अपने नेता पर आश्रित रहते हैं तथा प्रताड़ित होते हैं।

विशेषताएं– (i) इसमें नेता द्वारा अधीनस्थों को आदेश प्रदान किए जाते हैं। (ii) संगठन में नेता ही एक मात्र निर्णायक भूमिका में होता है। (iii) इसमें एकल मार्गीय सन्देशवाहन होता है अर्थात् ऊपर से नीचे की ओर। (iv) इसमें निर्विवाद आज्ञाकारिता होती है। (v) इसमें नेता का कठोर पर्यवेक्षण एवं नियंत्रण होता है। (vi) इसमें नेतृत्व का 'मै' (I) स्वरूप होता है। (vii) इसमें नकारात्मक अभिप्रेरणाओं पर बल दिया जाता है।

प्रकार– निरंकुश शैली कठोर, उदार और चालाक तीन प्रकार की हो सकती है–**(i) कठोर निरंकुश शैली**– ऐसे में नेता अपने अनुयायियों से अति सख्ती से पेश आता हैं जिससे अनुयायी असुरक्षित, नेता की सत्ता से भयभीत और किसी प्रकार की सूचना से अवगत न रहने वाले होते हैं। कठोर नेता नकारात्मक प्रभावों पर विश्वास रखता है और आदेशों का पूर्णतः व अक्षरशः पालन चाहता है। **(ii) उदार निरंकुश शैली**– इसमें नेता का अभिप्रेरणात्मक स्वरूप धनात्मक होता है जो उच्च उत्पादकता प्राप्त करने के लिए मध्यम निरंकुशता को अपनाता है। वह कर्मचारियों के हितैषी के रूप में सत्ता का प्रयोग उन्हें विभिन्न प्रकार के पारितोषण प्रदान करने में करता है। **(iii) चालाक निरंकुश**

शैली– इसमें नेता अपने अनुयायियों को यह महसूत कराने में सफल होता है कि वे निर्णयन प्रक्रिया में हिस्सा ले रहे हैं जबकि वह निर्णय पहले से ही कर लिए रहता है। वह अपने स्वार्थ में सब काम करता है और अनुयायियों को दबा करके रखता है। वास्तव में, नेता अपने चालाकीपूर्ण व्यवहार से अधीनस्थों को वस्तुस्थिति जानने ही नहीं देता है।

गुण–दोष– निरंकुश शैली अनेक बार खासतौर से आपातकालीन दशाओं में सफल भी हुआ है क्योंकि वह प्रबन्धकों को प्रभावी रूप से अभिप्रेरित करता है। यह शीघ्र निर्णयन की अनुमति प्रदान करता है क्योंकि एक ही व्यक्ति सम्पूर्ण समूह के बारे में निर्णय करता है। जब अधीनस्थ पहलपन में अनिच्छुक, कम योग्य और दायित्व से बचने वाले हों तो निरंकुश शैली सफल रहती है। फिर भी निम्न कारणों से यह निरंकुश शैली सफल नहीं हो पाती है– (i) इससे कर्मचारियों में असन्तोष, निम्न मनोबल, निराशा, संघर्ष और अकुशलता आती है। (ii) इससे प्रजातांत्रिक मूल्यों का हनन होता है। (iii) इसमें संगठन एक ही व्यक्ति पर अधिकाधिक निर्भर होता है अतः भावी नेतृत्व का विकास नहीं हो पाता है।

(ब) जनतन्त्रात्मक शैली –नेतृत्व की इस अति आधुनिक और सर्वमान्य शैली को कर्मचारी उन्मुख व केन्द्रित शैली, परामर्शात्मक शैली व सहभागितात्मक शैली की भी संज्ञा प्रदान की गई है। एक सहभागिता पसन्द जनतंत्रात्मक शैली वाला नेता निर्णयन प्रक्रिया को विकेन्द्रित करता है। वह अकेले निर्णय लेने की अपेक्षा अपने अनुयायियों व अधीनस्थों के परामर्श व सुझावों पर जोर देता है। नेतृत्व की यह शैली अधिकारों के प्रतिनिधायन पर आधारित है और नेता को अधिकार सत्ता से स्नेह इसमें नहीं होता है। वह अधिकाधिक व्यक्तियों को अधिकारों का प्रतिनिधायन करने में विश्वास रखता है। यह 'प्रबन्ध में श्रमिक सहभागिता' की धारणा है जो औद्योगिक प्रजातंत्र की स्थापना की एक पूर्व आवश्यकता होती है। इसमें प्रगतिशील प्रबन्धक कर्मचारियों की आवश्यकताओं, इच्छाओं और भावनाओं को महत्व प्रदान करते हुए उनके व्यवहार को संतोषजनक तथा सकारात्मक रूप से प्रभावित करने का नेतृत्व करता है। कर्मचारी समूह अधिकाधिक दायित्व बोध करते हुए हुए, कार्य दशाओं व कार्य परिस्थितियों में अपेक्षित परिवर्तन को सहर्ष स्वीकार करते हैं।

विशेषताएं– (i) इसमें निर्णयन–प्रक्रिया में अधीनस्थों को सहभागिता प्रदान की जाती है। (ii) इसमें मानवीय मूल्यों को मान्यता दी जाती है। (iii) इसमें द्विमार्गीय सन्देशवाहन होने के कारण नेता और अनुयायियों में विचारों का आदान व प्रदान होता रहता है। (iv) इसमें नेतृत्व का 'हम' स्वरूप होता है। (v) इसमें अनुयायियों के पहलपन और सृजनात्मकता को प्रोत्साहन दिया जाता है।

गुण–दोष– जनतंत्रात्मक शैली के प्रमुख लाभ इस प्रकार से हैं– (i) इसमें कर्मचारी स्वयं को गौरवान्वित महसूस करते हैं जिससे उनकी सन्तुष्टि, मनोबल, उत्पादकता व सहभागिता बढ़ती है। (ii) इससे संगठन में स्थायित्व उत्पन्न होता है और कर्मचारियों के सोचने के ढंग और नैतिक स्तर में वृद्धि

होती है। (iii) यह शिकायतों और परिवेदनाओं की संख्या में कमी लाता है। (iv) यह निर्णयन–प्रक्रिया में सुधार लाता है। (v) यह नेतृत्व हेतु अनुयायियों के विकास पर बल देता है। फिर भी यह शैली पूर्णतया दोषमुक्त नहीं है। इसकी अग्रलिखित सीमाएं होती हैं– (i) यह शैली जटिल व उलझनपूर्ण संगठनों के लिए उपयुक्त नहीं है। (ii) इसमें सभी कर्मचारी समान स्तर से अभिप्रेरित नहीं होने के कारण पूर्ण मनोबल से काम नहीं करते हैं। (iii) कभी–कभी चतुर और तिकड़मी अधिशासी सहभागिता और सर्वानुमति के नाम पर इस शैली का दुरूपयोग करके अपने विचारों, इच्छाओं व पसन्दगियों को कर्मचारियों पर लाद देते हैं।

(स) निर्बाध शैली– नेतृत्व की निर्बाधवादी या स्वतंत्रावादी शैली यह है कि नेतृत्व अनुयायियों के कार्यों में न्यूनतम अथवा न के बराबर हस्तक्षेप करता है। नेता समूह का नेतृत्व करने के बजाय समूह को स्वयं के भरोसे पर छोड़ देता है और शक्तियों का प्रयोग नहीं करता है। अनुयायी स्वयं लक्ष्य निर्धारित करते हैं और अपनी समस्याओं को स्वयं सुलझाते हुए लक्ष्यों की प्राप्ति के प्रयत्न करते हैं। समूह के सदस्य स्वयं ही प्रशिक्षित होते हैं और स्वयं ही अभिप्रेरित होते हैं और नेता तो केवल सम्पर्क कड़ी का कार्य करता है। नेता समूह के सदस्यों को आवश्यक सूचनाएं, साधन और अधिकार प्रदान करता है। निर्बाध शैली वाले नेताओं की यह धारणा होती है कि यदि अनुयायियों को अपनी इच्छानुसार कार्य करने दिया जाए तो वे अत्यधिक परिश्रम और लगन से कार्य करके इच्छित परिणाम प्राप्त करते हैं। नेता अपने अनुयायियों की क्रियाओं का सकारात्मक और नकारात्मक किसी भी रूप में मूल्यांकन न करके वह मात्र मध्यस्थ और समन्वयक के रूप में कार्य करता है।

विशेषताएं– (i) इसमें अनुयायियों को व्यक्तिगत निर्णय की पूर्ण स्वतंत्रता होती है। (ii) इसमें नेता आवश्यकता पड़ने पर विभिन्न सूचनाओं को उपलब्ध कराता है। (iii) इसमें कर्मचारी ही अपने कृत्यों का निर्धारण करके लक्ष्य प्राप्ति में योगदान देते हैं, (iv) यह नेतृत्व का 'आप' स्वरूप है, (v) इसमें नेता अपना नेतृत्व उस समय प्रदान करता है जब अनुयायी ऐसी मांग करते हैं, (vi) इसमें नेता न तो अनुयायियों के कार्यों का मूल्यांकन करता है और न ही उनकी क्रियाओं पर नियंत्रण रखता है।

गुण–दोष– निर्बाध शैली के अग्रलिखित लाभ होते हैं– (i) यह अधीनस्थों को व्यक्तित्व विकास का पूर्ण अवसर देता है। (ii) यह शैली अधिकाधिक स्वचालित है जो बिना हस्तक्षेप के चलती है। (iii) इसमें अनुयायी उच्च शिक्षित, प्रशिक्षित और अभिप्रेरित होते हैं जिससे श्रेष्ठ व शीघ्र परिणाम प्राप्त होता है। यह शैली अग्र दोषों से भी युक्त है– (i) इस शैली में समूह नेता के विशेष प्रयासों से मिलने वाले अभिप्रेरण सम्बन्धी लाभों से वंचित हो जाता है, (ii) इसमें कभी–कभी विभिन्न विभाग व समूह परस्पर विरोधी निर्णय लेकर या परस्पर विरोधी उद्देश्यों के लिए साधनों का अपव्यय करते हैं। (iii) यह शैली अलोकप्रिय और अतार्किक है।

नेतृत्व की तीन शक्ति आधारित शैलियां

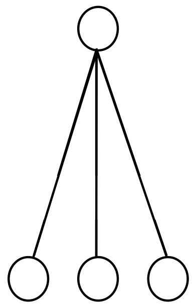

निरंकुश शैली

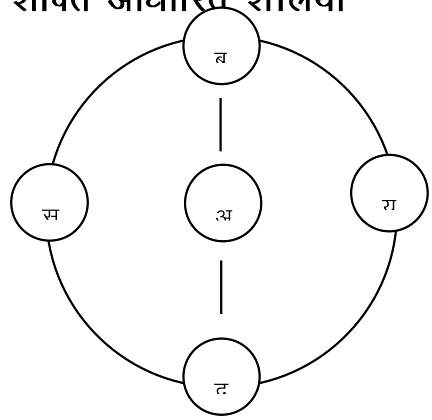

जनतंत्रात्मक शैली

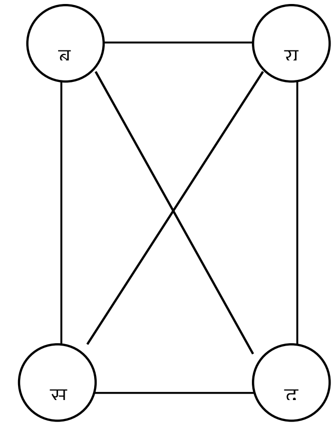

निर्बाध शैली

निरंकुश, जनतंत्रात्मक और निर्बाध नेतृत्व शैलियों में अन्तर

अन्तर का आधार	निरंकुश शैली	जनतंत्रात्मक शैली	निर्बाध शैली
1. नीति–निर्धारण	नेता द्वारा ही समस्त नीतियों का निर्धारण किया जाता है।	अनुयायियों से विचार विमर्श करके नीतियों का निर्धारण किया जाता है।	नीतियों के निर्धारण में नेता का न्यूनतम हस्तक्षेप होता है।
2. कार्य–निर्धारण	नेता स्वयं अपने अनुयायियों के कार्य का निर्धारण करता है।	कार्य–निर्धारण में अनुयायियों से परामर्श लिया जाता है।	नेता कार्य निर्धारण से पूर्णतया अलग रहता है।
3. अधिकार का प्रतिनिधायन	नेता सारे अधिकार अपने पास ही केन्द्रित रखता है।	नेता अपने अनुयायियों को आवश्यक अधिकार का प्रतिनिधायन करता है।	नेता अपने अधिकांश अधिकारों का प्रतिनिधायन अनुयायियों में करता है।
4. स्वरूप	यह नेतृत्व का 'मैं' स्वरूप है।	यह नेतृत्व का 'हम' स्वरूप है।	यह नेतृत्व का 'आप' स्वरूप है।
5. मानवीय संबंध	इसमें मानवीय संबंधों पर ध्यान नहीं दिया	इसमें मानवीय संबंधों को मान्यता प्रदान की जाती है।	इसमें मानवीय संबंधों पर विशेष ध्यान दिया जाता है।

	जाता है।		
6. पर्यवेक्षण एवं नियंत्रण	इसमें नेता का कठोर नियंत्रण एवं पर्यवेक्षण रहता है।	इसमें नेता का सामान्य नियंत्रण एवं पर्यवेक्षण रहता है।	इसमें न तो कार्य का मूल्यांकन किया जाता है और न ही पर्यवेक्षण किया जाता है।
7. सन्देशवाहन	इसमें एकल मार्गीय सन्देशवाहन होता है।	इसमें द्विमार्गीय संदेश वाहन होता है।	इसमें अति सक्रिय द्विमार्गीय संदेशवाहन होता है।
8. लोकप्रियता	यह शैली परम्परागत प्रबन्ध में अधिक लोकप्रिय थी।	यह वर्तमान में सर्वाधिक लोकप्रिय है।	यह बहुत ही कम लोकप्रिय है।

(iii) पर्यवेक्षकीय शैली –नेतृत्व की इस शैली के अन्तर्गत पर्यवेक्षक एक प्रमुख भूमिका अदा करता है। वह नेता होता है और अधीनस्थ उसके अनुयायी होते हैं। नेता या तो कर्मचारी को अधिक महत्व देते हुए नेतृत्व करता है अथवा उत्पादन को अधिक महत्व देते हुए नेतृत्व करता है। इस आधार पर पर्यवेक्षकीय शैली को निम्न दो भागों में बांटा जा सकता है :

(अ) कर्मचारी अभिमुखी शैली –इसमें नेता अपने अधीनस्थों को अधिक महत्व प्रदान करते हुए उनकी सुविधाओं, कार्य की दशाओं, रूचियों, अभिवृत्तियों, आवश्यकताओं आदि को ध्यान देता है। इसमें नेता अनुयायियों की जरूरतों को समझने, सौहार्दपूर्ण वातावरण तैयार करने, मानवीय भावनाओं का आदर करने और परिवेदनाओं का शीघ्र समाधान करने का प्रयत्न करता है। वास्तव में, इस शैली में कर्मचारियों का दृष्टिकोण ही उपयुक्त माना जाता है। परन्तु, यह मानवतावादी दृष्टिकोण कभी–कभी संस्थागत उद्देश्यों और उत्पादन अधिकतमीकरण के उद्देश्य प्राप्ति में सफल नहीं हो पाता है।

(ब) उत्पादन अभिमुखी शैली –इस शैली के अनुसार नेता उत्पादन वृद्धि पर ही सबसे अधिक महत्व देता है। वह यह मानकर चलता है कि उत्पादन की नवीन तकनीकों को अपनाने, कर्मचारियों को सदैव कार्यरत रखने और कर्मचारियों को कार्य करते रहने के निमित्त प्रेरित करने से उत्पादन अधिकतमीकरण का लक्ष्य प्राप्त हो सकता है। यह शैली मानवतावादी दृष्टिकोण पर अधिक बल नहीं देती है।

16.6 नेतृत्व की विचारधाराएं

आचरण विज्ञान के विशेषज्ञों ने इस सम्बन्ध में अनेक विचारधाराएं विकसित किया है कि एक सफल नेता कैसे बनता है या बन सकता है ? सामान्यतया इन विचारधाराओं को दो वर्गों में विभक्त किया जा

सकता है– प्राचीन और आधुनिक विचारधारा। प्राचीन व परम्परागत विचारकों का मत था कि 'नेता जन्म लेते हैं और बनाए नहीं जाते। इसके विपरीत, जो इस बात में विश्वास करते हैं कि नेता जन्म भी लेते हैं और प्रशिक्षण के द्वारा तैयार भी किए जाते हैं, उनको आधुनिक विचारधारा का माना जाता है। आगे नेतृत्व की प्रमुख विचारधाराओं को समझाया गया है–

(I) महान–व्यक्ति विचारधारा –यह विचारधारा इस परम्परागत दृष्टिकोण पर आधारित है कि, ''नेता नेता ही होता है, प्रत्येक व्यक्ति नेता नहीं बन सकता, क्योंकि नेता तो पैदा होते हैं, उनका निर्माण नहीं किया जा सकता है।'' नेताओं में वंशानुगत रूप से जन्मजात नेतृत्व गुण होते हैं। ऐसे महान नेता अपने युग के रचयिता होते हैं न कि वह युग उनका रचयिता होता है। **थामस कारलाइ** के मतानुसार, विश्व का इतिहास महान व्यक्तियों की आत्मकथा है । इस विचारधारा के निम्न लक्षण हैं–

1. कुछ लोगों को महान नेता बनने का दैवी वरदान प्राप्त है। इन नेताओं में दिव्य गुण व विशिष्टता होती है।
2. प्रत्येक व्यक्ति में नेता बनने और महानता अर्जित करने की क्षमता नहीं होती है।
3. संगठनों में श्रेष्ठ व्यक्ति का चयन ही जरूरी होता है और प्रशिक्षण के द्वारा अधिशासी विकास सम्भव नहीं है।
4. परिस्थितिमूलक घटकों का नेता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।
5. नेता बनने, अनुयायियों को प्रभावित करने और सफलता पाने हेतु जन्मजात नेतृत्व कौशल पर्याप्त और आवश्यक होते हैं।

आधुनिक विचारकों ने इस महान व्यक्ति विचारधारा को निम्न कारणों से पूर्णतया निरस्त कर दिया है–

1. नेतृत्व कौशल को जन्मजात, दिव्य और रहस्यमय बताना सिर्फ कपोल कल्पित है। ऐसे कथित महान नेता आधुनिक, जटिल व परिवर्तनशील दशाओं में उपयुक्त नहीं ठहरते हैं।
2. नेतृत्व कौशल को अनुभव और वैज्ञानिक प्रशिक्षण द्वारा अर्जित किया जा सकता है।
3. नेता की सफलता परिस्थितिमूलक घटकों पर भी निर्भर करती है।
4. यह विचारधारा मात्र अटकलबाजी और कल्पना पर आधारित है जो वैज्ञानिक, सत्यापनीय और भविष्यवाची व्याख्या प्रदान नहीं करती है।

II. गुणमूलक विचारधारा –चेस्टर आई. बर्नार्ड, आर्डवे टीड, इरविन एच. शैल इस गुणमूलक अथवा लक्षणमूलक विचारधारा के प्रमुख प्रवर्तक माने जाते हैं। नेतृत्व की यह विचारधारा 1950 तक अपना विशेष महत्व रखती थी। इस विचारधारा के प्रतिपादकों ने विश्व के जाने–माने नेताओं के जीवन का अध्ययन करके उनके व्यक्तित्व जन्य गुणों का संकलन किया और जिन गुणों को उन्होंने सामान्य पाया,

उन्हें एक नेता के आवश्यक गुण मान लिया।

इस विचारधारा के अनुसार, नेता जन्म लेते हैं, बनाए नहीं जाते हैं। जिन व्यक्तियों में नेतृत्व के जन्मजात गुण होते हैं वे अवसर पाते ही इसका लाभ उठाते हैं और स्वतः ही प्रकाश में आ जाते हैं। जहां तक इन गुणों की संख्या का प्रश्न है, यह अत्यन्त विवादास्पद मामला है। गुण 3–4 से लेकर 20–25 या इससे भी अधिक हो सकते हैं। आर्डवे टीड के अनुसार, नेता में 10 गुणों का होना जरूरी है : (i) शारीरिक शक्ति, (ii) उद्देश्य के प्रति निष्ठा, (iii) अपूर्व साहस व लगन, (iv) स्नेह एवं मैत्रीपूर्ण व्यवहार, (v) चारित्रिक दृढ़ता, (vi) तकनीकी क्षमता, (vii) शीघ्र निर्णयन क्षमता, (viii) कुशाग्र बुद्धि, (ix) शिक्षण चातुर्य, एवं (x) दृढ़विश्वास। **इरविन एच. शैल** ने सफल नेतृत्व के तीन गुणात्मक लक्षण बताए हैंः (i) लोगों के प्रति दिलचस्पी एवं प्रेम, (ii) प्रभावी व्यक्तित्व, और (iii) मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण। यह विचारधारा नेतृत्व के गुणों पर अत्यधिक बल देता है और इन्हीं गुणों के आधार पर नेता अपने अनुयायियों को प्रभावित करने की स्थिति में होता है। यह सिद्धान्त वर्तमान औद्योगिक युग में निम्न कमियों के कारण अपर्याप्त, अव्यवस्थित और भ्रामक मानी जाती है :

(1) गुणों का सामान्यीकरण करना सम्भव नहीं –इन विचारकों ने जिन व्यक्तियों के जीवन–चरित्र का अध्ययन करके नेतृत्व के गुणों की जो अपेक्षित सूची तैयार किया है, उससे यह स्पष्ट नहीं किया है कि ये चयन कैसे किया गया। जब तक न्यादर्श के चयन का आधार संगत, एकरूप एवं समस्तरीय न हो तब तक गुणों का सामान्यीकरण करना भ्रामक एवं मिथ्या होगा।

(2) जन्मजात गुणों की मान्यता उचित नहीं –यह विचारधारा एक नेता में जो गुण होने चाहिए उन सभी को जन्मजात मानती है परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि सभी गुण जन्मजात ही हों। इनमें से कुछ को उचित शिक्षण, प्रशिक्षण व अनुभव से अर्जित भी किया जा सकता है। नेतृत्व के परिस्थित्यात्मक घटकों पर यह सिद्धान्त ध्यान नहीं देता है।

(3) नेतृत्व गुणों की संख्या पर एकमत नहीं –नेतृत्व के सामान्य व सर्वमान्य लक्षणों की कोई सूची अभी तक तैयार नहीं हुई है। कोई 10 गुण गिनाता है तो कोई 2–3। इसके अलावा जो सूची है उनमें भी पर्याप्त भिन्नता है। फिर कौन सा गुण कितनी मात्रा में विद्यमान होना चाहिए इसका कोई मापदण्ड नहीं है।

सन् 1950 तक यह विचारधारा 'एक सफल नेता के क्या गुण है' का सन्तोषजनक जवाब मानी जाती रही, परन्तु परिस्थित्यात्मक घटकों की अवहेलना करने के कारण अब यह सर्व स्वीकार्य नहीं है।

(III) नेतृत्व का परिस्थित्यात्मक विचारधारा –इस विचारधारा का विकास **आर0एम0 स्टॉगडिल**तथा उनके सहयोगियों द्वारा किया गया है। इसकी प्रमुख मान्यता यह है कि गुणों के अतिरिक्त परिस्थितियां भी नेतृत्व को प्रभावित करती हैं। नेता जन्मजात भी होते हैं और परिस्थितियों के अनुसार उनका निर्माण भी किया जा सकता है। चूंकि प्रत्येक परिस्थिति अन्य परिस्थिति से थोड़ी बहुत भिन्न अवश्य होती है, अतः नेतृत्व की तकनीकों में उसीके अनुरूप परिवर्तन किया जाना

आवश्यक है। इस विचारधारा का उपयोग द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान जर्मनी तथा अमेरिकी सेनाओं के कमाण्डरों का चयन करने के लिए व्यापक रूप से किया गया। इतिहास साक्षी है कि जर्मनी में हिटलर, रूस में लेनिन, अमेरिका में रूजवेल्ट, इटली में मुसोलिनी और भारत में गांधी जैसे व्यक्तियों का विकास परिस्थितियों के कारण हुआ है। व्यावसायिक तथा गैर व्यावसायिक उपक्रमों में भी नेतृत्व के विकास में परिस्थितियों का योगदान रहता है। इस विचारधारा के प्रतिपादकों का मत है कि एक नेता में भाषण देने की क्षमता, बुद्धिमता, साहस, ईमानदारी, धैर्य, चातुर्य, कर्तव्यनिष्ठा आदि गुण तो होने ही चाहिए परन्तु इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण बात यह है कि परीक्षा की विशेष परिस्थिति में नेता अपने गुणों का किस प्रकार प्रयोग करता है। इस विचारधारा के अनुसार नेता में परिस्थिति के साथ समायोजित करने का गुण होना अत्यन्त आवश्यक है। हम व्यवहार में देखते हैं कि कुछ लोग प्रारम्भ में नेता नहीं थे, परन्तु परिस्थितियों के कारण नेतृत्व के अवसर मिलने से वे अच्छे नेता बन गए। इन परिस्थितियों में चार बातें– (i) सामाजिक परिस्थितियां, (ii) बुद्धिगत चातुर्य, (iii) पारिवारिक पृष्ठभूमि, तथा (iv) अभिव्यक्ति विश्लेषण सम्मिलित की जाती है।

(IV) नेतृत्व का अनुयायी विचारधारा–इस विचारधारा के प्रतिपादन का श्रेय **एफ. एच.** सेन्सफोडको जाता है। उनके अनुसार, ''यह अनुयायी ही होता है जो व्यक्तिगत रूप से नेता को समझता है, परिस्थितियों को महसूस करता है और जो अन्तिम विश्लेषण में नेतृत्व को स्वीकार या अस्वीकार कर देता है। अनुयायी का लक्ष्य, दृष्टिकोण, सन्दर्भ अथवा मनोवृत्ति उसके यह निर्धारण करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है कि वह क्या देखता है और उसकी क्या प्रतिक्रिया होती है।''

इस सिद्धान्त का सार तत्व यह है कि नेता वह है जिसके कुछ अनुयायी हों। इस प्रकार यह अनुयायियों की स्वीकृति की मान्यता पर आधारित है। अनुयायियों की विभिन्न आवश्यकताएं जैसे जीवन निर्वाह, आत्मसम्मान, सुरक्षा, मान्यता, आत्मविश्वास आदि होती हैं और वे जिस श्रेष्ठ पुरुष को अपने इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उपयुक्त समझते हैं उसी को अपना नेता मान लेते हैं। कुशल नेता वह है जो अपने अनुयायियों की विविध आवश्यकताओं, उद्देश्यों और लक्ष्यों को समझ करके सन्तुष्ट करने का प्रयास करता है। लेकिन नेतृतव की यह विचारधारा व्यावसायिक प्रबन्ध के क्षेत्र में उतना लागू नहीं हो सकता है क्योंकि यहां प्रबन्धक के रूप में नेता तो चुन कर आता है। हां, यह बात जरूर है कि बाद में वह अपने व्यवहार से कर्मचारियों का अधिकारी ही न बना रहकर उनका सच्चा नेता एवं हितैषी भी बन जाता है।

(V) नेतृत्व का पथ–लक्ष्य विचारधारा –नेतृत्व की इस विचारधारा के प्रतिपादक **राबर्ट जे0 हाउस** हैं। उनके अनुसार नेता की प्रभावशीलता उसकी इन योग्यताओं पर निर्भर है कि वह (अ) कर्मचारी–आवश्यकता की सन्तुष्टि के अवसर प्रदान करने, (ब) उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायता व मार्गदर्शन देने, तथा (स) उनकी आवश्यकता–सन्तुष्टि को प्रभावी निष्पादन पर आधारित करने की कितनी योग्यता रखता है। इस प्रकार, जब अधीनस्थों को लगता है कि

उनकी आवश्यकता सन्तुष्टि उनके प्रभावी निष्पादन पर निर्भर है तब वे संगठनात्मक लक्ष्यों की प्राप्ति में अपनी पूरी क्षमता से काम करेंगे और अपना अनुकूलतम योगदान प्रदान करेंगे। नेता अधीनस्थों को पथ—लक्ष्यों तथा आवश्यकता सन्तुष्टि के प्रति अपना रूचि दिखाकर संगठनात्मक प्रभावशीलता को अनुकूलतम बना सकते हैं।

(VI) नेतृत्व की व्यवहारवादी विचारधारा –टनेनबाम, स्मिट, किलियन, लिकर्ट, ब्लैके तथा मॉटन आदि विद्वानों ने नेतृत्व के भूमिका व्यवहार सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। **रे ए0 किलियन** के अनुसार, ''एक नेता मूल रूप से चाहे कुशल निर्णय लेने वाला हो, समस्याओं का समाधान करने वाला हो, अच्छा परामर्शदाता हो, सूचना प्रदान करने वाला हो अथवा नियोजक हो, परन्तु उसे अपने अनुयायियों के समक्ष आदर्श व्यवहार प्रस्तुत करना चाहिए।'' नेता के आचरण पर नेतृत्व की धारणा आधारित है। उदाहरण के लिए, यदि नेता स्वयं अनुशासित न रह करके कार्यालय में ही शराब पीता है तो अनुयायियों से अपेक्षा करना कि वे ऐसा न करें, निरर्थक है। इस प्रकार इस विचारधारा का सम्बन्ध नेता के व्यवहार से है, उसके व्यक्तिगत गुणों से नहीं। नेता की सफलता का मूल्यांकन उसके व्यवहार का विश्लेषण करके किया जा सकता है।

व्यवहारवादी विचारधारा के अन्तर्गत निम्नांकित तीन (अ) रेन्सिस लिकर्ट, (ब) ब्लैके तथा मॉटन, एवं (स) टैनेनबॉम तथा शिमिट के उपागम उल्लेखनीय है–

(अ) रेन्सिस लिकर्ट का 1–4 नेतृत्व प्रणाली –**लिकर्ट** ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'The Human Organisation : Its Management and Values' में नेतृत्व को प्रबन्ध का केन्द्रीय एवं महत्वपूर्ण संघटक बताया है। उनके विचार में व्यक्तियों का नेतृत्व करने के लिए सर्वाधिक प्रभावी प्रणाली यह है कि अधीनस्थों को निर्णयन प्रक्रिया में सहभागी बनाया जाए क्योंकि यह लोकतांत्रिक सिद्धान्तों पर आधारित होता है। मिशीगन विश्वविद्यालय में नेतृत्व अध्ययन को रेन्सिस लिकर्ट के निर्देशन में पूरा किया गया। लिकर्ट ने तीन दशकों तक नेताओं और प्रबन्धकों की शैलियों और प्रतिमानों का गहन शोध अध्ययन करके उनकी चार प्रणालियों– (i) शोषक निरंकुश, (ii) हितैषी निरंकुश, (iii) सलाहकारी, तथा (iv) सहभागी का वर्णन किया। यह प्रबन्ध जगत में 'लिकर्ट की चार प्रबन्धक प्रणाली' के नाम से विख्यात है और अन्त में लिकर्ट ने निष्कर्ष निकाला कि प्रणाली 4 ही सर्वोत्तम है। लिकर्ट के चार प्रबन्ध अथवा नेतृत्व प्रणाली का संक्षिप्त वर्णन निम्न प्रकार है–

प्रणाली 1 : शोषक निरंकुश–नेतृत्व की यह प्रणाली मात्र उत्पादन केन्द्रित होती है और नेता एकपक्षीय ढंग से लक्ष्यों को और उन्हें प्राप्त करने के तरीकों को निर्धारित करता है। उनका अपने अधीनस्थों से कार्य करवाने का तरीका अत्यन्त निर्देशात्मक और आदेशात्मक होता है। नेतृत्व अपने अधीनस्थों पर बहुत कम विश्वास करके पूरा निर्णयन सत्ता अपने तक सीमित रखना चाहते हैं। नेतृत्व के इस स्वरूप में नेता द्वारा मैकग्रेगर की 'एक्स' विचारधारा का अनुसरण किया जाता है और सन्देशवाहन की प्रकृति ऊपर से नीचे की ओर अत्यधिक औपचारिक होती है। अधीनस्थों से भय, आतंक और दण्ड द्वारा कार्य करवाया जाता है और कड़ा नियंत्रण करके अभिप्रेरण की नकारात्मक विधियों को नेतृत्व

प्रयोग में लाता है।

प्रणाली 2 : हितैषी निरंकुश–इस प्रणाली में नेता अपने अनुयायियों के प्रति कभी संरक्षणात्मक, तो कभी कड़ा रूख अपनाते हैं। यह प्रणाली भी 'एक्स' विचारधारा पर ही आधारित है। कर्मचारियों और अधिकारी में औपचारिक सन्देशवाहन ही होता है लेकिन अभिप्रेरण के लिए 'गाजर और छड़ी' विधि को अपनाया जाता है। अनुयायियों को कुछ उत्पीड़न के साथ–साथ कार्य के लिए पुरस्कार भी प्रदान किए जाते हैं। अनुयायियों को कुछ अधिकारों का प्रतिनिधायन किया जाता है परन्तु नियंत्रण तो उच्च प्रबन्धकों के हाथ में ही केन्द्रित रहता है। संगठन का वातावरण आशंका और भय से मुक्त नहीं होता है परन्तु नेतृत्व का स्वरूप प्रथम प्रणाली से कुछ उदार और हितैषी होता है।

प्रणाली 3 : सलाहकारी –इस प्रणाली के अन्तर्गत अधीनस्थों से अक्सर सलाह व मशविरा किया जाता है और उनके मन्तव्यों का निर्णयन के समय ध्यान दिया जाता है। यद्यपि निर्णयन सत्ता के शीर्ष स्तर पर ही केन्द्रित रहती है, तथापि कुछ छोटे–मोटे निर्णय मध्य स्तरीय वं निम्न स्तरीय प्रबन्धकों द्वारा भी किया जाता है। इसमें सन्देशवाहन का द्विमार्गीय रूप प्रयुक्त होता है। अभिप्रेरण के लिए सकारात्मक विधियों का प्रयोग किया जाता है। नेतृत्व अधीनस्थों में रूचि दिखाते हैं और उन पर पर्याप्त विश्वास करते हैं, लेकिन पूरी तरह से नहीं। नेता 'एक्स' विचारधारा से 'वाई' विचारधारा की ओर अग्रसर होता है।

प्रणाली 4 : सहभागी –इसमें नेतृत्व का आदर्श स्वरूप प्रयुक्त होता है जिसमें नेता का अपने अनुयायियों में पूर्ण विश्वास होता है। सहभागी समूह का नेता सामूहिक निर्णय, सामूहिक लक्ष्य व सामूहिक निष्पादन पर जोर देता है। नेतृत्व और अनुयायियों के बीच सौहार्द्रपूर्ण और मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध होता है और प्रबन्ध में कर्मचारी सहभागिता को महत्व दिया जाता है। सन्देशवाहन प्रणाली द्विमार्गी, खुली और प्रभावी होती है जिसमें औपचारिक और अनौपचारिक सम्प्रेषण सम्भव होता है। मैकग्रेगर की 'वाई' विचारधारा को प्रयुक्त करते हुए अधीनस्थों पर ही पूर्ण विश्वास एवं भरोसा किया जाता है। निर्णयन प्रक्रिया में अनुयायियों को सम्मिलित करने से निर्णय सरलता से क्रियान्वित हो जाते हैं।

लिकर्ट ने अपने निष्कर्ष में प्रणाली 4 का प्रबल समर्थन किया है। जिन प्रबन्धकों द्वारा सहभागी नेतृत्व का प्रयोग किया जाता है वे उच्चस्तरीय निष्पादन को प्राप्त करने में अत्यधिक सफल रहते हैं। इससे स्वस्थ और समर्थित वातावरण बनता है और कर्मचारियों के मनोबल और सन्तुष्टि में वृद्धि होती है। यह प्रामाणिक और तर्कसंगत शैली है जो मानव संसाधन विकास को सम्भव बना करके लोगों की सूचना, हिस्सेदारी, अन्तर्सम्पर्क, प्रभाव, उत्तरदायित्व, उपलब्धि और प्रगति सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा करती है। यह नेता और उसके अधीनस्थों के बीच घनिष्ठ व परस्पर सद्विश्वास और आदरपूर्ण सम्बन्धों को दर्शाता है। फिर भी, इस स्थिति में समूह की उत्पादकता नीची रहती है। लिकर्ट ने लोकतंत्र के सिद्धान्तों पर आधारित सहभागी नेतृत्व शैली को श्रेष्ठतम बताया है।

(ब) ब्लैके तथा मॉटन का प्रबन्धकीय संरचना –राबर्ट आर0 ब्लैके तथा जेने एस0 मॉटन ने

1954 में प्रकाशित पुस्तक 'The Managerial Grid' में नेतृत्व व्यवहार के विभिन्न वैकल्पिक प्रबन्ध शैलियों का संयोजन रेखाचित्रीय प्रतिरूप में प्रस्तुत किया है। विविध संगठनों में कार्यरत 5,000 प्रबन्धकों के अध्ययन के आधार पर ब्लैके तथा मॉटन ने X-अक्ष और Y-अक्ष पर नौ–बिन्दु परिमाप से प्रबन्धकीय संरचना का निर्माण किया। इस प्रकार नेतृत्व शैली के कुल 81 विविध स्थितियां बनीं। यह संरचना प्राप्त परिणामों को नहीं, बल्कि प्रत्याशित परिणाम हेतु प्रभावी तत्वों को बताता है। 81 प्रकार के सम्भावित संयोजनों में से दृष्टान्त के तौर पर पांच शैलियों का संयोजन तो संरचना में प्रस्तुत किया जाता है। इनमें से चार तो सांचा के चार सिरों पर तथा एक मध्य में स्थित है।

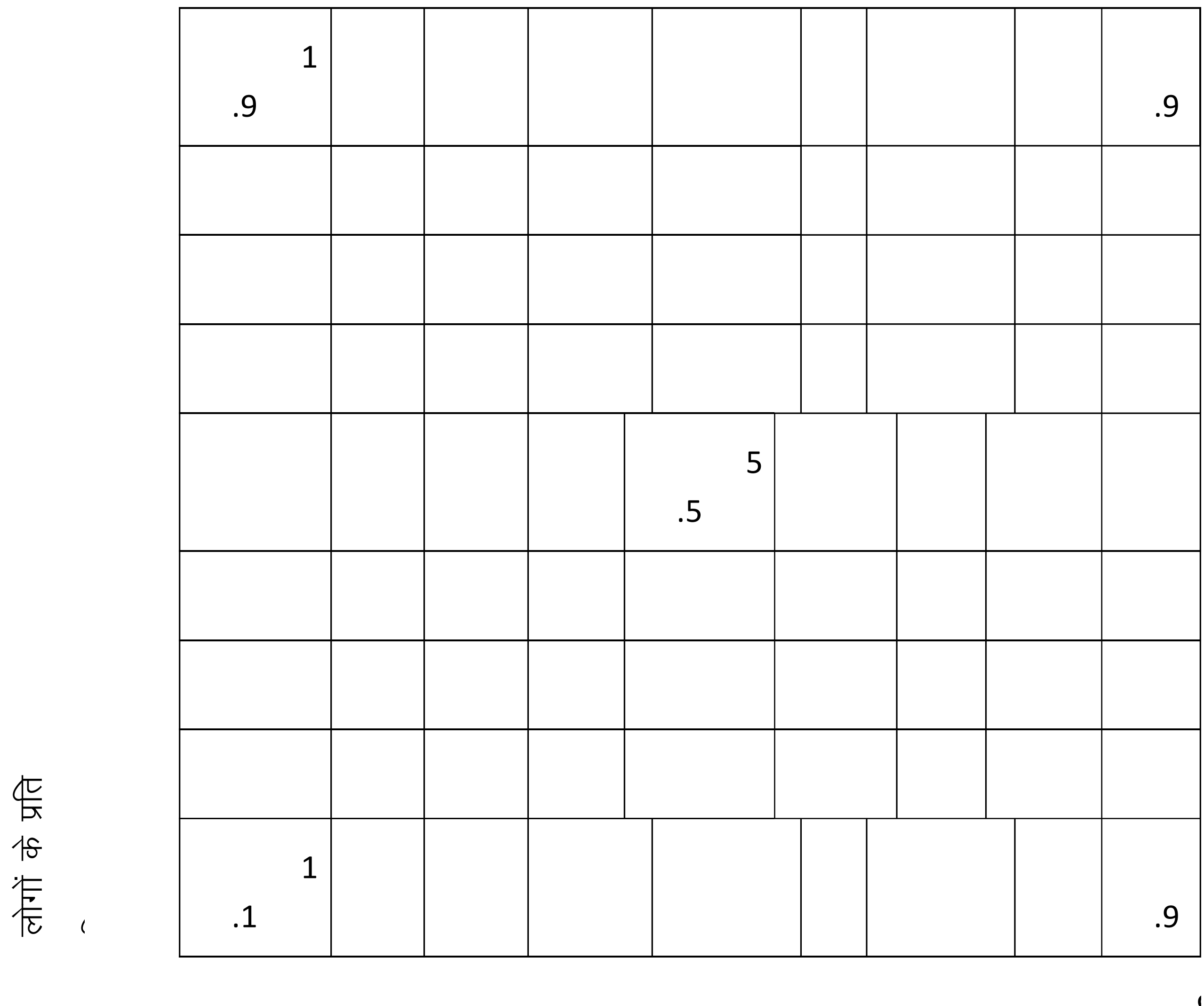

इस सांचा के पांच प्रमुख बिन्दुओं का वर्णन अग्र प्रकार है :

(क) 1.1 निरूपायी प्रबन्ध –उत्पादन और लोगों दोनों के प्रति कम दिलचस्पी रखने वाला यह

नेतृत्व निरूपायी है। इस संयोजन में नेता निरूत्साहित और अनुत्तरदायी होते है। अस्थायी प्रकृति के नेतृत्व की दशा में नेता लोगों से काम करवाने के प्रति लापरवाही दिखाते है।

(ख) 9.1 कार्य नेतृत्व –इससे उत्पादन केन्द्रित शैली होती है जिसमें लोगों के प्रति कम दिलचस्पी रखने काम अत्यधिक कराने पर जोर दिया जाता है। **इसमें** नेता अधिनायकवादी होता है जो अवपीड़न और धमकियों से काम चलाता है। लोगों की आवश्यकताओं और सन्तुष्टियों पर न्यूनतम जोर दिया जाता है।

(ग) 5.5 मध्यम मार्गी प्रबन्ध –यह एक सुरक्षित नेतृत्व शैली है जिसमें उत्पादन और लोगों के प्रति औसत रूचि रखी जाती है। इसमें नेता औसत लक्ष्यों

निम्न––उच्च

उत्पादन के प्रति चिन्ता

का निधारित करता ह आर लागा क निदशन पर बहुत आधक बल **नहा** दिया जाता है। उत्पादन और लोगों की सन्तुष्टि पर औसत रूप से ध्यान दिया जाता है, अधिकतम नहीं। इसमें द्विमार्गीय संदेशवाहन पाया जाता है, लोगों को निर्णयन में शामिल किया जाता है।

(घ) 9.9 टोली प्रबन्ध -यह शैली उत्पादन और लोगों के प्रति अधिकतम दिलचस्पी की काल्पनिक स्थिति को दर्शाता है। ब्लैके तथा मॉटेन का दवा है कि यह प्रबन्ध शैली सर्वाधिक प्रभावी नेतृत्व व्यवहार है। **laxBukRed** विकास पर बल दे करके प्रबन्धकों को लोगों व उत्पादन के रूचि विकसित करनी चाहिए। यह टोली प्रबन्ध शैली लिकर्ट के प्रणालों 4 के अनुरूप है जिसमें लोकतांत्रिक व सहभागी प्रबन्ध पर बल दिया जाता है।

(ङ) 1.9 देशी सभा प्रबन्ध –इसमें नेता लोगों को खुश रखने पर अधिक ध्यान देता है और उत्पादन के प्रति कम। वह सोवता है कि यदि वह कर्मचारियों का ध्यान रखेगा तो उत्पादन स्वतः ही होगा, परन्तु प्रसन्न **deZpkjh** उच्च स्तरीय उत्पादन भी करें, यह जरूरी नहीं है। प्रबन्धक लोगों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने पर ध्यान देता है जिससे कि सौहार्द्रपूर्ण वातावरण में लोग खुशी–खुशी काम करने को अभिप्रेरित हों।

ब्लैके तथा मॉटन ने नेतृत्व की उपरोक्त पांच शैलियों में टोली प्रबन्ध को श्रेष्ठतम बताया है जिसमें व्यक्तियों का निष्पादन उच्च स्तर का होता है और कर्मचारी–**lUrqf’V** भी अधिकतम रहती है। कोई भी प्रबन्ध कइस प्रबन्धकीय सांचे का उपयोग करते हुए अपनी वर्तमान नेतृत्व स्थिति की पहचान कर सकता है। यह प्रबन्धकीय सांचा विभिन्न नेतृत्व शैलियों का आकर्षक ढंग से परिचय और संयोजन प्रस्तुत करता है। परन्तु, इसकी प्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त और ठोस वैज्ञानिक शोध का आधार नहीं

है। यह प्रबन्ध जगत की एक लोकप्रिय अवधारणा है।

(स) टैनेबॉम तथा शिमिट का नेतृत्व पुंज – राबर्ट टैनेनबॉम तथा डब्ल्यू0 एच0 शिमिट ने नेतृत्व व्यवहार को एक ऐसे पुंज के रूप में दिखाया है जिसमें सात **शैलि**यों का समावेश होता है। दोनों विद्वानों ने बताया कि सातों शैलियों को एक दूसरे से अलग नहीं दिखाया जा सकता है और किसी भी नेतृत्व शैली की प्रभावशाली परिस्थिति पर निर्भर करती है। इस नेतृत्व पुंज के एक छोर पर अधिनायकवादी नेतृत्व होता है और दूसरे छोर पर अधिकार, शक्ति एवं प्रभाव संरचना सदस्यों की ओर झुकती है जो प्रजातांत्रिक शैली होगी। इन दोनों शीर्षो के मध्य अन्य पांच शैलियों अग्र प्रकार होती हैं–

नेतृत्व व्यवहार का पुंज

प्रबन्धक के लिए स्वतन्त्रता का क्षेत्र (प्रबन्धकीय भाक्ति एवं प्रभाव)				**गैर प्रबन्धक के लिए स्वतंत्रता का क्षेत्र (गैर प्रबन्धकीय भाक्ति एवं प्रभाव)**		
(1)	**(2)**	**(3)**	**(4)**	**(5)**	**(6)**	**(7)**
प्रबन्धक निर्णय लेता है और गैर प्रबन्धक स्वीकार करते है।	प्रबन्घकों को स्वीकृति प्राप्त करने से पूर्व निर्णय दूसरों को बताने होते है।	प्रबन्धक निर्णय प्रस्तुत करता है लेकिन वह गैर प्रबन्धकों के प्रश्नों का उत्तर देता है।	प्रबन्धक निर्णय प्रस्तुत करता है लेकिन अन्यों के सुझावों के प्राप्त होने पर इसमें अपेक्षित परिवर्तन की गुंजाइश रखता है।	प्रबन्धक समस्या प्रस्तुत करता है, अन्यों के सुझाव व विचार आमंत्रित करता है और तत्पश्चात् निर्णय करता है।	प्रबन्धक वह सीमाएं तय करता है जिसके भीतर गैर प्रबन्धक निर्णय लेते है।	प्रबन्धक और गैर प्रबन्धक संगठनात्मक सीमाओं के भीतर संयुक्त रूप से मिलकर निर्णय करते है।

16.7 प्रभावी नेता के लक्षण

विविध विद्वानों जैसे चेस्टर आई0 बनार्ड, हेनरी फेयोल, जी0 आर0 टेरी, आर्डवे टीड, सी0 एल0 उर्विक आदि ने नेतृत्व के भिन्न–भिन्न प्रकार के गुण बताए हैं। प्रसिद्ध प्रबन्ध विद्वान **श्री पीटरसन तथा प्लोमैन** ने कुशल नेतृत्व के गुणों को बड़े ही आकर्षक ढंग से निम्न तीन शारीरिक, बौद्धिक एवं मनोवैज्ञानिक भागों में विभाजित किया है, जिसमें अन्य सभी विद्वानों द्वारा बताए लगभग सभी गुणों का समावेश हो जाता है–

(क) शारीरिक गुण –यद्यपि प्रबन्ध एक चिन्तन प्रक्रिया है, फिर भी शारीरिक सुदृढ़ता आवश्यक है। वास्तव में, स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मस्तिष्क का निवास होता है। बिना शारीरिक गुण के नेता अपने अनुयायियों एवं अन्य व्यक्तियों को प्रभावित नहीं कर सकेगा। शारीरिक गुणों में निम्नलिखित को सम्मिलित किया जाता है–

(i) उत्तम स्वास्थ्य एवं आकर्षकता –नेता का स्वास्थ्य उत्तम एवं आकर्षक होना आवश्यक है जिससे कि वह महत्वपूर्ण कार्यों और उत्तरदायित्वों को जटिल एवं दबावपूर्ण वातावरण में निभा सके। अस्वस्थ व्यक्ति विविध बीमारियों का शिकार होने के कारण चिड़चिड़ा हो जाता है और उत्तरदायित्व से बचने हेतु कतार में सबसे पीछे खड़ा होना चाहता है। सफल नेतृत्व के वास्ते कठोर शारीरिक एवं तदैव मानसिक शक्ति का होना परमावश्यक है।

(ii) स्फूर्ति एवं सहनशीलता–एक कुशल नेता में स्फूर्ति और सहनशीलता दोनों का होना अति आवश्यक है। स्फूर्ति से आशय चैतन्यता व सजगता से है। सहनशीलता अथवा सहिष्णुता से आशय संकटकालीन परिस्थितियों में भी धैर्य से कार्य करने से है। एक नेता को सदैव भावी परिस्थितियों से सजग रहना चाहिए और आपत्तियों एवं कठिनाईयों में धैर्य नहीं खोना चाहिए। सजग और धैर्यवान नेता ही समस्याओं पर निरन्तर विचार करके प्रभावी समाधान खोज सकता है और अनुयायियों को मार्गदर्शित कर सकता है।

(ख) बौद्धिक गुण–शारीरिक गुणों के अतिरिक्त एक नेता में कम से कम अपने अनुयायियों से अधिक बौद्धिक गुण जरूर होना चाहिए। बौद्धिक गुणों में निम्नलिखित गुणों का समावेश होता है :

(i) मानसिक क्षमता –एक कुशल नेता में विकसित एवं संतुलित मानसिक क्षमता का होना आवश्यक है। मानसिक दृष्टि से विकसित एवं खुले विचार रखने वाला नेता ही परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल, सर्व स्वीकार्य और द्वेष रहित निर्णय ले सकता है। उसका मस्तिष्क इतना लोचशील एवं सक्षम होना चाहिए कि लकीर का फकीर न हो करके परिवर्तित परिवेश को स्वीकार करे।

(ii) निर्णयकता–एक कुशल नेता में स्वस्थ, शीघ्र एवं उपयुक्त निर्णय की क्षमता होनी चाहिए। वर्तमान एवं भावी परिस्थितियों, आंतरिक एवं बाह्य घटकों को ध्यान में रखते हुए नेता को दूरदर्शी, आत्मविश्वास और आत्मनियंत्रण युक्त शीघ्र निर्णय क्षमता होनी चाहिए।

(iii) सन्देशवाहन क्षमता –सफल नेतृत्व के लिए आवश्यक है कि नेता में बातचीत, भाषण एवं लेखन के माध्यम से अपने विचारों और भावों को सरल, स्पष्ट, सुनिश्चित और शक्तिशाली ढंग से व्यक्त करने की क्षमता हो। साथ ही, गुणग्राह्यता (Receptiveness) सफल प्रबन्धकीय सन्देशवाहन की कसौटी है। नेता को दूसरे के नये ज्ञान व विचारों को प्राप्त करने तथा प्रयोग में लाने की इच्छा शक्ति होना बहुत जरूरी है। दूसरों के विचारों और भावों का संक्षेप में सार ग्रहण करने की योग्यता नेता में होनी चाहिए। संदेशवाहन की क्षमता की आवश्यकता अनुनय–विनय करने, सूचना के आदान–प्रदान करने, अभिप्रेरण करने, निर्देशन व स्वैच्छिक सहयोग प्राप्त करने हेतु जरूरी होती है।

(iv) वैज्ञानिक दृष्टिकोण –एक सफल नेता में समस्याओं के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाने की क्षमता होनी चाहिए। भूल और सुधार के स्थान पर उसे तार्किक ढंग से सृजनात्मक चिन्तन के द्वारा तथ्यों को क्रमबद्ध ढंग से समझ करके सही परिप्रेक्ष्य में हल सोचना चाहिए।

(ग) मनोवैज्ञानिक गुण–उपरोक्त दोनों गुणों के अतिरिक्त एक कुशल नेता में मनोवैज्ञानिक गुणों का होना भी जरूरी है। तभी वह अपने अनुयायियों की भावना के अनुरूप कार्य करते हुए अपने नेतृत्व को कायम रख सकता है। ये मनोवैज्ञानिक गुण अग्रांकित हैं–

(i) व्यक्तिगत आकर्षकता –व्यक्तिगत आकर्षण शक्ति वह शक्ति है जो स्वतः ही अन्य व्यक्तियों के विश्वास एवं आदर को प्राप्त कर लेती है। यह गुण चरित्र का वह भाग है जो कुछ तो जन्मजात होता है और कुछ प्राप्त किया जा सकता है।

(ii) सहकारिता–नेता में अधिक से अधिक लोगों के साथ मिलकर कार्य करने की क्षमता होनी चाहिए जिससे कि वह अनुयायियों में सन्तुलन बनाये रख करके उनकी संख्या बढ़ाता रहे। उसमें समझौता करने, समायोजन करने और दूसरों को स्वीकारने की क्षमता होनी चाहिए।

(iii) उत्साह, साहस, चातुर्य और लगन –व्यवसाय में तरह–तरह के उतार–चढ़ाव आते ही रहते हैं अतः इनका सामना करने के लिए नेता में उत्साह, साहस, लगन और चातुर्य होना चाहिए। उसे व्यवहार कुशल और चतुर होना चाहिए जिससे कि अपने अनुयायियों को प्रभावित कर सके। उसे दूसरों के आक्षेपों से बचने के लिए चैतन्यशील मानसिक सतर्कता बरतने वाला होना चाहिए, परन्तु इसका अर्थ धोखा, असत्यता और विश्वासघात से नहीं लगाया जाना चाहिए।

(घ) अन्य गुण –एक कुशल नेता का बहुआयामी व्यक्तित्व होना चाहिए जिसमें उपरोक्त तीन प्रकार के गुणों के अतिरिक्त भी कुछ अन्य गुण आवश्यक होते हैं जैसे– (1) तकनीकी सामर्थ्य, (2) आत्मविश्वास, (3) उत्तरदायित्व की भावना, (4) प्रेरित करने की योग्यता, (5) मानवीय दृष्टिकोण, (6) सामाजिक चेतना, (7) हास्य क्षमता, (8) आकांक्षाशील, (9) वैयक्तिक चाल–चलन (10) अध्यवसायी, (11) प्रयत्नशीलता, (12) विश्लेषण एवं मूल्यांकन की योग्यता, (13) स्वामिभक्ति, तथा (14) सन्तुलित व्यक्तित्व।

16.8 मनोबल का अर्थ

मनोबल एक बहु–आयामी विचार है जिसके परिभाषा के संबंध में विद्वान एक मत नहीं है। सामान्यतः इसके अर्थ के बारे में निम्न तीन दृष्टिकोण प्रचलित हैं :

(अ) परंपरागत दृष्टिकोण –इसके अनुसार 'आधारभूत आवश्यकताओं की संतुष्टि' को ही मनोबल माना जाता है। अतः जिस व्यक्ति की आधारभूत आवश्यकताएं संतुलित रहती हैं उसका मनोबल ऊँचा रहता ह। रॉबर्ट गुयन के अनुसार, ''मनोबल एक व्यक्ति की आवश्यकताओं की संतुष्टि सीमा का बोध करता है।''

(ब) मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण –इस विचारधारा के अनुसार, ''मनोबल व्यक्तियों की भावनाओं, इच्छाओं, अभिवृत्तियों अथवा मनःस्थिति को व्यक्त करता है।''

एडिवन फिलिप्पो के अनसार, ''मनोबल एक मानसिक स्थिति या व्यक्तियों और समूहों की अभिवृत्ति है, जो उनकी सहयोग करने की स्वेच्छा का निधारण करती है।''

वेब्सटर के भाब्दों में, ''मनोबल वह मानसिक दशा है जो उत्साह, भावना, आशा, विश्वास जैसे मानसिक घटकों पर निर्भर करती है अथवा इनसे प्रभावित होती है।''

(स) सामाजिक दृष्टिकोण–यह दृष्टिकोण एल्टन मेयो तथा उसके साथियों के प्रयोगों के परिणामों पर आधारित है। इस दृष्टिकोण के अनुसार, ''मनोबल एक 'सामाजिक तत्त्व' है जो मनुष्य की अपने समूह से संबद्ध रहने की इच्छा से उत्पन्न होता है।''

विभिन्न विद्वानों द्वारा मनोबल की विभिन्न परिभाषाएं दी गयी हैं जिनमें से निम्न प्रमुख हैं :

1. **विलियम आर. स्प्रीगल** : ''मनोबल से आशय बहुत से व्यक्तियों के, जो आपस में किसी आधार पर एक–दूसरे से संबंधित है, सहकारी दृष्टिकोण या सामूहिक मानसिक अवस्था से है।''
2. **डेल योडर** : ''मनोबल रोजगार के प्रति कर्मचारियों की अवस्थाओं, उनके वैयक्तिक कृत्यों, जिनके साथ वे कार्य करते हैं, उनके पर्यवेक्षकों , उनके संघ, कार्य की दशाओं और संपूण रोजगार के प्रति एक संश्लेषण की तरह माना गया है।''
3. **कीथ डेविस** के अनुसार, ''मनोबल की व्यक्तियों तथा समूहों के अपने कार्य वातावरण के प्रति अभिव्यक्ति और संगठना के सर्वोत्तम हितों की पूर्ति हेतु अपनी संपूर्ण योग्यता से ऐच्छिक सहयोग प्रदान करने के प्रति दृष्टिकोण के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।''
4. **थियो हैमेन** के मतानुसार, ''मनोबल मस्तिष्क एवं मनोभावों की वह स्थिति है जो कार्य करने की इच्छा एवं मनोवृत्ति को प्रभावित करती है, जिससे वैयक्तिक एवं संगठनात्मक उद्देश्य प्रभावित होते हैं।''

उपर्युक्त परिभाषाओं के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि मनोबल व्यक्तियों एवं समूह की वह मनोदशा, भावना तथा अभिवृत्ति है जो उन्हें अपने कार्य, समूह तथा संगठन के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए स्वेच्छा से एवं तत्परता से सहयोग के लिए प्रेरित करती है।

16.9 मनोबल का महत्त्व

मनोबल का उद्योग, पर अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि मनोबल कार्य करने की एक कुंजी है। यह एक ऐसा चिकना पदार्थ है जो उपक्रम को चालू रखता है। मशीन और मनुष्य में सबसे बड़ा अंतर है कि मनुष्य द्वारा उत्पादन इस बात पर निर्भर, करता है कि उसे उनका कार्य कैसा लगता है, जिसके साथ वह कार्य करता है, वे लोग उसे कैसे लगते हैं। और उस उद्योग के प्रति उसके भाव कैसे हैं, जिसमें वह कार्य कर रहा है। मशीन में इस प्रकार की कोई भावना नहीं होती। उसे काई भी चलाये, वह अपना कार्य करेगी। अतः श्रमिक पूर्ण तत्परता और सहयोग से कार्य करेंगे और उनका मनोबल तभी ऊँचा होगा जब वे पूर्णतया संतुष्ट होंगे। ऊंचे मनोबल से उद्योग में स्वस्थ वातावरण बना रहता है और उद्योग के अंतर्गत अधिकतम उत्पादन का लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है। मनोबल से श्रमिकों में सहयोग की भावना जाग्रत हो जाती है। मनोबल वस्तुतः एक प्रकार की मानसिक शांति है, जिसमें कर्मचारी संतुष्ट होकर मन लगाकर कार्य करने के लिए प्रेरित होता है और व्यवसाय के सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति हेतु कठोर परिश्रम से भी नहीं डरता। अच्छे मनोबल से उपक्रम को लाभ प्राप्त होते हैं, जबकि बुरे मनोबल से उत्पादकता में कमी, कार्य से बिलगाव, श्रमिकों की अनुपस्थिति, आपस में मनमुटाव, शिकायतें दुर्घटनाएं, निमों की अवहेलना आदि होती है।

मनोबल कार्य करने की शक्ति एवं प्रेरणा है। इसके अभाव में क्रिया–तंत्र शिथिल हो जाता है। **रोथलिसबर्जर** लिखते हैं, ''एक संस्था के लिए मनोबल का वही महत्त्व है जो एक भौतिक शरीर के लिए स्वास्थ्य का है।'' एक उपक्रम के लिए मनोबल के महत्त्व को निम्न बिंदुओं द्वारा समझा जा सकता है :

1. उच्च मनोबल व्यक्तियों एवं समूह में कार्य के प्रति इच्छा, जोश, उत्साह बिंदुओं द्वारा समझा जा सकता है :
2. उच्च मनोबल से उपक्रम की उत्पादकता में वृद्धि होती है। कर्मचारी लगन एवं उत्साह से कार्य करते हैं। जिसका अनुकूल प्रभाव उत्पादकता पर पड़ता है।
3. कर्मचारियों के उच्च मनोबल से उपक्रम के लक्ष्यों को सुगमता से प्राप्त किया जा सकता है।
4. उच्च मनोबल वाले कर्मचारी का व्यवहार सहयोगात्मक एवं अपनत्व से परिपूर्ण होता है जिससे बाह्य पक्षकार संतुष्ट होते हैं। इसके परिणामस्वरूप उपक्रम की प्रतिष्ठा में वृद्धि होती है।
5. उच्च मनोबल के कारण कर्मचारी उपक्रम को छोड़ कर कहीं अन्य जगह नहीं जाते हैं जिससे नयी भर्ती एवं प्रशिक्षण व्यय में कमी आती है।

6. उच्च मनोबल से उपक्रम के संसाधनों का मितव्ययतापूर्वक उपयोग होता है, अपव्यय समाप्त हो जाता है तथा लागतों में कमी आती है।

7. इससे उपक्रम के प्रति निष्ठा एवं अपनत्व की भावना उत्पन्न होती है।

8. संकटकालीन परिस्थितियों में कर्मचारी एवं समूह उपक्रम को उबारने की चेष्टा करते हैं।

9. इससे अनेक श्रम–समस्याएं, जैसे–हड़ताल, तालाबंदी, तोड़–फोड़, घेराव, आदि स्वतः दूर हो जाती हैं।

16.10 मनोबल को निर्धारित करने वाले तत्त्व

मनोबल की प्रकृति मनोवैज्ञानिक एवं अदृश्य है, अतः मनोबल को ऊँचा उठाना एक कठिन कार्य है। निम्न मनोबल की स्थिति में उसके कारणों की खोज कर दूर करने के उपाय किये जाने चाहिए। निम्नलिखित उपायों के द्वारा कर्मचारियों के मनोबल को ऊँचा रखा जा सकता है :

1. **उपक्रम की संगठन संरचना** : उपक्रम की संगठन रचना का प्रभाव मनोबल पर पड़ता है। प्रायः यह देखा जाता है कि लघु आकार के व्यवसाय में कर्मचारी और प्रबंध के स्वामित्व के कारण कर्मचारियों का मनोबल ऊँचा रहता है। तुरंत कोई कारण नहीं है कि संगठन की संरचना को प्रभावशाली बना कर बड़े आकार के उपक्रम में भी मनोबल को प्रभावित किया जा सकता है। संगठन में विकेंद्रीकरण के उपयोग और संप्रेषण व्यवस्था द्वारा ऐसा किया जाना संभव है।

2. **प्रबंधकों का व्यवहार** : कर्मचारियों के मनोबल को प्रभावित करने वाला एक प्रमुख घटक प्रबंधकों का कर्मचारियों के प्रति व्यवहार है। अतः प्रबंधकों का अपने कर्मचारियों के प्रति सामान्य व्यवहार मानवोचित होना चाहिए।

3. **प्रभावी देख–रेख** : कर्मचारी अपने जिन निकटतम अधिकारियों के संपर्क में आता है उनका व्यवहार और कौशल भी कर्मचारियों के मनोबल को प्रभावित करता है। वह अधिकारी ही अपने आचरण से कर्मचारियों की निष्ठा, आज्ञाकारिता और सद्‌भावना प्राप्त कर सकते हैं।

4. **कार्य में संतुश्टि** : मनोबल को ऊँचा रखने के लिए आवश्यक है कि कर्मचारी अपने द्वारा किये गये कार्य से पूर्ण संतोष का अनुभव करें। यह तभी संभव है जबकि उसके कार्य की दशाएं संतोषजनक हों और उसे विकास का पूरा अवसर प्राप्त हों।

5. **कार्य की समीक्षा** : भविष्य के प्रति पूर्ण आश्वस्त होने पर ही कर्मचारी कार्य के प्रति निष्ठावान बनता है। अतः कर्मचारियों की अपनी योग्यता से संतोषजनक कार्य करने पर रोजगार की सुरक्षा

का आश्वासन होना चाहिए।

6. **उत्प्रेरणाएं** : औद्योगिक मनोबल पर संस्था द्वारा दी जाने वाली उत्प्रेरणाओं का भी की प्रभाव पड़ता है, क्योंकि प्रत्येक कर्मचारी की यह इच्छा रहती है कि उसे उसकी योग्यता, परिश्रम और उत्तरदायित्व के अनुसार पारितोषण दिया जाये। अतः कर्मचारियों को प्राप्त होने वाली विभिन्न उत्प्रेरणाएं एवं पारितोषण उसी प्रकृति के कार्य के संबंध में अन्य संस्थाओं के कर्मचारियों को मिलने वाली उत्प्रेरणाओं एवं पारितोषण के बराबर होना चाहिए।

7. **कर्मचारी कल्याण** : औद्योगिक मनोबल को प्रभावित करन वाला एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व यह भी है कि उपक्रम कर्मचारियों के कल्याण एवं उनकी उन्नति एवं विकास में कितनी रूचि लेता है। यह तत्त्व कर्मचारियों के मस्तिष्क और हृदय दोनों को ही प्रभावित करता है।

8. **प्रभावी संप्रेशण व्यवस्था** : प्रभावी संप्रेषण व्यवस्था से कर्मचारियों एवं प्रबंधकों में विभिन्न सूचनाओं के आदान–प्रदान संभव होता है। इससे आपसी विवाद सरलता से निबटाये जाते हैं। दोनों पक्षों को आवश्यक सूचनाएं मिलती रहती हैं जिससे फलस्वरूप कर्मचारी–मनोबल का विकास होता है।

9. **प्रशिक्षण** : प्रशिक्षण से कर्मचारियों के आत्मविश्वास में वृद्धि होती है तथा उनका मनोबल ऊंचा उठता है।

10. **प्रभवी नेतृत्व** : नेतृत्व दूसरों के व्यवहार को निर्देशित करने का कार्य है। योग्य नेतृत्व कर्मचारियों को उचित दिशा–बोध प्रदान करके उनके उत्साह को बढ़ाता है।

10. **संघर्श प्रबंध** : मतभेद एवं संघर्ष कर्मचारियों की असंतुष्टि को बढ़ाते हैं। अतः यदि इनके निपटारे की उचित व्यवस्था कर दी जाती है तो कर्मचारी का उत्साह एवं मनोबल बना रहता है।

11. **सहभागिता** : यह प्रबंधकीय कार्यों में श्रमिकों का सक्रिय सहयोग प्राप्त करने की योजना है। कर्मचरियों को प्रबंध कार्यों एवं निर्णयन में सहभागी बनाकर संस्था के प्रति उनकी निष्ठा एवं मनोबल को बढ़ाया जा सकता है।

16.11 मनोबल एवं नेतृत्व में संबंध

	अंतर का आधार	मनोबल (Morale)	नेतृत्व (Leadership)

1.	प्रकृति	यह कार्य के प्रति मनोवृत्ति को दर्शाता है।	यह समुह के प्रति मार्ग दर्शन को दर्शाता है।
2.	मनोदशा	यह मूलतः सामूहिक मनोदशा का द्योतक है।	यह मार्गदर्शन की सामूहिक प्रक्रिया है।
3.	उत्पत्ति	भावनाओं के कारण मनोबल की उत्पत्ति होती है।	नेतृत्व आपसी संबंधों की स्थिति में जन्म लेता है।
4.	स्थिति	यह मानसिक अवस्था को प्रकट करता है।	ये अनुयायियों और नेता के बीच संबंध को प्रकट करता है।
5.	घटक	मनोबल विभिन्न घटकों से प्रभावित होता है। जैसे कार्य, वातावरण, उद्देश्य, अधिकार, दायित्व आदि।	नेतृत्व एक बड़ी सीमा पर परिस्थितियों से प्रभावित होता है।
6.	क्षेत्र	मनोबल में कार्य की इच्छा और क्षमता दोनों ही शामिल है।	नेतृत्व व्यक्ति की निजी एवं आचरणगत योग्यता है। जिससे वह दूसरों को प्रभावित एवं निर्देशित करता है।

16.12सारांश

किसी भी संस्था की सफलता या असफलता काफी हद तक नेतृत्व की किस्म पर निर्भर करती है। सामान्यतया नेतृत्व से तात्पर्य किसी व्यक्ति विशेष के उस गुण से है जिसके माध्यम से वह अनुयायियों का मार्गदर्शन करता है तथा नेता के रूप में उनकी क्रियाओं का निर्देशन करता है। अन्य शब्दों में, नेतृत्व से आशय ऐसी क्षमता से है जिसके द्वारा कोई व्यक्ति अपने प्रभाव से अनुयायियों को प्रभावित करता है, उनका मार्गदर्शन करता है और उन्हें निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए कार्य करने के लिए प्रोत्साहित करता है।

चेस्टर आई0 बर्नार्ड के भाब्दों में, ''नेतृत्व का आशय व्यक्ति के व्यवहार के उस गुण से है जिसके द्वारा वह अन्य लोगों को संगठित प्रयास से सम्बन्धित कार्य करने में मार्गदर्शन करता है।''

नेतृत्व वास्तव में, एक प्रेरक शक्ति है जो नियत उद्देश्य की प्राप्ति हेतु लोगों को कार्य करने के लिए प्रेरित करती है। अभिप्रेरण शक्ति, सहयोग की आधारशिला, उपक्रम के क्रियाओं का सुचारू रूप

से संचालन, व्यावसायिक सफलता हेतु, व्यक्तित्व के विकास हेतु, सामाजिक उत्तरदायित्वों की पूर्ति आदि के रूप में प्रबन्धकीय नेतृत्व महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इसके साथ–साथ संस्था में नेतृत्व की शैलियां भी विभिन्न प्रकार की होती है। (1) अभिप्रेरणात्मक शैली – धनात्मक अभिप्रेरणात्मक शैली और ऋणात्मक अभिप्रेरणात्मक शैली, (2) शक्ति शैली – निरंकुश, जनतंत्रात्मक एवं निर्बाध, और (3) पर्यवेक्षकीय शैली – कर्मचारी अभिमुखी शैली एवं उत्पादन अभिमुखी शैली।

नेतृत्व की विचारधारा में विद्वानों का एकमत नहीं है। कुछ विचारकों का मत है कि, नेता जन्म लेते है और बनाए नहीं जाते। इसके विपरीत कुछ विद्वान यह मानते है कि नेता जन्म भी लेते है और प्रशिक्षण के द्वारा तैयार भी किए जाते है। इन सभी मान्यताओं के कारण अनेक विचारधाराओं का जन्म हुआ – (1) महान – व्यक्ति विचारधारा, (2) गुणमूलक विचारधारा, (3) नेतृत्व का परिस्थित्यात्मक विचारधारा, (4) नेतृत्व का अनुयायी विचारधारा, (5) नेतृत्व का पथ–लक्ष्य विचारधारा, एवं (6) नेतृत्व की व्यवहारवादी विचारधारा।

प्रसिद्ध प्रबन्ध विद्वान श्री पीटरसन तथा प्लोमैन ने कुशल नेतृत्व के गुणों को बड़े ही आकर्षक ढंग से निम्न तीन शारीरिक, बौद्धिक एवं मनोवैज्ञानिक भागों में विभाजित किया है, जिसमें अन्य सभी विद्वानों द्वारा बताए लगभग सभी गुणों का समावेश हो जाता है।

मनोबल व्यक्तियों एवं समूह की वह मनोदशा, भावना तथा अभिवृत्ति है जो उन्हें अपने कार्य, समूह तथा संगठन के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए स्वेच्छा से एवं तत्परता से सहयोग के लिए प्रेरित करती है। मनोबल का उपक्रम में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि मनोबल कार्य करने की एक कुंजी है। यह कार्य करने की शक्ति एवं प्रेरणा है। इसके अभाव में क्रिया–तंत्र शिथिल हो जाता है।

16.13 महत्वपूर्ण शब्दावली

- **नेतृत्व** –नेतृत्व व्यक्ति के व्यवहार का वह गुण हैजिसके द्वारा अनुयायियों के किसी समूह से वांछित कार्य स्वेच्छापूर्वक एवं बिना किसी दबाव के प्राप्त किये जाते हैं।
- **धनात्मक अभिप्रेरणात्म शैली** –जब नेता अपने अनुयायियों को मौद्रिक तथा अमौद्रिक प्रेरणाएं देकर काम करने के लिए आवश्यक निर्देश देता है तो इसे धनात्मक अभिप्रेरण शैली कहते हैं।
- **ऋणात्मक अभिप्रेरणात्मक शैली** –इस शैली में नेता डरा–धमकाकर, दण्ड का भय दिखाकर, कार्य से हटाने, वेतन में कमी करने और अधिक समय तक काम लेने की धमकी देकर कार्य हेतु अभिप्रेरित किया जाता है।
- **निरंकुश शैली** – इस प्रकार की शैली में नेतृत्व की सभी अधिकार नेता के पास केन्द्रित रहते हैं।
- **जनतन्त्रात्मक शैली** – नेतृत्व की इस अति आधुनिक और सर्वमान्य शैली को कर्मचारी उन्मुख

व केन्द्रित शैली, परामर्शात्मक शैली व सहभागितात्मक शैली की भी संज्ञा प्रदान की गई है।

- **निर्बाध शैली** – इस शैली में नेता अनुयायियों के कार्यों में न्यूनतम अथवा न के बराबर हस्तक्षेप करता है।
- **मनोबल** – मनोबल व्यक्तियों एवं समूह की वह मनोदशा, भावना तथा अभिवृत्ति है जो कार्य करने की इच्छा एवं मनोवृत्ति को प्रभावित करती है, जिससे वैयक्तिक एवं संगठनात्मक उद्देश्य प्रभावित होते है।

16.14 आवश्यक प्रश्न

1. रेन्सिस लिकर्ट के 1–4 नेतृत्व प्रणालियों की विवेचना कीजिए। लिकर्ट ने इनमें से किस नेतृत्व शैली का समर्थन किया है और क्यों ?
2. (अ) प्रबन्धकीय संरचना, (ब) नेतृत्व पुंज पर एक व्याख्यात्मक टिप्पणी लिखिए।
3. ''नेता जन्म लेते हैं और बनाए नहीं जाते'' इस कथन का विस्तार कीजिए और नेतृत्व के महान–व्यक्ति विचारधारा का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
4. नेतृत्व के कार्यों और महत्व को संक्षेप में बताइए।
5. 'नेतृत्व' क्या है ? इसके मुख्य विशेषताओं और कर्तव्यों का वर्णन कीजिए।
6. 9, 9 नेतृत्व से आप क्या समझते हैं? एक प्रभावी नेतृत्व के लिए आप कौन से गुण आवश्यक समझते हैं ?
7. नेतृत्व के लक्षणों की संक्षेप में व्याख्या कीजिए और उसके महत्व की चर्चा कीजिए।
8. प्रबन्ध के कार्य के रूप में 'नेतृत्व' को परिभाषित कीजिए ओर उसके महत्व की विवेचना कीजिए।
9. नेतृत्व के महत्व, लक्षणों और कार्यों को संक्षेप में बताइए।

कुछ उपयोगी पुस्तकें

- प्रबन्ध के सिद्धान्त एस के सिंह प्रयाग पुस्तक भवन इलाहाबाद 2006
- व्यावसायिक प्रबन्ध ओ. पी. राय बी. के. सिंह वैभवसम्मी प्रकाशन, वाराणासी, 2012
- औद्योगिक संगठन एवं प्रबन्धन, आर.सी. गुप्ता, साहित्य भवन पब्लिकेशन आगरा, 2003
- व्यवसायिक संगठन, जगदीष प्रकाश, प्रयाग पुस्तक भवन, 2014
- औद्योगिक प्रबन्ध, जे.के. जैन, प्रतीक प्रकाशन आगरा, 2001

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, प्रयागराज

DCB.Com.-101
प्रबन्ध सिद्धान्त

खण्ड

5

खण्ड 05 समन्वय एवं नियंत्रण

इकाई –17 समन्वय	271–283
इकाई –18 सम्प्रेषण	285–309
इकाई –19 नियंत्रण	311–322
इकाई –20 नियंत्रण की तकनीकें	323–336

विशेषज्ञ समिति

प्रो. अरविन्द कुमार — वाणिज्य संकाय, लखनऊ, विष्वविद्यालय लखनऊ,

प्रो. गीतिका — विभागाध्यक्ष, प्रबन्ध अध्ययन विद्याषाखा, एम.एम.एन.आई.टी. इलाहाबाद

प्रो. एच.के. सिंह — वाणिज्य संकाय, बी.एच.यू. वाराणसी

डॉ. ओमजी गुप्ता — निदेषक, प्रबन्धन अध्ययन विद्याषाखा इलाहाबाद

लेखक

डॉ. मीरा सिंह, — सहायक आचार्य वाणिज्य विभाग, यू.पी. कालेज, वाराणासी, उ.प्र.

सम्पादक

प्रो. सुधीर कुमार शुक्ला — वाणिज्य एवं प्रबन्धन संकाय, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणासी उ.प्र.

संयोजकः

डॉ देवेश रंजन त्रिपाठी, — सह.आचार्य, व्यापार प्रबन्धन, प्रबन्धन अध्ययन विद्याशाखा, उ. प्र. राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

अनुवाद की स्थिति में

मूल लेखक — अनुवाद

मूल सम्पादक — भाषा सम्पादक

मूल परिमापक — परिमापक

Printed year-2021
ISBN:978-93-83328-78-9

(c) उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद सर्वाधिकार सुरक्षित। इस पाठ्यसामग्री का कोई भी अंश उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

नोट–पाठ्य सामग्री में मुद्रित सामग्री के विचारों एवं आकड़ों आदि के प्रति विश्वविद्यालय उत्तरदायी नहीं है।

खण्ड 05 समन्वय एवं नियंत्रण

प्रस्तुत खण्ड स्नातक वाणिज्य कार्यक्रम के अर्न्तगत महत्वपूर्ण पाठ्यक्रम प्रबन्धन के सिद्धान्त का अन्तिम खण्ड है। यह खण्ड मूल रुप से चार इकाईयों मूलरुप से समन्वय एवं नियंत्रण की अवधारणाओं को विस्तृत रुप से विश्लेषित करती हैं। इस खण्ड के प्रमुख अवधारणाएँ में समन्वयक की अवधारणा, इसके सिद्धान्त, प्रबन्ध तकनीके इसके विभिन्न प्रकार, सम्प्रेषण की अवधारणा, कुषल नियंत्रण की आवष्यकताएँ, नियंत्रण प्रक्रिया के चरण, नियंत्रण की परम्पगत तथा आधुनिक तकनीकि की अवधारणाये है। आइये अध्ययनोपयोगी सम्मिलित की गयी चारो इकाईयों को क्रमबद्ध करते हुए इसकी विषय वस्तु को समझने का प्रयास करेः–

इकाई 17 में संमन्वय की परीभाषा, समन्वय बनाम सहकारिता,समन्वय की आवष्यकता एवं महत्व, समन्वय के उद्देष्य, समन्वय के उद्देष्य, समन्वय के प्रकार, समन्वय के सिद्धान्त समन्वय की प्रबन्ध तकनीके, समन्वय की समस्याएँ।

इकाई 18 में सन्देष वाहन का अर्थ और परिभाषाएँ, सन्देषवाहन की प्रकृति अथव लक्षण, सन्देषवाहन प्रक्रिया के आवष्यक चरण, प्रभावी सन्देषवाहन की विषेषताएँ, संदेषवाहन के सिद्धान्त, सन्देषवाहन का महत्त्व, सन्देषवाहन के माध्यम, प्रभावी सन्देषवाहन में बाधाएँ, प्रभावी सन्देषवाहन निर्मित करने हेतु सुझाव।

इकाई 19 में नियंत्रण की परिभाएं, नियंत्रण के लक्षण, नियंत्रण के क्षेत्र कुषल नियंत्रण की अवष्यकताएँ, नियंत्रण का महत्त्व, नियंत्रण की सीमाये, नियंत्रण प्रक्रिया के चरण।

इकाई 20 में नियंत्रण की परम्परागत तथा आधुनिक तकनीके।

इकाई– 17 समन्वय

इकाई की रूपरेखा

17.0 प्रस्तावना

17.1 उद्देश्य

17.2 समन्वय की परिभाषाएँ

17.3 समन्वय बनाम सहकारिता

17.4 समन्वय की आवश्यकता एवं महत्व

17.5 समन्वय का उद्देश्य

17.6 समन्वय के प्रकार

17.7 समन्वय के सिद्धान्त

17.8 समन्वय की प्रबन्ध तकनीकें

17.9 समन्वय की समस्याएं

17.10 सारांश

17.11 महत्वपूर्ण सारांश

17.12 आवश्यक प्रश्न

17.0 उद्देश्य

इस अध्याय के अध्ययन से आप निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर दे पायेंगे।

- ❖ आंतरिक और बाह्म समन्वय से आप क्या समझते हैं ?
- ❖ समन्वय के महत्व पर अपने विचार प्रकट कीजिए।
- ❖ समन्वय और सहयोग में अन्तभेद कीजिए।
- ❖ प्रबन्ध प्रक्रिया में समन्वय के महत्व का संक्षिप्त उल्लेख कीजिए।
- ❖ समन्वय के प्रमुख सिद्धान्तों की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए।

17.1 प्रस्तावना

समन्वय प्रबन्ध का सार है जो उपक्रम के विभिन्न क्रियाओं और विभागों में तालमेल रखता है। **कुण्ट्ज एवं ओ' डोनेल** के शब्दों में, ''समन्वय प्रबन्ध का केवल प्रकार्य ही नही है, वह तो प्रबन्ध का सार है।'' यह बिखरे हुए तत्वों को किसी उद्देश्य के लिए श्रृंखलाबद्ध करके एक सूत्र में पिरों देता है।

इसी कारण से कुछ विद्वान समन्वय को प्रबन्ध का पृथक कार्य नही मानते हुए समस्त प्रबन्ध का सार तत्व मानते हैं। यह विभिन्न विभागों, कर्मचारियों और साधक अंगों में एकीकरण स्थापित करता है जिससे कि न्यूनतम लागत पर वांछित लक्ष्य प्राप्त हो सकें।

साधारण शब्दों में, समन्वय का तात्पर्य किसी भी निर्दिष्ट लक्ष्य की पूर्ति हेतु की जाने वाली विविधास प्रक्रियाओं में तालमेल बनाए रखने से होता है। यह तालमेल केवल व्यक्तियों और उनकी क्रियाओं के तालमेल तक ही सीमित स्वरूप होता है अपितु कार्य की गति, कार्य की विधि, संगठन की संरचना और संगठन के सदस्यों के वैयक्तिक एवं सामूहिक प्रयत्नों के बीच एकीकरण की स्थापना तक से सम्बन्धित होता है। यह प्रशासनिक कार्यों की ऐसी कुंजी है जिससे एक अधिशासी अपने अधीनस्थों के सामूहिक प्रयासों में एक सुव्यवस्थित स्वरूप का विकास करता है और सामान्य उद्देश्यों की प्रप्ति के लिए क्रियाओं में एकरूपता लाता है।

17.2 समन्वय की परिभाशाएँ

समस्त प्रबन्धकीय कार्यो को समन्वय के द्वारा ही पूरा किया जा सकता है। समन्वय पारम्परिक सहयोग में वृद्धि करके उपक्रम का सफल संचालन बनाता है। समन्वय की कुछ प्रमुख परिभाषाएं निम्नलिखित हैं :

1. **मूने एवं रैले के** शब्दों में, ''किसी सामान्य उद्देश्य की पूर्ति हेतु की जाने वाली विभिन्न क्रियाओं के मध्य एकता बनाए रखने के उद्देश्य से सामूहिक प्रयत्नों में सुव्यवस्था करने को समन्वय कहते हैं।''
2. **आर्डवे टीड के** अनुसार, ''समन्वय उद्यम के लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु इसके विभिन्न अंगो की क्रियाओं और शक्तियों में पारम्परिक सम्बन्धों की मधुरता एवं सहजता को सुनिश्चित करने का प्रयास है जिससे कि न्यूनतम संघर्ष एवं अधिकतम सामूहिक क्षमता के साथ उद्देश्यों की प्राप्ति हो सके।''
3. **ई. एफ. एल. ब्रेच के कथनानुसार, ''** समन्वय का अर्थ विभिन्न सदस्यों में चालू कार्यो का उपयुक्त आबंटन करके तथा यह निश्चय करके कि सदस्य उन कार्यो को सद्भावनापूर्वक कर रहे है, संगठन में सन्तुलन एवं टीम भावना बनाए रखना है।''
4. **जॉर्ज आर. टैरी के अनुसार, ''**समन्वय निर्धारित लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्नों का नियमित समाकलन है ताकि निष्पादन की उपयुक्त मात्रा, समय एवं चाल से क्रियाओं में सामंजस्य एवं एकता स्थापित हो जाये।''
5. **हेनरी फेयोल के भाब्दों में, ''**समन्वय किसी संस्था की सभी क्रियाओं में समरसता स्थापित करता है, ताकि उसका कार्य सुविधाजनक ढंग से एवं सफलतापूर्वक चलता रहे''

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि समन्वय एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा उपक्रम की विविध क्रियाओं में सामंजस्य स्थापित किया जाता है जिससे निर्धारित लक्ष्यों को आसानी से प्राप्त किया जा सके। समन्वय की प्रमुख विशेषताएं ये हैं– (1) समन्वय एक सतत् प्रक्रिया है जो सदैव चलती रहती है। (2) उपक्रम में समन्वय स्थापित करने का कार्य प्रबन्धकों का है। (3) समन्वय का प्रमुख उददे्श्य संस्थागत लक्ष्य को प्राप्त करना है। (4) समन्वय समूह प्रयत्नों का क्रमानुसार एकीकरण करता है। (5) यह प्रबन्ध का प्रकार्य ही नही वरन् सार भी है। (6) यह कार्यो में एकरूपता लाता है। (7) समन्वय समयानुकूल होता है जो क्षैतिज और लम्बवत् तथा आंतरिक व बाह्य दोनों प्रकारों का होता है। (8) यह सहकरिता से भिन्न है। (9) समन्वय के प्रमुख तत्व सहयोग, मधुर मानवीय सम्बन्ध, परस्पर समझ और भावपूर्ण सन्देशवाहन होते है।

17.3 समन्वय बनाम सहकारिता

समन्वय और सहकारिता में अन्तर है और दोनों शब्दों को एक–दूसरे के पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त नहीं किया जा सकता है। सहकारिता स्वेच्छा से एक दूसरे की सहायता करने की भावना से सम्बन्धित है। इसका नारा होता है। **''सब एक के लिए एक सब के लिए।''** समन्वय शब्द सहकारिता से अधिक विस्तृत है। समन्वय में अधिकारी द्वारा निर्देशित विधि से कर्मचारियों द्वारा मिल जुलकर कार्य को कराया जाता है। इस प्रकार समन्वय के लिए सहयोग का होना आवश्यक तो है, किन्तु मात्र सहकारिता की भवना से समन्वय की स्थापना नही की जाती है। सहकारिता समूह में कार्य करने की स्वैच्छिक मनोवृत्ति है जबकि समन्वय निर्देशन के माध्यम से प्रबन्धको द्वारा स्थापित किया जाता है। **हरबर्ट साइमन** के अनुसार ''सहकारिता की सफलता समन्वय पर निर्भर करती है। इसके अभाव में सहकारिता अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने में असफलता रहता है।'' इस प्रकार की तुलना में समन्वय अधिक महत्वपूर्ण है। समन्वय स्वेच्छा से उत्पन्न नही होता है और उच्च प्रबन्ध द्वारा उत्पन्न किया जाता है। इसमें समय, मात्रा तथा निर्देशन के तत्व आवश्यक रूप से सम्मिलित होते है। सहकरिता की भावना होते हुए भी सामूहिक लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु समन्वय की आवश्यकता होती है।

17.4 समन्वय की आवश्यकता एवं महत्व

प्रबन्ध में समन्वय के महत्व को निम्नलिखित शीर्षकों में आसानी से स्पष्ट किया जा सकता है :

1. **विविधता में एकता** –प्रत्येक उपक्रम में लगे कर्मचारी भिन्न–भिन्न विचारधाराओं के होते हैं। उनके द्वारा सम्पन्न की जाने वाली क्रियाएं भी भिन्न–भिन्न होती हैं। इन सभी के मस्तिष्क अलग–अलग होते हैं परन्तु लक्ष्य समान होते हैं। कार्यो में विविधता होने पर भी समन्वय लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु एकीकरण, तालमेल और एकता स्थापित करके संस्था के लक्ष्यों की प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त करता है। **कुण्ट्ज एवं ओ डोनेल** '' प्रबन्धक का प्रमुख कार्य दृष्टि, प्रयत्न अथवा हित के अन्तरों में समन्वय स्थापित करना तथा व्यक्तिगत लक्ष्यों एव क्रियाओं के मध्य सामंजस्य स्थापित करना है ताकि उद्देश्यो ंकी प्राप्ति की जा सके।''

2. **आदेश की एकता** –किसी भी उपक्रम में उसके लक्ष्यों की प्राप्ति उसी दशा में सम्भव हो सकती है, जबकि उस उपक्रम के कर्मचारी अधिक सहयोग प्रदान करें। यह तब ही सम्भव है जबकि उपक्रम में कर्मचारियों को उच्चस्तरीय प्रबंधकों से प्राप्त आदेशों में एकता हो। आदेशों की एकता के लिए विभिन्न क्रियाओं में समन्वय आवश्यक होता है।

3. **समग्र उपलब्धि** –अगर संस्था के प्रत्येक कर्मचारी प्राप्ति के लिए भरसक प्रयत्न करें तो भी सामूहिक प्रयत्नों के उद्देश्य से समन्वय की नितान्त आवश्यकता होती है। सामूहिक प्रयत्नों की उपलब्धियां व्यक्तिगत समूहों की उपलब्धियों से कहीं अधिक होंगी। समन्वय द्वारा व्यक्तिगत प्रयत्नों की प्रभावशीलता में वृद्धि होती है और उनके दोहरीकरण की रोकथाम होती है। **मेरी पार्कर फोलेट**–इसी तथ्य का समर्थन करते हुए कहा है कि समन्वय के कारण समूह की कुछ उपलब्धियां व्यक्तियों की पृथक्–पृथक् उपलब्धियों से कहीं अधिक होती हैं। उन्होने इस समूह को. + मूल्य (Plus Value)–कहा है।

4. **मनोबल में वृद्धि** –समन्वय से कर्मचारियों में सामूहिक भावना का विकास होता है और मनोबल में वृद्धि होती है। लगन, निष्ठा और परिश्रम से बिना त्रुटि के कार्य करने के लिए कर्मचारी प्रेरित होते है।

5. **सन्तुलन की स्थापना**–प्रत्येक संस्था में संलग्न कर्मचारियों की योग्यताएं व क्षमताएं भिन्न–भिन्न होती हैं। समन्वय के माध्यम से इन विविध क्षमता व योग्यत वाले व्यक्तियों के कार्यो के मध्य सन्तुलन स्थापित किया जाता है।

6. **मधुर मानवीय सम्बन्ध** –समन्वय की प्रक्रिया से मानवीय सम्बन्धों को सुधारा जा सकता है। समन्वय के द्वारा अनभिज्ञता, हठ, नासमझी, उदंडता, ईर्ष्या, जलन, द्वेष, विरोध आदि में कमी आती है और विभिन्न हितों के लोग मिलजुल करके समन्वित प्रयत्न करते हैं।

7. **प्रबन्ध के अन्य कार्यो की सफलता** –प्रबन्ध के अन्य कार्यो जैसे नियोजन, संगठन, नियंत्रण, निर्देशन आदि की सफलता भी समन्वय पर ही निर्भर करती है। उदाहरण के लिए, व्यावसायिक नियोजन को अर्थपूर्ण बनाने के लिए उसके विभिन्न तत्वों में समन्वय स्थापित करना परम आवश्यक होता है। अगर विविध क्रियाओं में समन्वय न हो तो सारे काम चाहे जितनी कुशलता से क्यों न पूरे किए जाए, सफलता नही मिल सकेगी।

8. **अन्य** –**(i)**– यह एक अति सक्रिय रचनात्मक व सृजनात्मक शक्ति है। **(ii)**–यह साधनों के दुरूपयोग को रोक करके उनके अनुकूलतम उपयोग को बढ़ावा देता है। **(iii)**– इससे विशिष्टीकरण के लाभ प्राप्त होते हैं। **(iv)**– समन्वय के माध्यम से उपक्रम के श्रेष्ठ कर्मचारियों को बाहर जाने से रोका जा सकता है। **(v)**– इसके माध्यम से प्रबन्धक अपने सामाजिक उत्तरदायित्वों का निर्वाह कर सकते है। **(vi)**– यह प्रबन्धकों को सम्पूर्ण उपक्रम के हित को विभिन्न विभागीय हितों से ऊपर रखने में समर्थ बनाता है। **(vii)**– यह संस्था की प्रतिष्ठा को

बढ़ाता है। **(viii)**– सरकारी नीतियों, कम्प्यूटर एवं स्वचलन प्रणालियों, ग्राहक–रूचियों आदि में होने वाले परिवर्तनों के प्रबन्ध हेतु समन्वय अपरिहार्य है। **(ix)**–यह संघर्ष पर रोक लगाता है।

17.5 समन्वय का उद्देश्य

प्रत्येक व्यवसायिक उपक्रम में समन्वय के अत्यधिक महत्वपूर्ण होने के कारण कुण्ट्ज और ओ' डोनेल ने इसे प्रबन्ध का सार कहा है और वे इसे प्रबन्ध का कार्य नही मानते है। कुछ विद्वान जैसे **हेनरी फेयोल और ई. एफ. एल. ब्रेच** समन्वय को प्रबन्ध का पृथक कार्य मानते है। परन्तु आधुनिक विद्वान इस मत से सहमत नही है। उनके अनुसार समन्वय प्रबन्ध की समस्त प्रक्रिया से इस तरह जुड़ा हुआ है कि उसे अलग कार्य के बारे में सोचना भी सम्भव नहीं है। प्रबन्ध का कोई भी कार्य क्यो न हो, चाहे वह नियोजन हो या संगठन, नियंत्रण हो अथवा निर्देशन, सभी में समन्वय की आवश्यकता होती है। अगर प्रबन्ध के क्षेत्र में समन्वय की क्रिया को पृथक् कर दिया जाए तो वह निश्चत ही निर्जीव हो जाऐगा। **एम. पी. फॉलेट** के अनुसार, उपक्रम में समन्वय, नियोजन की अवस्था से ही प्रारम्भ हो जाता है और संगठन, निर्देशन, नीति क्रियान्वयन और अभिप्रेरणा सभी में चलता है। संगठन का तात्पर्य भिन्न–भिन्न क्रियाओं और उन्हें करने वाले व्यक्तियों की स्थिति को इस प्रकार संगठित करना होता है कि सभी व्यक्ति भिन्न–भिन्न प्रकार की क्रियाएं करते हुए भी सामान्य उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु समन्वित भाव से प्रयत्न करें। यह तब तक नही हो सकता है जब तक कि उपक्रम में समन्वय की प्रभावशाली व्यवस्था न हो। तभी तो **मूने** ने उचित ही कहा है कि ''समन्वय संगठन का आधार है।'' इसी प्रकार नियंत्रण और निर्देशन की प्रक्रिया भी समन्वय से जुडी है। अतः स्पष्ट है कि समन्वय प्रबन्धकों का स्वतंत्र कार्य न होकर सार है।

17.6 समन्वय के प्रकार

समन्वय का क्षेत्र अधिक व्यापक है और व्यावसायिक उपक्रम का कोई भी अंग या क्रिया उससे बाहर नही है। समन्वय के प्रमुख प्रकार निम्न प्रकार के

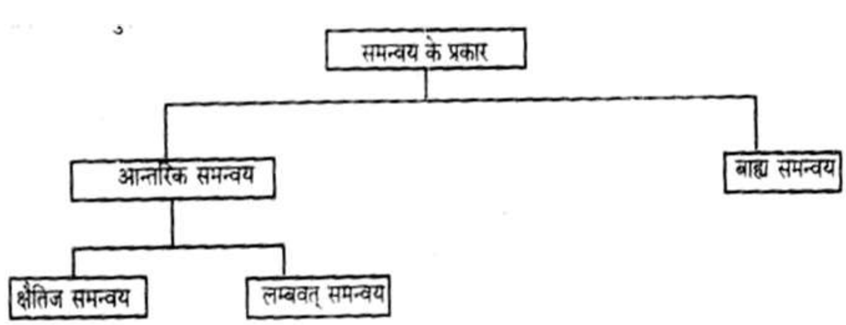

(1)आन्तरिक समन्वय –आन्तरिक समन्वय संस्था के विभिन्न विभागों, उप–विभागों, शाखाओं, संचालकों, कर्मचारियों, अंशधारियों, प्रबन्धकीय प्रकायों तथा क्रियाओं के बीच एकता स्थापित करने से

जुड़ी होती है। इस प्रकार का समन्वय संगठन के भीतर पारस्परिक मधुर सम्बन्ध, क्रियाओं में सामंजस्य, प्रयासों और समयों का सन्तुलन और सहयोग स्थापित करने हेतु होता है। इसका चित्र नीचे दिया जा रहा है–

आन्तरिक समन्वय को पुनः निम्न दो भागों में विभाजित किया जा सकता है–

(अ) क्षैतिज समन्वय– एक उपक्रम में विभिन्न समान–स्तरीय विभागों व उनके समान प्रास्थिति वाले अधिकारियों में समन्वय स्थापित किया जाए तो वह क्षैतिज अथवा समतल समन्वय कहलाता है। उदाहरण के लिए, उत्पादन, वित, सेविवर्गीय, विक्रय, निर्यात सम्वर्द्धन आदि विभागों के बीच का समन्वय क्षैतिज कहलायेगा। इसका चित्र निम्न प्रकार का होता है–

(ब) लम्बवत् समन्वय –जब एक ही संस्था में प्रबन्ध अधिकारी, सहायक प्रबन्ध अधिकारी, अधीक्षक, पर्यवेक्षक, फोरमैन, श्रमिक आदि के मध्य समन्वय स्थापित किया जाए तो उसे लम्बवत् अथवा अदग्र समन्वय कहते है। उनका प्रबन्ध प्रस्थिति ऊपर से नीचे होता है। इसका चित्र निम्न प्रकार है :

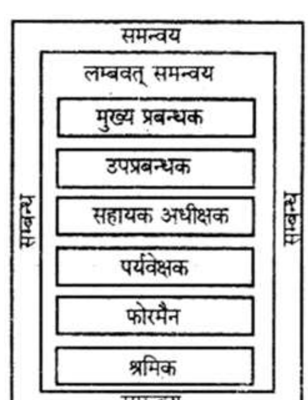

(2) बाह्य समन्वय –किसी उपक्रम की आन्तरिक संरचना का बाहरी संस्थाओं जैसे– बैंक, बीमा कम्पनी, स्कन्ध विपणियों, प्रतियोगितों, समाज, आपूर्तिकर्ताओं, सरकार, श्रम संघो, राजनीतिज्ञों आदि से स्थापित किया गया है समन्वय बाह्य कहलाता है। एक सामाजिक इकाई होने के नाते किसी भी संस्था को इन बाह्य संस्थाओं से सामंजस्य स्थापित करना आवश्यक होता है। बाह्म समन्वय की आवश्यकता अग्रांकित कारणों से होती है–(i)–हरेक संस्था में स्वामियों, कर्मचारियों, ग्राहकों, सरकार आदि के परस्पर विरोधी हित होते है जिनमें बाह्य समन्वय द्वारा ही सांमजस्य सम्भव होता है। (ii)– सरकारी नीतियों, कानूनों व नियमों का यथोपित पालन हेतु भी बाह्य समन्वय जरूरी होता है। (iii)– आधुनिक तकनीकी युग में नवीन अविष्कारों ने भी तकनीकी समन्वय को आवश्यक कर दिया है। (iv)– व्यावसायिक उच्चवचनों से बचने हेतु बाह्य समन्वय जरूरी होता है। बाह्य समन्वय का चित्र अग्र प्रकार होता है–

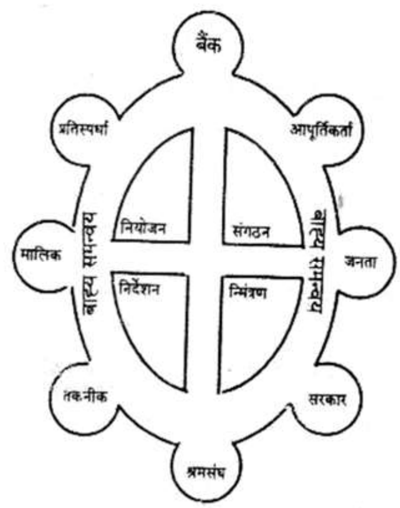

17.7 समन्वय के सिद्धान्त

मेरी पार्कर फोलैटने समन्वय के निम्नांकित मौलिक सिद्धान्त बताये है–

1. **प्रत्यक्ष व्यक्तिगत सम्पर्क का सिद्धान्त** –प्रत्यक्ष या सीधे सम्पर्क द्वारा स्थापित समन्वय ही अधिक प्रभावकारी सिद्ध होता है। अधीनस्थों और उच्चाधिकारियों में प्रत्यक्ष सम्बन्ध होने से विचारों का आदान–प्रदान तत्काल व सुगमतापूर्वक किया जा सकता है। पारस्परिक भ्रान्तियों और अस्पष्टता का निवारण किया जा सकता है और एक दूसरे के हितों को समझ करके कार्यो और विधियों में तालमेल व समझौता कराया जा सकता है।

2. **नियोजन एवं नीति–निर्धारण की प्रारम्भिक अवस्था का सिद्धान्त** –इस सिद्धान्त के अनुसार, नियोजन एवं नीति निर्धारण के प्रारम्भिक अवस्था में ही समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया जानना चाहिए, अन्यथा बाद में समन्वय स्थापित करने में गंभीर कठिनाइयां आ सकती हैं। जब विभागीय योजनाएँ क्रियाशील हो जाती हैं तो इस दशा में उनमें समन्वय स्थापित करता कठिन और अनुपयोगी हो जाता है। उदाहरण के लिए, अगर किसी संस्था का उत्पादन प्रबन्धक बिना वित्त विभाग से परामर्श किए ही किसी बड़ी मशीन के क्रय का आदेश दे देते है। परन्तु, बाद में,

वित विभाग से मालूम होता है कि संस्था के रोकड बजट में इस रकम की व्यवस्था नहीं है तो ऐसी दशा में, समन्वय करना अत्यन्त कठिन हो जायेगा। अगर आदेश निरस्त कर दिया जाता है तो बदनामी होगी और कुछ क्षतिपूर्ति भी देनी पड़ सकती है। मशीन क्रय करने पर अतिरिक्त वित्त की व्यवस्था पर अधिक ब्याज देना पड़ सकता है। समन्वय की क्रिया तो नियोजन और नीति के निर्धारण की प्रारम्भिक अवस्था से ही प्रारम्भ की जानी चाहिए।

3. **पारस्परिक सम्बन्धों का सिद्धान्त** –समन्वय के इस सिद्धान्त के अनुसार सभी घटक एक दूसरे से सम्बन्धित होते हैं। इस पारस्परिक सम्बन्ध पर ही संगठन की सफलता निर्भर करती है। परस्परता संगठन की विविध क्रियाओं में एकसूत्रता, एकीकरण और सामंजस्य स्थापित करती है। व्यक्ति भी एक दूसरे की समस्याओं को आपस में समझ कर अधिक सहयोग करते हैं।

4. **निरन्तरता का सिद्धान्त** –इस सिद्धान्त के अनुसार समन्वय एक दो दिन का कार्य न हो करके सतत् चलने वाली प्रक्रिया है। मात्र कुछ विशिष्ट समितियों की स्थापना करके शेष सब कुछ भाग्याधीन नहीं छोड़ा जा सकता है। समन्वय का जन्म तो उपक्रम के जन्म के संग और समाप्ति उपक्रम की समाप्ति के संग होता है।

5. **गति ीलता का सिद्धान्त** –प्रबन्ध के अन्य सिद्धान्तों की ही भांति समन्वय में भी कठोरता न होकर गतिशीलता होनी चाहिए। बाहरी वातावरण एवं क्रियाओं में परिवर्तन होने के कारण व्यावसायिक परिस्थितयों में भी परिवर्तन होते रहते हैं। अतः समन्वय में आवश्यक परिवर्तन स्वाभाविक तौर से किए जाते हैं। समन्वय प्रक्रिया में गतिशीलता होनी चाहिए।

6. **समयानुकूलता का सिद्धान्त** –यह सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि उपक्रम में प्रत्येक कार्य सही समय पर किया जाना चाहिए। अतः समन्वय भी उचित समय पर करके प्रयत्नों का सही परिणाम प्राप्त किया जा सकता है, अन्यथा फिर पछताए होत क्या जब चिड़िया चुग गयी खेत।

17.8 समन्वय की प्रबन्ध तकनीकें

प्रभावी समन्वय कैसे प्राप्त किया जा सकता है, प्रभावी समन्वय के आवश्यक तत्व क्या हैं? इन प्रश्नों के समाधान हेतु निम्न तकनीकें प्रयोग की जा सकती हैं :

1. **आदेश श्रृंखला द्वारा समन्वय**– प्रत्येक अधिकारी को अपने कनिष्ठों को आदेश देने का अधिकार होता है। अतः आदेश श्रृंखला द्वारा प्रदान करके अधीनस्थों के कार्यो को वरिष्ठ अधिकारी सरलता से समन्वित कर सकते हैं।

2. **व्यक्तिगत नेतृत्व द्वारा समन्वय**–समन्वय के लिए उच्च कोटि की नेतृत्व तकनीक भी वांछनीय है। **ब्रीच** के मतानुसार, ''समन्वय एक मानवीय क्रिया–कलाप है तथा प्रबन्धक अपने व्यक्तिगत आचरण एवं प्रवृतियों द्वारा इसकी स्थापना करता है।'' समन्वय के व्यक्तिगत आचरण का आदेश

प्रस्तुत करना नितान्त आवश्यक होता है। स्वस्थ एवं कुशल नेतृत्व द्वारा कर्मचारियों को विश्वास में ले करके व उनके भ्रम, सन्देह एवं त्रुटियों को दूर करके संस्था में समन्वय स्थापित किया जा सकता है।

3. **समितियों द्वारा समन्वय**–कुछ स्थायी व तदर्थ समन्वय समितियां इस उद्‌देश्य से बनायी जा सकती हैं, जिससे कि उसके विभागीय सदस्य एक राय बना करके अथवा बहुमत से सामंजस्य स्थापित कर सकें। विभिन्न विभागाध्यक्षों की समिति प्रत्येक प्रस्तावित निर्णय के गुणों और अवगुणों का एक ही स्थान और एक ही समय पर आकलन करके समन्वय स्थापित करते हैं।

4. **स्व–समन्वय**–इस स्व अथवा समन्वय के तकनीक का प्रतिपादन ब्राउन तथा साइमन के द्वारा किया गया हैं इसमें प्रत्येक अधिकारी व कर्मचारी द्वारा प्रयत्नों को अपने आस–पास के काम करने वाले कर्मचारियों की सुविधा को ध्यान में रखते हुए समायोजित किया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने उत्तरदायित्व का इस ढंग से निर्वाह करता है कि अन्य विभागों के कार्यो पर उसका अवांछनीय प्रभाव न पड़े।

5. **विशेष समन्वयक द्वारा**–बड़ी संस्थाओं में विशेष समन्वयक अलग सम्पर्क अधिकारी की नियुक्ति की जाती है जो आवश्यकतानुसार अनुशासनात्मक व विविध मामलों में समन्वय स्थापित करते है। वैसे यह तकनीक संगठन की शिथिलता का द्योतक हैं जिसका उपयोग नितान्त अस्थायी रूप से आवश्यकतानुसार किया जाना चाहिए। परन्तु बहुत बड़े और कई स्थानों पर कार्यरत कर्मचारियों व अधिकारियों में समन्वय हेतु इस प्रकार के पद सार्थक भी सिद्ध होते है। उदाहणार्थ, विश्वविद्यालय व महाविद्यालय में कार्यरत राष्ट्रीय सेवा योजना के कार्यक्रम अधिकारियों के सांमजस्य हेतु कार्यक्रम समन्वयक की नियुक्ति बहुत प्रभावी सिद्ध हो रही है। उसी प्रकार एन. सी. सी के कार्यक्रमों को समन्वित रूप देने हेतु एसोशिएट एन. सी. सी. अधिकारी की नियुक्ति सार्थक सिद्ध हो रही है। कॉलेजों और विश्वविद्यालयों के प्राध्यापकों को लेफ्टीनेन्ट, कैप्टन और मेजर के पद जाते हैं।

6. **सुसंगठन द्वारा**–प्रभावी संगठन भी समन्वय स्थापित करने का एक उत्तम तकनीक है। स्वस्थ संगठन विविध विभागों एवं व्यक्तियों की अधिकार रेखाओं की सीमाओं को निर्धारित करता है जिससे कि पारस्परिक टकराव की जगह पर तालमेल हो। इस सुसंगठन हेतु निम्न बातें ध्यान मे रखी जा सकती है : (अ) प्रत्येक कर्मचारी व अधिकारी का कार्य क्षेत्र पूर्णतया स्पष्ट होना चाहिए। (ब) सभी कर्मियों को अधिकार व कर्तव्य के स्पष्ट विभाजन की जानकारी होनी चाहिए। (स) आपस में अधिकारो का विलोपन ओर दुहरापन न्यूनतम होना चाहिए। (द) अधिकारों और उत्तदायित्व में समता बरती जानी चाहिए।

7. **बजट द्वारा**–बजटों के आधार पर विभागों में समन्वय स्थापित किया जा सकता है। मास्टर बजट सबका नियंत्रणकर्ता और समन्वयक होता है तथा रोकड़, उत्पादन, क्रय, विक्रय आदि बजट उससे सम्बन्धित होते हैं।

8. **पर्यवेक्षण द्वारा**– पर्यवेक्षण द्वारा समन्वय स्थापित करना प्राचीन एवं महत्वपूर्ण तकनीक है। इसमें पर्यवेक्षक निर्देश अपने अधीनस्थों की क्रियाओं में समन्वय स्थापित करता है।

9. **अन्य तकनीकें**–(अ) व्यक्तिगत सर्म्पक द्वारा, (ब) सामूहिक बैठक द्वारा, (स) सामूहिक निर्णय द्वारा, (द) कुशल सन्देशवाहन (बुलेटिन, मैगजीन, तार, टेलीफोन, रेडियो, सिनेमा) द्वारा, (य) सम्मेलन, सभा व संगोष्ठी द्वारा, (र) स्पष्ट नियोजन व नीतियों द्वारा, (ल) प्रतिवेदनों द्वारा, तथा (व) जांच व अवलोकन द्वारा आदि।

17.9 समन्वय की समस्याएं

समन्वय तो प्रबन्ध का सार हैं और प्रबन्धकीय कार्यो की प्रभावशीलता समन्वय पर निर्भर करती है। फिर भी, समन्वय को स्थापित करना कोई सरल कार्य नही है। प्रबन्धकों को समन्वय स्थापित करते समय निम्न बाधाओं/समस्याओं/सीमाओं का सामना करना पड़ता है–

1. समन्वयकों और अधीनस्थों की सीमित प्रबन्धकीय योग्यता, अनुभवहीनता, अपरिपक्व और असंतुलित दृष्टिकोण सन्तुलन में प्रमुख बाधा होती है।

2. जब कर्मचारी व्यक्तिगत हितों व स्वार्थो को संस्था के सामान्य हितों की तुलना में अधिकाधिक महत्ता देने लगते हैं तो समन्वय मुश्किल हो जाता है।

3. संस्था में कार्यरत कार्मियों में जाति, धर्म, भाषा, विचारधारा आदि के आधार पर गुटबाजी शुरू हो जाती है। जिससे वांछित सहयोग नही मिल पाता है।

4. अगर कार्मियों में परस्पर सहयोग प्रदान करने की भावना न हो तो समन्वय कभी स्थापित नही हो सकता है।

5. विविध मानवीय दुर्बलताएं जैसे– अनावश्यक चमचागिरी, फूट डालकर काम बनाना, दूसरों पर स्वयं छाए रहना, गलत विवेचना आदि समन्वय का कार्य मुश्किल कर देती है।

6. मानवीय व्यवहार की अनिश्चितता भी समन्वय में बाधा उतपन्न करती है।

7. वृहद संस्थाओं में विभागों और इकाइयो ंकी संख्या भी समन्वय को मुश्किल बनाती है।

8. अगर अधिकारों का प्रतिनिधायन दोषपूर्ण हो दायित्व सुनिश्चित न हो, उद्देश्यों व नीतियों को स्पष्ट परिभाषित न किया गया हो तो भ्रान्तियों और संघर्ष के होने से सांमजस्य सम्भव नही हो सकेगा।

9. दोहरी अधीनस्थता और आदशों की अनेकता भी समन्वय की बाधा है। कार्मिक दायित्व को सरलता से खिसका सकता है।

10. अगर नियंत्रण विधियां दोषपूर्ण, अकुशल और अपर्याप्त हों तो समन्वय कार्य सुचारू रूप से

सम्पन्न नही हो सकेगा।

11. संस्था का आंतरिक व बाह्म वातावरण भी समन्वय के प्रतिकूल हो सकता है।

17.10 सारांश

समन्वय प्रबन्ध का सार है जो उपक्रम की विभिन्न क्रियाओं में तालमेल ही नहीं बल्कि कार्य की गति, कार्य की विधि, संगठन की संरचना और संगठन के सदस्यों के वैयक्तिक एवं सामूहिक प्रयत्नों के बीच एकीकरण की स्थापना से सम्बन्धित होता है।

जॉर्ज आर. टैरी के अनुसार, ''समन्वय निर्धारित लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्नों का नियमित समाकलन है ताकि निष्पादन की उपयुक्त मात्रा, समय एवं चाल से क्रियाओं में सामंजस्य एवं एकता स्थापित हो जाये।''

समन्वय प्रबन्ध की समस्त प्रक्रिया से इस तरह जुड़ा हुआ है कि उसे अलग कार्य के बारे में सोचना ही सम्भव नहीं है। प्रबन्ध का कोई भी कार्य क्यों न हो, चाहे वह नियोजन हो या संगठन, नियंत्रण हो अथवा निर्देशन, सभी में समन्वय की आवश्यकता होती है। समन्वय का क्षेत्र अधिक व्यापक होने से इसे निम्न प्रकार में विभक्त कर सकते है – (1) आन्तरिक समन्वय, जो क्षैतिज या लम्बवत् हो सकता है तथा (2) बाह्म समन्वय।

मेरी पार्कर **फोलैट ने समन्वय के मौलिक सिद्धान्त बताये है जो इस प्रकार है** :–

1. प्रत्यक्ष व्यक्तिगत सम्पर्क का सिद्धान्त
2. नियोजन एवं नीति–निर्धारण की प्रारम्भिक अवस्था का सिद्धान्त
3. पारस्परिक सम्बन्धों का सिद्धान्त
4. निरन्तरता का सिद्धान्त
5. गतिशीलता का सिद्धान्त
6. समयानुकूलता का सिद्धान्त

समन्वय प्रबन्ध का सार है और प्रबन्धकीय कार्यों की प्रभावशीलता समन्वय पर निर्भर करती है। फिर भी, समन्वय को स्थापित करना कोई सरल कार्य नहीं है। कर्मचारियों के व्यक्तिगत हितों व स्वार्थों, जाति, धर्म, भाषा, विचारधारा, प्रबन्धकीय नीति एवं नियम और बाह्म व आन्तरिक वातावरण आदि इन सभी में समन्वय स्थापित करना कठिन कार्य है।

17.11 महत्वपूर्ण सारांश

- **समन्वय** –समन्वय एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा उपक्रम की विविध क्रियाओं में सामंजस्य

स्थापित किया जाता है ताकि निर्धारित लक्ष्यों को आसानी से प्राप्त किया जा सके।

- **सहकारिता** – सहकारिता स्वेच्छा से एक–दूसरे की सहायता करने की भावना से सम्बन्धित है। इसका नारा होता है ''सब एक के लिए और एक सब के लिए।''
- **क्षैतिज समन्वय** – एक उपक्रम में विभिन्न समान स्तरीय विभागों व उनके समान परिस्थिति वाले अधिकारियों में समन्वय स्थापित किया जाए तो वह क्षैतिज अथवा समतल समन्वय कहलाता है।
- **लम्बवत् समन्वय** – जब एक ही संस्था में प्रबन्ध अधिकारी, सहायक प्रबन्ध अधिकारी, अधीक्षक, पर्यवेक्षक, फोरमैन, श्रमिक आदि के मध्य समन्वय स्थापित किया जाए तो उसे लम्बवत् अथवा उदग्र समन्वय कहते हैं।
- **बाह्म समन्वय** – किसी उपक्रम की आन्तरिक संरचना का बाहरी संस्थाओं जैसे – बैंक, बीमा कम्पनी, स्कन्ध विपणियों, प्रतियोगियों, समाज, आपूर्तिकर्ताओं, सरकार, श्रम संघों, राजनीतियों आदि से स्थापित किया गया समन्वय बाह्म समन्वय कहलाता है।

17.12 आवश्यक प्रश्न

प्रश्न 1. ''समन्वय प्रबन्ध का सार है।'' इस पर अपने विचार प्रकट कीजिए और समन्वय के तकनीकों को बताइए।

प्रश्न 2. समन्वय के विविध प्रकारों के नाम और संक्षेप में उनकी व्याख्या कीजिए और प्रबन्ध प्रक्रिया में समन्वय के महत्व का संक्षिप्त उल्लेख कीजिए।

प्रश्न 3. समन्वय और सहयोग में अन्तभेद कीजिए और समन्वय की समस्याएं बताइए।

प्रश्न 4. एक व्यावससायिक प्रबन्ध द्वारा समन्वय हेतु कौन सी तकनीकें प्रयुक्त की जा सकती हैं ? प्रभावी समन्वय प्रणाली के सिद्धान्तों की व्याख्या कीजिए।

प्रश्न 5. समन्वय के प्रमुख सिद्धान्तों और अवरोधों की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए। समन्वय किस प्रकार प्राप्त किया जाता हैं ?

प्रश्न 6. आंतरिक और बाह्म समन्वय से आप क्या समझते हैं ? समन्वय की सीमाओं का वर्णन कीजिए।

प्रश्न 7. प्रबन्ध के एक कार्य के रूप में समन्वय की प्रकृति महत्व और सीमाओं की विवेचना कीजिए।

प्रश्न 8. ''समन्वय सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति हेतु सामूहिक प्रयत्नों में एकता लाना है। टिप्पणी कीजिए और समन्वय के महत्व पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

प्रश्न 9. समन्वय किस प्रकार प्रबन्ध के लिए महत्वपूर्ण है ? इसके सिद्धान्तों और तकनीकों को वर्णित

कीजिए।

प्रश्न 10. ''समन्वय समस्त प्रबन्धकीय प्रक्रिया का सार है। ''इस कथन की व्याख्या कीजिए और समन्वय के प्रकारों पर प्रकाश डालिए।

कुछ उपयोगी पुस्तकें

- प्रबन्ध के सिद्धान्त एस के सिंह प्रयाग पुस्तक भवन इलाहाबाद 2006
- व्यावसायिक प्रबन्ध ओ. पी. राय बी. के. सिंह वैभवसम्मी प्रकाषन, वाराणासी, 2012
- औद्योगिक संगठन एवं प्रबन्धन, आर.सी. गुप्ता, साहित्य भवन पब्लिकेषन आगरा, 2003
- व्यवसायिक संगठन, जगदीष प्रकाष, प्रयाग पुस्तक भवन, 2014
- औद्योगिक प्रबन्ध, जे.के. जैन, प्रतीक प्रकाषन आगरा, 2001

इकाई– 18 सम्प्रेषण

इकाई की रूपरेखा

18.0 उद्देश्य

18.1 प्रस्तावना

18.2 सन्देशवाहन का अर्थ और परिभाषाएं

18.3 सन्देशवाहन की प्रकृति अथवा लक्षण

18.4 सन्देशवाहन प्रक्रिया के आवश्यक चरण

18.5 प्रभावी सन्देशवाहन की विशेषताएं

18.6 सन्देशवाहन के सिद्धान्त

18.7 संदेशवाहन का महत्व

18.8 संदेशवाहन के माध्यम

18.9 प्रभावी सन्देशवाहन में बाधाएं

18.10 प्रभावी सन्देशवाहन निर्मित करने हेतु सुझाव

18.11 सारांश

18.12 महत्वपूर्ण सारांश

18.13 आवश्यक प्रश्न

18.0 उद्देश्य

इस अध्याय के अध्ययन से आप निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर दे पायेंगे।

- ❖ अंगूरीलता संदेशवाहन की अवधारणा और प्रकारों की संक्षिप्त विवेचना कीजिए।
- ❖ क्या आप इस विचार से सहमत हैं कि कार्य शब्दों से अधिक बुलन्दी से बोलते हैं?
- ❖ ‘‘प्रबन्ध में सन्देशवाहन की सबसे बड़ी बाधा उसका भ्रम है।’’ टीका कीजिए।
- ❖ सन्देशवाहन के माध्यम के चुनाव को प्रभावित करने वाले तत्वों की व्याख्या कीजिए।
- ❖ औपचारिक तथा अनौपचारिक सन्देशवाहन में अन्तर्भेद कीजिए।
- ❖ सन्देशवाहन की बाधाएं क्या होती हैं?
- ❖ संदेशवाहन के विविध प्रकारों का उल्लेख कीजिए।

18.1 प्रस्तावना

सन्देशवाहन अथवा संचार अथवा सम्प्रेषण समस्त प्रबन्ध यंत्रिका को क्रियान्वित करने का सशक्त अंग है। नियोजन से लेकर निर्णयन तक सभी प्रबन्धकीय कार्यों का निष्पादन संदेशवाहन की संयोजक कड़ी के द्वारा ही सम्भव होता है। जैसे बिना विद्युत प्रवाह के समस्त प्रकाश बिन्दु निर्जीव और निस्तेज रहते हैं, ठीक उसी प्रकार बिना प्रभावी सन्देशवाहन व्यवस्था के समस्त संगठन मृतप्राय रहता है। संगठन में जीवनदायिनी रक्त का प्रवाह संदेशवाहन की धमनियों के द्वारा ही होता है। तीव्र औद्योगिकीकरण के कारण संगठनों के बढ़ते आकार, प्रौद्योगिकीय जटिलता, श्रम संघों का विस्तार, मानवीय सम्बन्धों पर बल देने और सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना के बढ़ने से संदेशवाहन का कार्य बहुत ही जटिल हो गया है।

18.2 सन्देशवाहन का अर्थ और परिभाषाएं

सन्देशवाहन के अंग्रेजी रूपान्तरण "Communication" की उत्पत्ति लैटिन भाषा के 'Communis' (कम्यूनिस) से हुई है जिसका अर्थ है 'Common Understanding'और यह 'सामान्य समझ' ही संदेशवाहन में प्रेषक अपने प्रापक के साथ स्थापित करना चाहता है। इस प्रकार सन्देशवाहन वह प्रक्रिया है जिसमें दो या अधिक व्यक्तियों के बीच सामान्य समझ का आदान–प्रदान होता है।

सन्देशवाहन दो या दो से अधिक व्यक्तियों के मध्य तथ्यों, विचारों, अनुमानों, सम्मतियों एवं भावनाओं का अदान–प्रदान है। वर्तमान सूचना क्रान्ति के कम्प्यूटर युग में तार, टेलीफोन, रेडियो, दूरदर्शन, टेलेक्स, फैक्स, एस.एम.एस., मोबाइल, इण्टरनेट आदि तकनीकी साधनों ने सूचनाओं के आदन–प्रदान को आसान और त्वरित बना दिया है। सन्देशवाहन से तात्पर्य उस भावाभिव्यक्ति से है जिसके द्वारा एक व्यक्ति का अभिप्राय दूसरा व्यक्ति समझ सके। अगर किसी कथन का तात्पर्य उसी भाव में श्रोता बोध न कर सके तो यह सन्देशवाहन कदापि नहीं कहा जा सकता है। सन्देशवाहन की प्रमुख परिभाषाएं अग्रांकित हैं–

(1) **न्यूमैन और समर**–''सन्देशवाहन दो या दो से अधिक व्यक्तियों के मध्य तथ्यों, विचारों, सम्मतियों या भावनाओं का विनिमय है।''

(2) **वैब्स्टर शब्दकोष** –''सन्देशवाहन से आशय ''शब्दों, पत्रों अथवा सन्देशों द्वारा समागम, विचारों एवं सम्मतियों के विनिमय से है।''

(3) **शोभना खण्डेलवाल** –''सामान्यतः सन्देशवाहन से तात्पर्य मौखिक अथवा लिखित शब्दों से होता है। किन्तु, वास्तव में, यह इससे कहीं अधिक है। सन्देशवाहन अधिक बातों का योग है जैसे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में जाने या अनजाने शब्दों का प्रेषण, प्रवृत्तियाँ, भावनाएँ, क्रियाएँ, इशारे अथवा स्वर। कभी–कभी मौन भी प्रभावपूर्ण सन्देशवाहन का कार्य करती है।''

(4) एफ.जी. मेयर —''सन्देशवाहन से आशय एक व्यक्ति के विचारों और सम्मतियों से दूसरे व्यक्तियों को अवगत कराने से है।''

(5) कीथ डेविस —''सन्देशवाहन एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को सूचना एवं समझ भेजने की एक प्रक्रिया है।''

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि सन्देशवाहन एक सतत् प्रक्रिया है जिसमें दो या अधिक व्यक्ति अपने सन्देशों, भावनाओं, विचारों, सम्मतियों तथा तर्कों आदि का पारस्परिक विनिमय करते हैं।

18.3 सन्देशवाहन का प्रकृति अथवा लक्षण

सन्देशवाहन के स्वभाव को निम्न लक्षणों से स्पष्ट किया जा सकता है—

(1) सन्देशवाहन एक द्विमार्गीय यातायात है —सन्देशवाहन में दो पक्षों अर्थात् प्रेषक और प्रापक का होना जरूरी है। उनके मध्य संदेश का होना जरूरी है और यह सन्देशवाहन एकतरफा नहीं होना चाहिए। संदेश का कहना या भेजना मात्र पर्याप्त नहीं है। यदि कोई सन्देश भेजा जाता है, किन्तु कोई उसे प्राप्त नहीं करता है या समझता नहीं है तो सन्देशवाहन अधूरा है। सन्देशवाहन की प्रकृति में प्राप्तकर्ता की विद्यमानता आवश्यक होती है। संदेश की समझ ही उसका अन्तिम परिणाम होता है परन्तु इसका अर्थ स्वीकृति नहीं होता है। अगर कोई व्यक्ति निर्जन जंगल में अकेले घिर जाने पर चिल्लाए और उसे कोई सुन न पाए तो यह सन्देशवाहन नहीं है। यदि कोई व्यक्ति फ्रेंच या परसियन भाषा में हमें पत्र लिखे जिसे हम न समझ सकें तो यह सन्देशवाहन नहीं है।

(2) सन्देश की विद्यमानता —सन्देशवाहन के लिए आवश्यक है कि कुछ संदेश जैसे तथ्य, सूचनाएँ, **सम्मति**याँ, भावनाएँ और विचार विद्यमान हों, जिन्हें एक व्यक्ति दूसरे अन्य व्यक्ति या व्यक्तियों को भेजना चाहता है। अगर आपस में आदान—प्रदान के लिए सन्देश ही न हो तो संदेशवाहन का कोई तात्पर्य और उद्देश्य नहीं होगा।

(3) संदेश लिखित, मौखिक या सांकेतिक हो सकता है —सन्देशवाहन बहुत से साधनों **से** सम्भव है। यह बातचीत, भाषण, लिखित वक्तव्य, आदेश, पत्र, चित्र टेलीविजन के प्रदर्शन, टेलीफोन, तार, फैक्स शारीरिक क्रियाओं, ताली व घन्टी बजाकर, भाव मुद्राओं द्वारा सम्भव हो सकता है। चेहरे में तोड़ मरोड़, हाथों का हिलाना, होठ का हिलना, आंखों का झपकना, मुखाकृति और भावभंगिमा प्रसन्नता, स्नेह, श्रद्धा, क्रोध आदि मनोभावों को व्यक्त करते है। कभी—कभी तो मौन रहना भी सुदृढ़ भावाभिव्यक्ति कर लेता हैं। उदाहरणार्थ, आर एक पिता अपने पुत्र या पुत्री से उसकी शादी के बारे में पूछे और पुत्र या पुत्री कुछ न बोलकर मौन रह जाए तो इसका सीधा तात्पर्य स्वीकृति माना जाता है।

(4) सन्देशप्रापक को संदेश उसी भाव और सन्दर्भ में समझना चाहिए —सन्देशवाहन तभी पूरा माना जाता है जबकि संदेशप्रापक संदेश को उसी भाव और सन्दर्भ में समझ करके संदेशवाहन जैसा सामान्य समझ विकसित करे। संदेश को प्राप्त भर कर लेना पर्याप्त नहीं होता है बल्कि सही अर्थ

में समझदारी आवश्यक होती है। यह जरूरी नहीं है कि संदेशप्रापक की सन्देश के प्रति सहमति भी हो। संदेश को अगर विकृत और तोड़–मरोड़ दिया गया तो या सन्देश गलत समझ गया हो तो सन्देशवाहन सफल नहीं कहा जा सकता है। संदेशवाहन उसी समय पूरा हो हो पाता है जबकि प्रापक उस संदेश को उसी भाव और सन्दर्भ में समझ लेता है जिसमें संदेशवाहक ने उसके लिए भेजा है।

(5) औपचारिक एवं अनौपचारिक संदेशवाहन का माध्यम हो सकता है –सन्देशवाहन के माध्यम औपचारिक अथवा अनौपचारिक हो सकते हैं। औपचारिक सन्देशवाहन का आशय ऐसे सन्देशवाहन से है जो अधिकार और दायित्व के औपचारिक संगठन ढांचे पर आधारित होते हैं। ऐसे में अगर अधिकारी किसी कर्मचारी को कोई आदेश देना चाहता है तो वह अधीनस्थ पदाधिकारियों की सौपानिक श्रृंखला से ही ऐसा करता है। ऐसे सन्देशवाहन प्रायः लिखित रूप में होते हैं। इसके विपरीत, अनौपचारिक संदेशवाहन मौखिक और प्रत्यक्ष होते हैं, जो मित्रता और अनौपचारिक सम्बन्धों के आधार पर किया जाता है। इसमें अफवाहें अधिक सम्मिलित होती हैं जो एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक वन में आग के फैलने के समान पहुंचती हैं जिसे जनश्रुति, जन प्रवाद या अंगूरीलता सन्देशवाहन भी कहते हैं।

(6) सन्देशवाहन नीचे की ओर, ऊपर की ओर और समतल हो सकता है –यदि सन्देश **संस्था** के उच्चाधिकारियों से उनके अधीनस्थों की ओर चलती है तो उसे नीचे की ओर सन्देशवाहन कहते हैं। जब सुझाव, शिकायतें, समस्याएं व कार्य प्रतिवेदन श्रमिकों से उच्चाधिकारियों की ओर चलते हैं तो वह ऊपर की ओर सन्देशवाहन कहलाता है। समान स्तर के दो अधिकारियों के मध्य सन्देशवाहन समतल कहलाता है।

(7) अन्य –(i) सन्देशवाहन एक सतत् एवं व्यापक प्रक्रिया है। (ii) संदेशवाहन प्रबन्धकीय निर्देशन का एक प्रमुख अंग है, (iii) संदेशवाहन की सफलता उससे सम्बन्धित दोनों पक्षों पर निर्भर करता है। (iv) संदेशवाहन कार्यों के निष्पादन की आधारशिला है।

18.4 सन्देशवाहन प्रक्रिया के आवश्यक चरण

प्रभावी सन्देशवाहन व्यवस्था एक सतत् प्रक्रिया है जो संगठन को जीवन्त रखती है। यह एक बहती हुई नदी के समान है जिसकी आवश्यकता सभी स्तरों, हर समय और हर व्यक्ति को होती है। जब किसी व्यक्ति को किसी से सन्देशवाहन करना होता है तो उसे निम्न चरणों से गुजरना पड़ता है।

(1) विचार की सृष्टि –सन्देशवाहन प्रक्रिया का श्री गणेश प्रेषक के मस्तिष्क में विचार, कठिनाई, मनोवृत्ति, राय, मत, भावना के उदय से होता है। यह एक कल्पनाशील चरण है जो कुशल संदेशवाहन प्रणाली का उद्‌गम स्थान होती है। पूर्ण एवं सही सन्देशवाहक के लिए प्रेषक के मस्तिष्क में स्पष्ट संदेश होना चाहिए। संदेश की अभिव्यक्ति प्रारम्भ करने के पूर्व खूब सोच–विचार कर लेना ही श्रेयस्कर होता है। जो व्यक्ति बिना सोच–विचार के या बिना मतलब के बोलते हैं उनकी इज्जत संगठन

में नहीं होती है।

(2) संकेतीकरण –संकेतीकरण सन्देशवाहन प्रक्रिया का दूसरा चरण है। इसका अभिप्राय प्रेषक द्वारा सन्देशों को प्रतीकों में बदलना है। प्रेषक अपने विचारों को शब्दों, चित्रों, रेखाचित्रों, आकृतियों, चिन्हों, नमूनों, चेहरे के भाव, शारीरिक भाषा जैसे संकेतों में व्यक्त कर सकता है। यह संकेतीकरण या कूटाभिव्यक्ति इसलिए आवश्यक है कि सिर्फ प्रतीकों के द्वारा ही सूचनाओं का विनिमय हो सकता है। कई बार व्यक्तियों के विचार तो बहुत अच्छे होते हैं लेकिन उन्हें प्रकट करने का तरीका इतना अच्छा नहीं होता इसलिए उनके विचार स्पष्टता के साथ नहीं पहुंच पाते हैं।

(3) उचित माध्यम से सन्देश प्रेषण –सामान्यतः प्रेषक संवाद को पहुंचाने के लिए मौखिक, लिखित, हाव–भाव अथवा दृसश्य माध्यमों को अपना सकता है परन्तु इन माध्यमों में से किस माध्यम को अपनाया जाए, यह संवाद की प्रकृति और संवाद प्राप्तकर्ता की अभिरूचि पर निर्भर करती है। एक अच्छे प्रेषक को कई माध्यमों का प्रयोग करके संदेशवाहन प्रणाली को रूचिपूर्ण बनाने का प्रयत्न करना चाहिए और अन्तर्निहित बाधाओं को दूर करना चाहिए।

(4) प्रापक द्वारा संदेश की प्राप्ति –सदेश एक या अनेक व्यक्तियों द्वारा, संगठन के या बाहरी व्यक्तियों द्वारा या निकट एवं दूरस्थ व्यक्तिों के द्वारा प्राप्त किए जा सकते हैं। संदेश प्रापक को अच्छा श्रोता जरूर होना चाहिए। आधा सुनना तो सुनना ही नहीं है। कोई भी व्यक्ति संदेशवाहन व्यवस्था का आनन्द भी ले सकता है जबकि 100% सूचना सही सन्दर्भों में वह ग्रहण करे। ध्यान से न सुनना या सुन करके भी उपेक्षा करना तो संदेशवाहन के उद्देश्य को समाप्त कर देती है। प्रापक में संदेश समझने की पर्याप्त क्षमता होनी चाहिए।

(5) संकेतार्थीकरण – जब सन्देश प्रापक के पास पहुंच जाते हैं तो वह इसका संकेतार्थीकरण अथवा कूटानुवाद करता है। यह संकेतीकरण का बिल्कुल विपरीत है। प्रापक संदेश का भाष्य करता है, इसका अर्थ लगा करके चिन्हों, तस्वीरों या विचारों का विश्लेषण करके उनके उद्देश्य को समझता है। ऐसा करते समय वह अपने अनुभवों, प्रत्यक्षीकरण, आवश्यकताओं, अपेक्षाओं व मूल्यों आदि जैसे व्यक्तित्वजन्य विशेषताओं से प्रभावित होता है। यदि प्रापक संदेश को उसी अर्थ और भाव में समझ लेता है, जो प्रेषक का है तो कहा जा सकता है कि सन्देशवाहन की प्रक्रिया प्रभावी है।

(6) प्रतिक्रिया –प्रभावी सन्देशवाहन प्रक्रिया तभी पूर्ण मानी जाती है जबकि प्रेषक को प्रापक की प्रतिक्रियाओं का ज्ञान हो। क्या प्राप्तकर्ता ने संदेश को उसी अर्थ में समझ लिया है जो अर्थ प्रेषक का है? क्या उसने कार्यवाही प्रारम्भ कर दी है आदि की जानकारी प्रेषक को प्राप्त होते ही संदेशवाहन प्रक्रिया पूर्ण मानी जाती है। इस प्रतिपुष्टि से सन्देशवाहन की प्रभावशीलता बढ़ जाती है। शीघ्र प्रतिपुष्टि का अर्थ है कि सन्देश समझ लिया गया है और कार्यवाही प्रारम्भ कर दी गई है। यह कार्यवाही सकारात्मक, नकारात्मक अथवा तटस्थ भेल ही हो सकती है।

18.5 प्रभावी सन्देशवाहन की विशेषताएं

सन्देशवाहन की कुशलता मात्र सन्देशों के आदान–प्रदान पर ही निर्भर नहीं है बल्कि यह भी देखना चाहिए कि इसका प्रापक पर क्या प्रभाव पड़ता है। संदेशवाहन की अच्छी प्रणाली में निम्नांकित तत्वों का होना आवश्यक होता है : (1)वह उद्देश्यपरक और सार्थक होना चाहिए। (2) वह पूर्णतया स्पष्ट, त्रुटिहीन और सरल हो। (3) उसमें यथासम्भव संक्षिप्तता और शीघ्रता भी हो। (4) उसमें प्रभावशाली भाषा और विषय सामग्री हो। (5) वह यथासम्भव अनौपचारिक हो। (6) उसमें प्रतिपुष्टि की व्यवस्था हो। (7) सन्देशवाहन में ऐसे काम को करने या न करने का आदेश न हो जिस पर अमल करना मानवीय शक्ति के बाहर हो। (8) उसमें ऐसी कोई बात न हो जो सन्देश प्रापक में विरोध की भावना को जन्म देता हो। (9) संदेशवाहन प्रणाली को सतत् सजग बनाये रखने के लिए उसमें आवश्यकतानुसार संशोधन करते रहना चाहिए। (10) संदेशवाहन की व्यवस्था द्विमार्गीय होनी चाहिए, एकमार्गीय नहीं। (11) पूर्वाग्रहों का परित्याग करना चाहिए और भावनात्मक एकता, सौहार्द्रपूर्ण वातावरण, व्यक्तिगत स्वार्थों का परित्याग, कुशल पर्यवेक्षण आदि सन्देशवाहन को प्रभावी बनाता है। (12) सन्देश की अनिवार्यता, तीव्रता और प्रकृति को ध्यान में रखते हुए उचित माध्यम का चुनाव किया जाना चाहिए। (13) प्रभावी सन्देशवाहन व्यवस्था हेतु प्रबन्ध के स्तर यथासम्भव न्यूनतम होने चाहिए। (14) प्रेषक और प्रापक दोनों में श्रेष्ठ श्रोता का गुण एवं भावना अवश्य होना चाहिए। (15) सन्देशवाहन करते समय प्रेषक को प्रापक की वैयक्तिक विशेषताओं पर भी ध्यान रखना चाहिए।

18.6 सन्देशवाहन के सिद्धान्त

संदेशवाहन के सिद्धान्त निम्नलिखित हैं–

1. **स्पष्टता और पूर्णता का सिद्धान्त**– सन्देश जिस उद्देश्य से भेजा जाता है उसकी पूर्ति तभी ही हो सकती है जबकि यह स्पष्ट, संक्षिप्त और पूर्ण हो। सन्देश बहुअर्थी न हो करके, सरलता से समझ में आने योग्य, स्पष्ट एवं सुबोध होना चाहिए जिससे कि प्रापक प्रेषक के मंशानुसार कार्य कर सके। उसमें अनावश्यक, अलंकारिक व अतिश्योक्तिपूर्ण शब्दों का प्रयोग न करके साधारण व दैनिक बोचचाल की भाषा होनी चाहिए। सन्देश संक्षिप्त होने के साथ ही साथ पूर्ण भी होना चाहिए जिससे प्रापक उसका वही अर्थ निकाले जो सन्देश प्रेषक चाहता है।

2. **समयानुकूलता**–सन्देशवाहन में समयानुकूलता होनी चाहिए अर्थात् प्रेषण में अनावश्यक विलम्ब नहीं करना चाहिए अन्यथा लाभ के अवसर हाथ से निकल सकते हैं। सही समय पर दिया गया सन्देश दूसरे पक्ष के व्यवहार, आधार और विचार को प्रभावित करके उनके मस्तिष्क पर अमिट छाप छोड़ कर सहज भाव से आकर्षित करता है। यह सही समय सन्देश प्रापक की आवश्यकता की प्रकृति, संगठन की प्रकृति और परिस्थिति पर निर्भर करेगा।

3. **निरन्तरता**– सन्देशवाहन सम्बन्धित पक्षों के मध्य निर्बाध गति से सतत् चालू रहना

चाहिए जिससे निरन्तर विचारों के आदान–प्रदान का लाभ मिल सके। अब सन्देशवाहन इकतरफा न हो करके द्विमार्गी व सतत् ठीक माना जाता है।

4. **आकर्षकता**–सन्देशवाहन का महज उद्देश्य सूचना देना या विचार अभिव्यक्ति नहीं है बल्कि दूसरों को स्वीकार्य कराना भी है। कभी–कभी तो उचित संदेश भी गलत प्रस्तुतीकरण के कारण प्रापक को अरूचिपूर्ण लगते हैं। अतः सन्देशवाहन को प्रभावी बनाने हेतु संदेश में विनम्रता, मधुरता एवं शालीनता होनी चाहिए।उसमें तर्क के साथ ही साथ सामुदायिक भावना का भी पुट होना चाहिए जिससे कि वह प्रापक को आकृष्ट करके स्वीकार्यता ला सके।

5. **प्रतिपुष्टि**–सन्देशवाहन के कुशल होने हेतु यह आवश्यक है कि प्रेषक यह प्रतिपुष्टि ले कि प्रापक तक सन्देश पहुंच चुका है कि नहीं। वह इससे सहमत है अथवा असहमत और इस सम्बन्ध में उसका कोई सुझाव तो नहीं है। **पीटर एफ. ड्रकर** ने इस बारे में बड़ी सुन्दर व्याख्या किया है। उनके अनुसार यदि जंगल में कोई पेड़ गिरता है तो इसकी आवाज तभी अनुभव होगा जब कोई इसे सुने। सन्देश प्रेषक का सन्देश तभी सन्देशवाहन बन पाएगा जब प्रापक उसे सुन कर समझ ले।

6. **उचित माध्यम** –संदेशवाहन हेतु उचित सम्प्रेषण माध्यम चुनना भी जरूरी है। संस्था की क्षमता के अनसार ऐसी विधि अपनानी चाहिए जो शीघ्रता और उचित लागत में सन्देश पहुंचा दे।

7. **आदर्श व्यवहार एवं विश्वास**–सन्देश प्रापक और सन्देश प्रेषक के बीच विश्वास, सद्भाव और पारस्परिक सहयोग का वातावरण होना चाहिए जिससे कि वे एक दूसरे की बात को सुनने, समझने और ग्रहण करने के लिए मानसिक रूप से तैयार हों। साथ ही संदेश प्रेषक को निर्देशित नियमों के पालन हेतु, सन्देश भेजने से पूर्व स्वयं पालन करके आदर्श दृष्टान्त प्रस्तुत करना चाहिए। प्रायः समय पर कार्यालय में उपस्थित होने के लिए सभी कार्यालयों में बार–बार अधिकारी प्रसारण कराता है परन्तु खुद ही लेट से आता है तो आदेश का पालन क्या खाक होगा। उसे तो "Example is better than percept"कहावत को लागू करना होगा।

8. **अन्य**–(i) अनौपचारिकता का सिद्धान्त, (ii) परामर्श का सिद्धान्त, (iii) प्रापक के उचित ज्ञान का सिद्धान्त, एवं (iv) ध्यानाकर्षण का सिद्धान्त आदि।

18.7 संदेशवाहन का महत्व

वर्तमान समय में प्रबन्ध और व्यवसाय की आधारशिला और जीवन–शक्ति संदेशवाहन ही हैं। आधुनिक व्यवसाय स्थानीय, राज्यीय और राष्ट्रीय परिधि को लांघकर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में पहुंच चुका है। बड़े पैमाने पर उत्पादन, तीव्र प्रतियोगिता और विशिष्टीकरण आदि ने व्यावसायिक प्रबन्ध के क्षेत्र में इतनी जटिलता उत्पन्न कर दी है कि सुव्यवस्थित सन्देशवाहन के बिना व्यवसाय संचालन सम्भव ही नहीं रह गया है। **कीथ डेविस** के अनुसार, ''संदेशवाहन व्यवसाय के लिए उसी प्रकार आववश्यक है जिस प्रकार मनुष्य के लिए रक्तधारा आवश्यक है।''**प्रो0 थियो हैमन** के शब्दों में, ''सभी प्रबन्धकीय कार्यों की सफलता सफल सन्देशवाहन पर निर्भर करती है।'' इसी प्रकार का वक्तव्य **पीटर्स** ने दिया

है कि, ''अच्छा सन्देशवाहन सुदृढ़ प्रबन्ध की नींव है।'' सन्देशवाहन के महत्व को निम्नलिखित तथ्यों के आधार पर और भी स्पष्ट किया जा सकता है –

1. व्यवसाय का सफल व कुशल संचालन –व्यवसाय का आकार चाहे छोटा हो या बड़ा उसके कुशल व सफल संचालन हेतु संदेशवाहन आवश्यक होता है। प्राचीन काल में व्यवसाय का एकाकी स्वरूप था तथा उत्पादन और वितरण में कम जटिलताएं थी, तब संदेशवाहन का सीमित महत्व था। परन्तु, आज व्यवसाय का स्वरूप फर्म, कम्पनी और बहुराष्ट्रीय निगम का हो जाने के कारण जटिलताएं इतनी बढ़ गई हैं कि बिना सुव्यवस्थित संदेशवाहन प्रणाली के न तो व्यवसाय जीवित रह सकता है और न ही भली–भांति ढंग से संचालित हो सकता है। संगठन की सफलता, असफलता, कार्य और अस्तित्व संदेशवाहन व्यवस्थ की योग्यता पर आधारित है।

2. प्रबन्धकीय कार्यों का आधार –प्रबन्ध के विभिन्न कार्यों के निष्पादन में सन्देशवाहन प्रमुख भूमिका निभाता है। सन्देशवाहन के अभाव में समस्त प्रबन्धकीय कार्य असफल रहते हैं। इसी कारण से सन्देशवाहन प्रबन्धकीय कार्यों का आधार माना जाता है। प्रबन्ध के मुख्य कार्यों में सन्देशवाहन के महत्व को निम्न प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है–**(क) नियोजन में**– प्रबन्धकीय नियोजन में समस्त संस्था के लिए उद्देश्यों, नीतियों, कार्यक्रमों, कार्यविधियों और बजटों का निर्धारण होता है। सफल प्रबन्धकीय नियोजन तभी सम्भव हो सकता है जब प्रबन्ध को पर्याप्त सूचनाएं, प्रतिवेदन, सम्मतियां, आंकड़े आदि विविध विभागों से सन्देशवाहन प्रणाली के तहत समय से प्राप्त हों। साथ ही निर्धारित की गई योजनाओं की जानकारी प्रदान करके लागू करने का प्रयास करता है। सन्देशवाहन के अभाव में योजनाएं केवल कागजी कार्यवाही रह जाती हैं। सन्देशवाहन के माध्यम से क्या करना है, कब करना है और किसे करना है, आदि बातों का निर्णय शीघ्रता व सरलता से किया जा सकता है। अतः स्पष्ट है कि नियोजन करने और उसके क्रियान्वयन के लिए सन्देशवाहन का विशिष्ट स्थान होता है। **(ख) संगठन में**– व्यवसाय में सन्देशवाहन व्यवस्था जितनी प्रबल एवं त्रुटिरहित होती है उतना ही संगठन प्रभावशाली ढंग से कार्य करता है। अधिकार व दायित्वों का निर्धारण व प्रतिनिधायन तथा कर्मचारियों को उनसे अवगत कराना संगठन का कर्तव्य होता है, जो बिना प्रभावी सन्देशवाहन के सम्भव ही नहीं हो सकता। **बर्नार्ड** के अनुसार, ''संगठन के व्यापक सिद्धान्तों में सन्देशवाहन का एक केन्द्रीय स्थान है, क्योंकि संगठन के विस्तार और क्षेत्र का निर्धारण प्रायः सन्देशवाहन की तकनीकों के द्वारा होता है।'' **जी0आर0टैरी** के शब्दों में, ''सन्देशवाहन वह साधन है जिसके माध्यम से अधिकार प्रतिनिधायन की क्रिया पूर्ण होती है।'' एक प्रभावी सन्देशवाहन व्यवस्था विलम्बों, भ्रान्तियों, रूकावटों, विकृतियों को दूर करने संस्था के विचारों और कार्यों में एकता स्थापित करती है। **(ग) निर्देशन में**– सन्देशवाहन निर्देशन का मौलिक साधन है। कुशल निर्देशन हेतु नेतृत्व, पर्यवेक्षण और अभिप्रेरण जरूरी होता है। ये तीनों कार्य बिना प्रभावी संदेशवाहन के सम्भव ही नहीं है। जो व्यक्ति स्वयं बातचीत, भाषण या लेखन द्वारा स्पष्ट रूप से मत व्यक्त करने के अयोग्य हो, वह अन्य व्यक्तियों को प्रभावित नहीं कर सकता और न ही कुशल नेतृत्व कर सकता है। **डॉ0 एच0के0 सिंह** के मतानुसार, ''श्रेष्ठ सन्देशवाहक ही श्रेष्ठ नेतृत्वकर्ता और प्रबंधक

बन सकता है। सन्देशवाहन द्वारा नेता और अधीनस्थों के बीच विश्वास की भावना जागृत की जाती है और अधीनस्थों का पर्यवेक्षण और अभिप्रेरण अति प्रभावी ढंग से किया जा सकता है। अधीनस्थों से सुझाव, विचार, शिकायतें आदि प्राप्त करके अपने आदेश व निर्देश को प्रबन्धक उपयोगी बना सकता है।'' **(घ) समन्वय और नियंत्रण में**– प्रत्येक व्यावसायिक संस्था के विभिन्न विभागों जैसे क्रय विभाग, विक्रय विभाग, निर्माण विभाग, श्रम विभाग, वित्त विभाग आदि में पारस्परिक समन्वय स्थापित करने हेतु सामूहिक विचार विमर्श, सामयिक सूचनाओं का आदान–प्रदान, बैठकें, सम्मेलन, सम्पर्क अधिकारी की स्थापना आदि जरूरी होते हैं। समन्वय के लिए सन्देशवाहन आवश्यक होता है। इसी प्रकार बिना सक्षम सन्देशवाहन के नियंत्रण सम्भव नहीं है। नियंत्रण विधियों के माध्यम से प्रबन्धक यह जानने का प्रयत्न करता है कि पूर्व निर्धारित योजनानुसार कार्य हो रहा है अथवा नहीं। इसके अलावा त्रुटियों व विचलनों को ज्ञात करके सुधारात्मक कार्यवाही सुनिश्चित की जाती है। ये सभी कार्य बिना प्रभावी संदेशवाहन प्रणाली के सम्भव नहीं है।

(3) न्यूनतम लागत पर अधिकतम उत्पादन–प्रत्येक उपक्रम न्यूनतम लागत पर अधिकतम उत्पादन का लक्ष्य रखता है, जिसकी प्राप्ति पर ही उपक्रम का अस्तित्व और सफलता निर्भर करती है। यह लक्ष्य सम्वर्द्धन उसी दशा में सम्भव है जबकि कर्मचारी वर्ग संस्था की नीतियों व लक्ष्यों से परिचित हों तथा वे संस्था के हित को अपना हित समझकर अनुपस्थिति दर, कर्मचारी परिवर्तन दर, हड़ताल व तालाबन्दी को न्यूनतम करने का प्रयत्न करें। यह तभी सम्भव है जबकि कर्मचारी और प्रबन्धक वर्ग में सौहार्द्रपूर्ण मधुर सम्बन्ध हो और इसके लिए उनके मध्य निरन्तर वार्तालाप और विचारों का आदान–प्रदान जरूरी होता है।

(4) जनतांत्रिक भावना को बल –सन्देशवाहन कर्मचारियों के विचारों, सुझावों, भावनाओं आदि को प्रबन्धकों तक पहुंचाता है और प्रबन्धकीय कार्यों में उन्हें प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से भाग लेने का अवसर प्रदान करता है जिससे कर्मचारियों का मनोबल ऊँचा होता है, संस्था में शान्तिमय वातावरण रहता है कर्मचारी अभिप्रेरित होते हैं और मधुर श्रम सम्बन्धों का विकास होता है।

(5) भ्रमों का निवारण –अच्छी सन्देशवाहन व्यवस्था उपक्रम में कार्यरत कर्मचारियों और बाह्य पक्षों को संस्था के प्रति सही जानकारी प्रदान करता है अतः कोई गलत धारणा या भ्रम अनावश्यक नहीं फैलता है और फैले हुए भ्रमों का निवारण शीघ्रता से हो जाता है। भ्रम के दूर हो जाने से संस्था में निश्चितता का वातावरण रहता है जिससे पारस्परिक सहयोग का वातावरण पनपता है। प्रबन्धक और अन्य पक्षों के बीच गलतफहमियां दूर हो जाती है और वे एक दूसरे को समझने का प्रयत्न करते हैं।

(6) बाह्य पक्षों से सम्पर्क –सन्देशवाहन की महत्ता आन्तरिक प्रबन्ध के लिए संस्था के प्रबन्धकों और कर्मचारियों के मध्य सम्पर्क स्थापित करने तक ही सीमित नहीं है, अपितु इसकी महत्ता बाह्य पक्षों से सम्पर्क बनाए रखने के लिए भी कम नहीं है। संस्था के विविध बाहरी पक्षकार होते हैं जैसे– ग्राहक, सरकारी कार्यालय, अन्य व्यापारी, उपभोक्ता परिषद्, विज्ञापनकर्ता संस्थाएं, पूर्तिकर्ता, श्रम संघ, अनुसंधान व वैज्ञानिक संस्थाएं, सामान्य जनता आदि। सन्देशवाहन का कार्य सामाजिक सम्बन्धों को सुगम बनाना

भी है। व्यवसाय के सुचारू संचालन हेतु बाह्य पक्षकारों से सन्देशवाहन प्रणाली के माध्यम से निरन्तर सम्पर्क बनाए रखा जाता है जिससे संस्था की ख्याति बढ़ती है और समाज के लोग संस्था के प्रति अनुकूल धारणा बनाते हैं।

(7) अन्य –(अ) शीघ्र निर्णय और क्रियान्वयन, (ब) कर्मचारियों के मनोबल और ऊर्जा में वृद्धि, (स) प्रबन्धकीय क्षमता का विस्तार, और (द) संस्था की ख्याति में वृद्धि आदि।

18.8 संदेशवाहन के माध्यम

संदेशवाहन के माध्यमऔर उनके विवरण निम्नांकित है–

1. मौखिक सन्देशवाहन –मौखिक सन्देशवाहन से तात्पर्य संवाददाता द्वारा किसी सूचना या संवाद का मुख से उच्चारण कर संवाद प्राप्तकर्ता को प्रेषित करने से है। इसमें संदेश प्रेषण में संवाददाता तथा संवाद प्राप्तकर्ता आमने–सामने होते हैं अतः व्यक्तिगत पहुंच सम्भव होती है। मौखिक सन्देशवाहन के विविध साधन निम्नलिखित हैं : (i) व्यक्तित वार्तालाप, (ii) सामूहिक वार्तालाप, (iii) टेलीफोन, (iv) रेडियो, (v) दूरदर्शन, (vi) सामाजिक गोष्ठी, (vii) स्लाइड और चलचित्र प्रदर्शन, (viii) साक्षात्कार, और (ix) सम्मेलन आदि।

मौखिक सन्देशवाहन **के लाभ**–मौखिक सन्देशवाहन से होने वाले लाभ निम्नांकित हैं–

(1) इसमें सन्देश को लेखनीबद्ध करने की आवश्यकता न होने के कारण समय, कागज और स्याही पर व्यय नहीं करना पड़ता है।

(2) इसमें बिना औपचारिकता के सन्देश सरलता और शीघ्रता से प्रेषित हो जाते है।

(3) यह माध्यम अत्यधिक प्रभावशाली है जिसमें आंख, कान, सिर, मौनता, मुंह, भौंहें, हाथ के साथ ही साथ भावकृति और मुखाकृति विविध अभिव्यक्तियों जैसे प्रसन्नता, क्रोध, सान्त्वना, आदर व घृणा को सरलता से प्रकट कर देते हैं।

(4) इसमें सन्देश आसानी से समझ में आता है और संयोग से सन्देह, शंका और भ्रम होने पर तत्काल व प्रत्यक्षतया निवारण भी किया जा सकता है। साथ ही संदेश प्रापक आदेश को तुरन्त क्रियान्वित भी कर सकता है।

(5) यह पारस्परिक सद्भाव और सद्विश्वास में वृद्धि करता है। यह व्यक्तिगत सम्पर्क और तालमेल को बढ़ाता है।

(6) इससे वाक्चातुर्य, सृजनात्मकता और व्यावहारिक कुशलता में वृद्धि होती है।

(7) आपत्तिकाल में कार्य में गति लाने के लिए मौक्षिक सन्देशवाहन ही एक मात्र विकल्प होती है। व्यावहारिक रूप से न तो यह सम्भव है और न ही आर्थिक दृष्टि से वांछित कि हर संदेश को

लिखित रूप से दिया जाए।

मौखिक संदेशवाहन के दोष– इसके दोष निम्न हैं–

(1) इसे गलत समझा जा सकता है और तोड़ा–मरोड़ा जा सकता है।

(2) इसके लिए सन्देश देने वाले व्यक्ति और सन्देश पाने वाले व्यक्ति का प्रत्यक्ष सम्पर्क होना आवश्यक है। यदि किसी समय संदेश प्राप्तकर्ता उपलब्ध न हो तो मौखिक सन्देशवाहन सम्भव नहीं होता है।

(3) मौखिक सन्देशवाहन लम्बे संवादों के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है क्योंकि प्राप्तकर्ता द्वारा इन्हें याद रख पाना असम्भव जैसा होता है।

(4) मौखिक संदेशवाहन में प्रेषित किए गए संदेशों का कोई लिखित साक्ष्य नहीं रहता है, अतः कभी वैधानिक कार्यवाही होने पर कठिनाई उत्पन्न होती है।

(5) मौखिक संदेशवाहन अन्य साधनों की तुलना में खर्चीला है। उदाहरणार्थ, पोस्ट आफिस के माध्यम से संदेश भेजना टेलीफोन और कम्प्यूटर से बात करने की अपेक्षा अधिक सस्ता है।

(6) इसमें सूचनाकर्ता को सोचने का अधिक मौका नहीं मिलने के कारण कभी–कभी न चाहते हुए भी कटु शब्द मुख से निकल जाते हैं।

(7) महत्वपूर्ण मामलों, जैसे नीति सम्बन्धी घोषणा, सेवा की शर्तों आदि के मामले में यह उपयुक्त नहीं है।

(8) मौखिक सन्देशवाहनों में भाषा की भिन्नता, संकोच, गहरी संवेदनाएं, द्वेष, शोर, पद–भिन्नता और बौद्धिक स्तर में अन्तर के कारण अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं।

(2) **लिखित सन्देशवाहन**– लिखित संदेशवाहन उन निर्णयों, नीतियों, नियमों, कार्यविधियों, आदेशों व निर्देशों को दर्शाते हैं जो कागज पर लिख करके अभिव्यक्त किए जाते हैं। संगठनात्मक स्मृति के रूप में इसकी प्रमुख भूमिका होती है। लिखित सन्देशवाहन के प्रमुख साधन एवं उदाहरण निम्नलिखित हैं – (i) पत्र, (ii) पत्रिकाएं, (iii) बुलेटिन, (iv) प्रतिवदेन, (v) हैण्डबुक, (vi) मैनुअल्स, (vii) सुझाव पुस्तिकाएं, (viii) डायरियां, (ix) समाचार पत्र, एवं (x) सूचना पट एवं पत्रक आदि। लिखित संदेशवाहन रेखाचित्रों, मानचित्रों, प्रतिरूपों, आकृतियों, रूपरेखाओं व प्रगति लेखाओं के रूप में चित्रों द्वारा भी प्रवाहित हो सकती हैं। जो बात सैकड़ों–हजारों शब्दों में कही जाती है उसे मात्र कुछ चित्रों द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।

लिखित संदेशवाहन **के लाभ**– ऐसे संदेशवाहन के निम्न लाभ है–

(1) इसमें संदेश प्रेषक और संदेश प्रापक के मध्य प्रत्यक्ष सम्पर्क की आवश्यकता नहीं होती है।

(2) दूर–दूर जगहों पर रहने वाले व्यक्तियों के पास पत्रों को डाक द्वारा सन्देश भेजकर कम व्यय

में सूचना प्रेषित की जा सकती है।

(3) संवाद लिखित होने के कारण भविष्य में प्रमाण का कार्य भी करता है।

(4) यह विस्तृत और जटिल सूचनाओं के प्रेषक के लिए अधिक उपयोगी है।

(5) इसमे स्पष्टता का गुण होता है।

(6) इसमें परिशुद्धता की जांच हो सकती है।

(7) विविध व्यक्तियों का एक ही सूचना एक ही समय पर देने के लिए यह सर्वोत्तम साधन है।

(8) कर और विधान की अपेक्षाओ के अनुसार यह आवश्यक हैं।

लिखित संदेशवाहन के दोष– इसके दोष निम्नलिखित हैं–

(1) यह अशिक्षित व्यक्तियों के लिए अनुपयुक्त होता है।

(2) प्रत्येक संवाद को लेखनीबद्ध करने में समय, श्रम और धन का अपव्यय होता है।

(3) प्रत्यक्ष सम्पर्क का अभाव होने के कारण संवाद प्राप्तकर्ता की प्रतिक्रियाओं का ज्ञान प्रेषक को नहीं हो पाता है।

(4) इसमें गोपनीयता का अभाव होता है क्योंकि लिखित सूचना कोई भी व्यक्ति पढ़ सकता है।

(5) लिखित संदेशवाहन को अद्यतन बनाए रखना कठिन होता है। एक छोटी सी बात छूट जाने पर पूरी प्रक्रिया की पुनरावृत्ति मुश्किल होती है।

(6) यह संवाद प्रेषक की भावनाओं को व्यक्त करने में सक्षम नहीं होता है।

(7) अशिक्षित व्यक्तियों के लिए इसका कोई अर्थ नहीं होता है क्योंकि उनके लिए काला अक्षर भैंस बराबर होता है।

सावधानियां–संवाद को लिखते समय उसे प्रभावी बनाने हेतु निम्न बातों पर ध्यान देना चाहिए–

(1) संवाद संक्षिप्त और प्रचलन में आने वाले सरल शब्दों का प्रयोग करते हुए होना चाहिए, परन्तु संक्षिप्तता के लिए पूर्णता का त्याग नहीं किया जाना चाहिए।

(2) संवाद की भाषा शुद्ध होनी चाहिए परन्तु शुद्धता के साथ ही साथ नम्रता और मधुरता भी होनी चाहिए।

(3) संवाद की भाषा में बहुअर्थी शब्द नहीं प्रयोग करने चाहिए।

(4) सरल शब्दों एवं प्रचलित मुहावरों में धारावाहिकता और क्रमबद्धता होनी चाहिए।

(5) संवाद में प्रस्तुत की गई सामग्री में धारावाहिकता और क्रमबद्धता होनी चाहिए।

(6) चार्टों और उदाहरणों आदि का प्रयोग करना चाहिए।

(7) अलंकारों और विशेषणों का प्रयोग न्यूनतम करना चाहिए।

(8) संदेश की भाषा किसी व्यक्ति के सम्मान को ठेस पहुंचाने वाली नहीं होनी चाहिए।

मौखिक बनाम लिखित सन्देशवाहन

यह कहना अत्यन्त कठिन है कि मौखिक और लिखित सन्देशवाहन में कौन श्रेष्ठ है क्योंकि दोनों ही के अपने गुण दोष हैं और किसी भी एक को सभी व्यापारिक प्रतिष्ठानों के लिए प्रत्येक परिस्थिति में सर्वोत्तम नहीं कहा जा सकता है। आधुनिक उपक्रमों में दोनों आवश्यक हैं तथा दोनों में समन्वय स्थापित किया जाना चाहिए। वस्तुतः यह परिस्थिति विशेष पर निर्भर है कि किस समय किस माध्यम का प्रयोग हो। अगर वर्तमान प्रतिस्पर्धी युग में प्रबन्धक केवल एक ही विधि का चयन करता है तो उसे गम्भीर असफलता का सामना करना पड़ सकता हैं।''

एक विद्वान तो लिखित सन्देशवाहन की अति प्रशंसा करते हुए लिखते हैं कि, ''जीभ और कलम दोनों ही मस्तिष्क को परिभाषित करते हैं, लेकिन मैं कलम को दोनों में अधिक निष्ठावान समझता हूँ। जीभ चूंकि बहुत ही फिसलने वाले स्थान पर स्थित है इसलिए अचानक तत्काल प्रस्तुत की जाने वाली अभिव्यक्तियों में त्रुटि कर सकती है या असफल हो सकती है लेकिन कलम को चूंकि पूर्व विचार करने के अवसर का लाभ प्राप्त होता है, त्रुटि नहीं करती और अपने पीछे दृढ़ और विश्वसनीय अभिलेख छोड़ती है।'' परन्तु लिखित सन्देशवाहन के उपरोक्त यशगान में निहित दोषों और परेशानियों को ध्यान नहीं दिया गया है। सत्यता यह है कि तमाम दशाओं में मौखिक सन्देशवाहन भी श्रेष्ठ सिद्ध होता है और लिखित और मौखिक सन्देशवाहन के अपने–अपने पृथक् प्रभाव क्षेत्र हैं। दोनों एक दूसरे के स्थानापन्न योग्य विकल्प नहीं है।

3. सांकेतिक सन्देशवाहन –यह संदेशवाहन का एक ऐसा साधन है, जिसमें न बोलना पड़ता है और लिखना न पड़ता हैं। इसमें संवादों का सम्प्रेषण संकेतों, हावभावों, इशारों, मूकता, आचरण व व्यवहार आदि से होता है। सांकेतिक संदेशवाहन में शारीरिक भाषा सर्वाधिक मान्यता है। विभिन्न प्रकार की शारीरिक चेष्टाएं अपना अर्थ और सन्देश देती हैं। इनमें चेहरे, आंखों, हाथों, ललाट और हाथ–पैरों की गतिविधियां महत्वपूर्ण हैं। हम **शारीरिक भाषा को मौखिक भाशा के पूरक के रूप में देख सकते है।** यह संदेशवाहन की प्रतिपुष्टि भी प्रदान करता है कि क्या उसे समझा जा रहा है। शान्त रहना भी सांकेतिक संदेशवाहन है। किसी व्यक्ति के ललाट पर पड़े बल और भाव–भंगिमा असहमति की इतनी स्पष्ट अभिव्यक्ति है जो संदेशवाहन है। किसी व्यक्ति के ललाट पर पड़े बल और भाव–भंगिमा असहमति की इतनी स्पष्ट अभिव्यक्ति है जो कई सौ शब्दों में प्रकट नहीं की जा सकती है। किसी सजग व संवेदनशील व्यक्ति द्वारा ही शारीरिक भाषा और स्वर के निहितार्थ को सुना व समझा जा सकता है।

4. औपचारिक **संदेशवाहन** –इसका आशय ऐसे सन्देशवाहन से है जो अधिकार और दायित्व के औपचारिक संगठन ढ़ांचे पर आधारित होते हैं। इसमें संदेश का आदान–प्रदान लिखित रूप से अधीनस्थ व पदाधिकारियों की सौपानिक श्रृंखला से होता है। इसमें "Through Proper Channel"के कारण मान्यता प्राप्त पदों के औपचारिक क्रम के अनुसार संदेश गुजरते हैं। संवाददाता और संवाद प्राप्तकर्ता के मध्य औपचारिक सम्बन्धों का निर्माण संगठन चार्ट द्वारा होता है। इस चार्ट के आधार पर अधिकार और उत्तरदायित्व का निर्धारण होता है और इन्हीं अधिकार और उत्तरदायित्वों के द्वारा औपचारिक सन्देशवाहन के मार्ग निर्धारित होते हैं।

औपचारिक सन्देशवाहन की विशेषताएं– (1) अधिकांश दशाओं में औपचारिक सन्देश लिखकर दिया जाता है। (2) सूचनाओं का आदान–प्रदान सदैव संगठन में बनी अधिकारियों की खड़ी सीढ़ी के अनुसार ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर की ओर भेजा और प्राप्त किया जाता है। (3) इसके द्वारा केवल अधिकृत और सोची–समझी सूचनाओं का आदान–प्रदान किया जाता है। (4) सामान्यतः इसमें सन्देश की विषय–सामग्री, पद्धति, श्रृंखला और सामयिकता आदि पहले से तय होती है। (5) इसमें आदेश अधिकारी से अधीनस्थ के ऊपर से नीचे और सुझाव अधीनस्थ में अधिकारी को नीचे से ऊपर भेजे जाते हैं।

औपचारिक सन्देशवाहन के लाभ–इसके लाभ निम्नांकित हैं–

(1) इसमें संदेशवाहन की दिशा, प्रकृति और गति संस्था के प्रबन्धकों के पूर्ण नियंत्रण में रहती है।

(2) इससे रेखाधिकारियों की जवाबदेही निर्धारित होती है। किस आदेश को किस अधीनस्थ ने लागू नहीं किया– को पूर्णतया निर्धारित किया जा सकता है।

(3) यह अधीनस्थ और प्रबन्धक के व्यवहार को समझने और तालमेल बैठाने का अच्छा माध्यम है।

(4) संस्था के लक्ष्यों की प्राप्ति में यह सहायक सिद्ध होता है।

औपचारिक संदेशवाहन के दोष–इसके प्रमुख दोष अग्रलिखित हैं–

(1) इसमें नौकरशाही और लालफीताशाही को जन्म मिलता है और कार्यों में विलम्ब होता है। सूचनाएं इतने स्तरों से होकर गुजरती है कि सही अधिकारी तक पहुंचने में, न चाहते हुए भी, आवश्यकता से अधिक देरी लग जाती है।

(2) संगठन के प्रत्येक स्तर पर आगे प्रेषित की जाने वाली सूचनाएं इतनी ज्यादा हो जाती हैं कि उनकी छंटनी करके संक्षिप्तियां बनानी पड़ती हैं। फलस्वरूप कई प्रमुख सूचनाएं रह जाती हैं और कुछ अधूरी सूचनाएं दी जाती हैं।

(3) इसमें उच्चाधिकारियों को सामान्य कार्य के अतिरिक्त सूचनाओं के आदान–प्रदान से अनावश्यक कार्य–भार बढ़ता है।

(4) इमें बड़ी संस्थाओं में अधिकारी और कर्मचारी के मध्य दूरी बढ़ती नजर आती है, क्योंकि सामान्यतया कर्मचारी अनौपचारिकता को ही पसन्द करते हैं।

(5) **अनौपचारिक अथवा अंगूरीलता संदेशवाहन** –इसमें सूचनाओं व सम्वादों का आदान–प्रदान संगठन की औपचारिक रचना के अनुसार नहीं, बल्कि भिन्न लोगों के मध्य सामाजिक रिश्तों व गैर रस्मी आधार पर होता है। यह प्रायः प्रत्यक्ष, मौखिक और सांकेतिक स्वभाव का ही होता है। उदाहरणार्थ, टाइपिस्ट द्वारा किसी अधिकारी के निजी सहायक को कोई टाइप किया हुआ आलेख अनुमोदनार्थ प्रस्तुत किया जाए और व्यस्तता के कारण निजी सहायक इसका अनुमोदन मात्र गर्दन हिलाकर या अन्य प्रकार की कोई मुद्रा बनाकर संकेत कर दे तो इसे अनौपचारिक सन्देशवाहन कहेंगे। इसमें सन्देश शब्दों के बिना उच्चारण किए शारीरिक अंगों के परिचालन मात्र से प्रेषित किए जा सकते हैं। यह अनौपचारिक संगठन, व्यक्तियों की सामाजिक प्रतिक्रियाओं और संदेशवाहन की नैसर्गिक भावना की स्वाभाविक उपज होते है।

अनौपचारिक संदेशवाहन को अंगूरीलता या जनप्रवाद या जनश्रुति सन्देशवाहन भी कहा जाता है क्योंकि सूचना कानो–कान वैसे ही फैलती है जैसे अंगूर की लता जिसका आदि और अन्त ढूंढना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य होता है। इसमें सूचना एवं कुसूचना एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति जक जंगल की आग जैसी तेजी से फैलती है। प्रबन्धक के लिए अनौपचारिक संदेशवाहन के माध्यम से प्रसारित अफवाहों, भविष्यवाणियों, स्पष्टीकरणों और गप्पों पर ध्यान देकर सूचनाएं प्राप्त करनी चाहिए और यथोचित निराकरण करके उत्तेजना को रोकना चाहिए।

प्रकार–अनौपचारिक या जनप्रवाद संदेशवाहन को कीथ डेविस ने चार वर्गों में विभाजित इस प्रकार किया है–**(अ) सीधा रेखा श्रृंखला**–इसमें अगर प्रबन्धक 'अ' ने कोई बात प्रबन्धक 'ब' को बताई और साथ में यह भी कहता है कि वह किसी को ये बातें न बतावे। परन्तु प्रबन्धक 'ब' इसे अपने मित्र 'स' को बता देता है क्योंकि उसको अनदेखा करना 'ब' के वश के बाहर है। इसी प्रकार 'स' अपने कर्मचारी 'द' को बता देता है। **(ब) तारा श्रृंखला** –इसमें एक ही व्यक्ति अफवाह और गप्प को फैलाने के लिए अनेक लोगों को प्रत्यक्षतया बता देता है। **(स) प्रायिकता श्रृंखला** –इसमें कुछ लोगों को अनौपचारिक ढ़ंग से सूचना दी जाती है और कुछ को छोड़ दिया जाता है। **(द) समूह श्रृंखला** –इसमें भी एक कर्मचारी कई कर्मचारियों को और फिर वे अन्यों को सूचना प्रदान करते हैं।

विशेषताएं–(1) यह संदेशवाहन का प्रत्यक्ष और मौखिक है। (2) इसके मार्ग टेढ़े–मेढ़े होते हैं और सन्देश विविध व्यक्तियों के सम्बन्ध और सम्पर्क से प्रेषित होते हैं। (3) इसमें सूचनाओं में मिर्च–मसाला मिला होने से सच्चाई कम होती है जो आंधी व तूफान की तरह तेजी से फैलते हैं। (4) इसमें अफवाहो का आदि–अन्त पता नहीं चल पाता है।

लाभ–(1) यह बहुत तेजी से सूचना प्रसारित करने का माध्यम है क्योंकि इसमें कानों–कान–बात फैल जाती है। (2) यह बहुत ही लचीला माध्यम है जिसमें पद स्थिति और आदेश श्रृंखला का कोई ध्यान नहीं रखा जाता है। (3) इसमें प्रति पुष्टि तुरन्त प्राप्त हो जाती है क्योंकि अनौपचारिक सूत्रो से जानकारी मिलती रहती है। (4) यह प्रबन्धकों के लिए एक सुरक्षा वाल्व का काम करता हैं जिसमें वे अपने मनोभावों को स्वतन्त्र रूप से यह कहते हुए फैला देते हैं कि मैंने ऐसा सुना है। बाद में उत्तरदायित्व भी नहीं रहता है और मुकर भी सकते है। (5) इसमें सन्देश प्रेषक और प्रापक के बीच सहयोग और सद्भाव का विकास होता है।

दोष–(1) कभी–कभी अर्द्ध सत्य, अफवाह और विकृत सूचनाएं संस्था में उत्तेजना का वातावरण बना देती हैं। (2) बहुधा संस्था में मतभेद और गलतफहमी फैलती है जिसका असामाजिक तत्व लाभ उठा सकते हैं। (3) इसमें संदेशवाहन को नियंत्रित करना मुश्किल हो जाता है और बहुधा सही व्यक्ति तक सूचना पहुंच ही नहीं पाती है।

प्रबन्धकों को चाहिए कि वे जनप्रवाद से सूचना का आदान–प्रदान भले ही करें परन्तु भ्रान्तिपूर्ण सूचनाओं को सुधारने हेतु 'अफवाह सुधार मण्डल' का गठन करें जिससे कि कर्मचारियों की शंकाओं का समाधान और आशंकाओं का निराकरण हो सके।

औपचारिक और अनौपचारिक सन्देशवाहन में अन्तर

अन्तर का आधार	औपचारिक सन्देशवाहन	अनौपचारिक सन्देशवाहन
1. लिखित और मौखिक	सामान्यतया यह लिखित सन्देशवाहन होता है।	यह सामान्यतया मौखिक और सांकेतिक होता है।
2. प्रमाणिकता	इसमें संदेश की प्रमाणिकता होती है।	इसमें संदेश की प्रमाणिकता नहीं होती है।
3. मिथ्याबोध	इस माध्यम में कर्मचारियों मे कोई शंका नहीं होती है।	इसमें कर्मचारियों में शंकाएं पैदा होती है।
4. संगठन चार्ट	इसमें औपचारिक संगठन चार्ट प्रयुक्त होता हैं।	इसमें संगठन चार्ट की कोई उपादेयता नहीं होती है।

5. उत्तरदायित्व निर्धारण	यहां सदेश प्रेषण हेतु उत्तरदायित्व निर्धारण सहज होता है।	यहां यह कार्य मुश्किल होता है।

6. **अधोमुखी संदेशवाहन** –ऐसा संदेशवाहन जो उच्चाधिकारियों से अधीनस्थों की ओर प्रवाहित होता है, अधोमुखी सन्देशवाहन कहलाता है। इस प्रकार के संदेशवाहन में यह सावधानी बरतनी चाहिए कि बीच में पदाधिकारियों की उपेक्षा न की जाए, नहीं तो वे उपेक्षित समझेंगे और उनमें निराशा फैल सकती है। यह मौखिक, लिखित और सांकेतिक किसी भी प्रकार का हो सकता है। इसमें वैयक्तिक निर्देश, वक्तव्य, भाषण, टेलीफोन, स्लाइड्स, सीटी बजाकर, घण्टी बजाकर, पत्र, पैम्पलेट, बुलेटिन सूचना पट्ट पर प्रसारण आदि शामिल होते हैं। अधोमुखी सन्देशवाहन का मुख्य लाभ यह है कि सम्पूर्ण संगठन मे तालमेल बना रहता है और एक सूत्र में पिरो करके एक ही दिशा में प्रयत्न किए जाते हैं। उच्च प्रबन्धकों की योजनाओं, नीतियों, निर्देशों तथा मांगों की साफ–साफ, तत्काल और सही जानकारी मिलती रहती है।

7. **ऊर्ध्वमुखी संदेशवाहन** –इस प्रकार के संदेशवाहन में सूचना अथवा प्रार्थना नीचे से ऊपर की ओर की जाती है। इसमें कर्मचारी अपनी समस्याएं, सुझाव, प्रतिवेदन, आदि अपने पर्यवक्षक के माध्यम से उच्च प्रबन्ध तक पहुंचाते हैं। वास्तव में, यह सन्देशवाहन अधोमुखी सन्देशवाहन के लिए प्रतिपुष्टि सामग्री प्रदान करता है। इसके माध्यम से प्रबन्धक को अपने कर्मचारियों के असन्तोष, क्षोभ, आपत्ति, आलोचनाओं और विचारों को जानने का अवसर मिलता है और भावी निर्णयों के लिए मार्गदर्शन भी मिलता है। इसके लिए प्रबन्धक प्रर्यवेक्षकों से प्रतिवेदन, मांगने, शिकायत निवारण की व्यवस्था करने, प्रतिनिधियों की साप्ताहिक–पाक्षिक बैठक करने आदि की व्यवस्था कर सकते हैं।

8. **समतल सन्देशवाहन** –जब एक ही स्तर के विभिन्न व्यक्तियों के मध्य सन्देशवाहन होता है तो यह समतल सन्देशवाहन कहा जाता है इसमें सूचना का सम्प्रेषण एक इकाई के विविध विभागाध्यक्षों अथवा एक ही स्तर के व्यक्तियों के बीच किया जाता है। इसमें विभिन्न तथ्यों पर विचार–विमर्श किया जाता है। **मैसी** के अनुसार, ''समतल सन्देशवाहन वह है जिसके माध्यम से किसी एक संगठन के समान स्तर के प्रबन्धक अपने कार्यों में सभी मामलों को उच्च अधिकारियों को प्रस्तुत किए बिना ही समन्वय स्थापित करते हैं।'' इस प्रकार के सन्देशवाहन में विविध विभागों में तालमेल स्थापित होता है और संस्था का कार्य ठीक ढंग से निष्पादित होता रहता है। यह संदेशवाहन में लिखित व मौखिक अथवा दोनों हो सकता है।

किसी भी संगठन संरचना में अधोमुखी, ऊर्ध्वमुखी और समतल संदेशवाहन निरन्तर होते रहते हैं। सन्देशवाहन अन्तराल वह समय है जो सन्देशों को प्रेषक से प्रापक तक पहुंचने में लगता है। यह अन्तराल जितना कम होता है उतना ही श्रेष्ठ रहता है। औपचारिक संदेशवाहन में बहुधा यह अन्तराल अधिक होता है जिसके कारण देर में पहुंचे संदेशों का कभी–कभी तो महत्व ही समाप्त हो जाता है।

इस हेतु अनौपचारिक व्यवस्था पूर्ण सावधानी के साथ लागू की जानी चाहिए जिससे कि अगर संदेशवाहन अन्तराल समाप्त न हो तो न्यूनतम जरूर हो।

18.9 प्रभावी सन्देशवाहन में बाधाएं

संदेशवाहन प्रबन्ध का महत्वपूर्ण उपकरण है जिसके द्वारा प्रबन्धकीय कार्यों का निष्पादन प्रभावी और कुशल ढंग से किया जाता है। इसके सफलता की कसौटी यह होती है कि प्रापक द्वारा प्रेषक के संदेशों को उचित रूप में सुना, समझा और स्वीकारा जाय। इसलिए प्रेषक दोनों को संदेश के सुनने, समझने और स्वीकारने में आने वाली अग्रांगित बाधाओं को भली प्रकार से जानना चाहिए–

(1) विषम संगठनात्मक संरचना –व्यापारिक एवं औद्योगिक संस्थाओं में सन्देशवाहन की प्रभावशीलता काफी हद तक उसके संगठन संरचना पर निर्भर करती है। आजकल अधिकतर संस्थाओं की संगठन संरचना अति विषम होती है। पर्यवेक्षण के कई स्तर, सन्देशवाहन की लम्बी रेखाएं, रेखा और स्टाफ अधिकारियों के जटिल सम्बन्ध व श्रमिक–प्रबन्धक के मध्य बहुत लम्बी दूरी आधुनिक प्रतिष्ठानों के लिए आम बात हो गई है। संगठनों की यह विषमता स्वयं में सूचनाओं के प्रवाह में अवरोध उत्पन्न करता है। प्रायः उच्च पदस्थ व्यक्ति न तो अपने पास से सूचनाओं को नीचे जाने देता है और न नीचे से व्यक्तियों से ही सूचनाएं प्राप्त करना चाहता है। एकमार्गीय सन्देशवाहन की जगह पर मुख्य कार्याधिकारी को द्विमार्गीय बनाने पर जोर देना चाहिए। फिर, अगर अधीनस्थ अपने निकटतम अधिकारी के अतिरिक्त अन्य अधिकारियों से प्रत्यक्षतया नहीं मिल पाते हैं तो उन्हें ऊबन, बेचैनी और घुटन होने लगती है। यह बाधा उस समय अधिक उग्र रूप धारण कर लेती है जब कर्मचारियों की शिकायतें और सुझाव उच्च अधिकारी तक विभिन्न स्तरों की वजह से उसी रूप में नहीं पहुंच पाती हैं। अतः **वारेन जी. वेनिस** ने उचित ही कहा है कि, ''जब संवाद विभिन्न स्तरों से गुजरता है तो वह संवाद प्राप्तकर्ता को ठीक उसी रूप में प्राप्त नहीं होता क्योंकि प्रत्येक मध्यस्थ संवाद में कुछ न कुछ परिवर्तन करता है।'' यह परिवर्तन जाने–अनजाने होता जाता है।

(2) भाषागत अवरोधक –भाषा की समस्या सन्देशवाहन प्रक्रिया की सर्वाधिक प्रमुख बाधा मानी जाती है। विविध स्तरीय व्यक्ति अलग–अलग तरीकों और भाषाओं में समझते, लिखते और बोलते हैं। एक अंग्रेजी और तकनीकी भाषा में दिया गया बढ़िया भाषण भी सामान्यतया अधिकतर श्रमिकों की समझ के परे होता है। शब्दों के अर्थ भी भिन्न–भिन्न हो सकते हैं। इनकी व्याख्या व्यक्ति अपने ज्ञान एवं सन्दर्भ में करता है। उदाहरण के लिए, जम्मू–कश्मीर के चुनाव के समय 'मत दो' का अर्थ सामान्य जनता ने 'मतदान करने' से लगाया जब कि तथा कथित उग्रवादियों ने 'मतदान मत करो' से आशय निकाला। यह जरूरी नहीं है कि प्रेषक शब्द का जो अर्थ लगाता है वही अर्थ प्राप्तकर्ता भी लगाता है। फलतः सन्देश का गलत अर्थ निकालने से पर्याप्त अनर्थ हो जाता है। इसलिए आवश्यक यह है कि संवाददाता को संदेश प्रसारण से पूर्व ही पर्याप्त सावधानी से शब्दों का उचित चयन कर लेना चाहिए।

(3) श्रवण बाधा –सन्देशवाहन की एक प्रमुख बाधा उचित श्रवण न होने की है। किसी बहरे या जान बूझकर बने बहरे के सामने मौखिक रूप से विचार प्रस्तुत करना भैंस के आगे बीन बजाने के समान है। यदि संवाद प्राप्तकर्ता संवाददाता द्वारा प्रेषित संवाद को अच्छी और सहानुभूतिपूर्वक ढंग से नहीं सुनता है तो उसके लिए प्रेषित संवाद का सही और पूर्ण अर्थ निकाल पाना कठिन हो जाता है। अतः **जोसेफ दूहर** ने अपनी पुस्तक ''Effective Communication on the Job'' में स्पष्ट किया है कि, ''श्रवण सन्देशवाहन का सबसे उपेक्षित तत्व है। आधी बात का सुनना अपने इंजन को न्यूट्रल में डाल कर चलाने के समान है। आप ईंधन तो प्रयोग में लाते हैं किन्तु कहीं भी पहुंच नहीं पाते।'' ध्यान से सुनने के लिए न केवल कान बल्कि एकाग्रचित दिमाग और मन की भी जरूरत होती है। संदेशवाहन की सबसे बड़ी बाधा यह होती है कि हम आधे–अधूरे ढंग से सुनकर ही मूल्यांकन का प्रयास प्रारम्भ कर देते हैं। कभी–कभी ध्वनि प्रदूषण होने से पूरा और ठीक से सुनने की स्थिति नहीं रह जाती हैं और कभी–कभी हम ठीक से सुनना ही नहीं चाहते हैं।

(4) हम वही सुनते हैं जो सुनना चाहते हैं –सामान्यतया मनुष्य वही सुनता है जो सुनने की अपेक्षा रखता है और वही देखता है जो देखने की अपेक्षा रखता है। मनुष्य का मस्तिष्क नये विचारों व सूचनाओं को आसानी से ग्रहण नहीं करता है। उसके पास एक प्रत्याशित सन्दर्भ ढाँचा होता है और जो जानकारी उसमें नहीं समाती है, उसे वह निरस्त करने का प्रयास करता है। उदाहरणार्थ, अगर कर्मचारी अपने अधिकारी से किसी कार्यवश कार्यालय से घर जाने की अनुमति मांगता है और अधिकारी अपनी व्यस्तता के कारण हाथ के संकेत से घर पर न जाने को कहता है। परन्तु, उस संकेत को कर्मचारी घर जाने की अनुमति अपनी अपेक्षा के आधार पर मान लेता है। ऐसी बाधाएं सन्देशवाहन प्रक्रिया में निरन्तर आती रहती है कि हम हर एक सन्देश को अपने हिसाब से ही सुनते हैं।

(5) छिपे हुए अभिप्राय –प्रायः व्यक्ति वे नहीं कहते जो उनके मन में होता है। वे शब्दों के पीछे अपने अभिप्राय को छुपाने का प्रयत्न करते हैं। ऐसा युक्तिपूर्ण व कूटनीतिक संदेश में कहा कुछ और जाता है और उसका आशय कुछ और होता है। प्रेषक और प्रापक के मध्य समझ का अभाव बाधा पहुंचाती है। उदाहरणार्थ, अगर कोई मेहमान रात्रि भोजन पर पकवान की प्रशंसा करे तो सम्भवतः वह मेजबान से भोजन और परोसने के लिए कह रहा होता है। सन्देशवाहन का वास्तविक उद्देश्य कभी–कभी प्रकट उद्देश्य से भिन्न होने के कारण बाधा उत्पन्न होती है।

(6) भौगोलिक दूरी –संवाददाता और संवाद प्राप्तकर्ता के मध्य की भौगोलिक दूरी भी संवेशवाहन की एक प्रमुख बाधा होती है। यद्यपि आधुनिक समय में सन्देशवाहन के शीघ्रतम साधनों जैसे– तार, टेलीफोन, मोबाइल, टैलेक्स, फैक्स आदि ने दूरी में कमी लाई है परन्तु भारत जैसे गाँवों के देश में अभी भी सूचनाओं के आदान–प्रदान में पर्याप्त श्रम, समय एवं धन का अपव्यय होता है। साथ ही व्यावसायिक गोपनीयता भी भंग होने का डर रहता है।

(7) भावनात्मक एवं मनोवैज्ञानिनक बाधा –अनेक बार सम्प्रेषण और सम्प्रेषितों के भावनात्मक

और मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण विपरीत दिशाओं की ओर इतने प्रतिगामी हो जाते हैं कि वे एक दूसरे की बात को सुनना, समझना और मानना चाहते ही नहीं है। वृहतस्तरीय उत्पादन के आधुनिक युग में नियोक्ता और कर्मचारी के मध्य निरन्तर खाई बढ़ने से मनोमालिन्य को बिना दूर किए और सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्ध स्थापित किए बिना ऐसी मनोवैज्ञानिक बाधाएं उत्पन्न होती ही रहेंगी। हठधर्मिता और अति कठोर दृष्टिकोण तो संदेशवाहन का दुश्मन होता ही है।

(8) पदानुक्रमागत भिन्नता –संगठन में प्रेषक और प्रापक के पदों में भिन्नता के कारण भी संदेशवाहन में बाधा आती है। अधीनस्थ अपने उच्चाधिकारियों को निर्भीक भाव से अपने शिकायत और सम्बन्धित सुझाव प्रस्तुत नहीं कर पाते हैं। दूसरी ओर उच्चाधिकारी भी अपने पद के अहंकार में आकर अधीनस्थों से खुले ह्रदय से बात नहीं करते हैं। वस्तुतः निःसंकोच, स्पष्ट और सौहार्द्रपूर्ण संदेशवाहन ही प्रभावी हो सकता है जो समकक्ष कर्मचारियों के बीच अधिक सम्भव होगा। कभी–कभी कनिष्ठ अपने अधिकारी की बात बिना ठीक से पूरा समझे हुए ही सिर हिलाता है अथवा हाँ–हाँ कहता रहता है। वास्तव में, पदानुक्रमागत भिन्नता के कारण कनिष्ठ बार–बार स्पष्टीकरण माँगने ही हिम्मत नहीं कर पाता हैं। ऐसी बाधा सैन्य संगठनों में अधिकतर आती रहती है।

(9) व्यक्तिगत भिन्नताएं –संदेशवाहन एक अन्तर्वैयक्तिक प्रक्रिया है, अतः जो व्यक्ति इस प्रक्रिया में भाग ले रहे हों उनके व्यक्तित्व का प्रभाव भी पड़ता है। कार्यरत व्यक्तियों में रूप–रंग, रीति–रिवाज, खान–पान, बोल–चाल में भिन्नताएं होती है। इनकी आर्थिक, सामाजिक, भौगोलिक, शैक्षणिक व व्यावसायिक पृष्ठभूमि समान नहीं होती हैं। उनके विचार, मनन व चिन्तन करने के तरीके भिन्न होते हैं। वे पृथक् जिलों, प्रदेशों व जातियों के होते हैं। ये सभी भिन्नताएं संदेशवाहन में बाधा उत्पन्न करती है।

(10) अन्य बाधाएं –कुछ अन्य बाधाएं निम्नवत हैं–

1. पदोन्नति की आकांक्षा के कारण कर्मचारी निष्पक्ष और उचित विचार प्रकट न करके चाटुकारितापूर्ण और अधिकारियों के लिए प्रिय संदेश ही प्रदान करते हैं।
2. कटु मानवीय सम्बन्ध होने पर एक मेज से दूसरे मेज तक संदेश पहुंचने में महीनों लग जाते हैं।
3. हरेक सदस्य अपने स्वार्थ सिद्धि के लिए संदेशों में तोड़–मरोड़ करके विकृत कर देते हैं।
4. गहरी संवेदना, तीव्र क्रोध, आदेश, तीव्र शोर, सर्दी, गर्मी, एकाग्रता की कमी, मानसिक अनुपस्थिति आदि तत्व संदेशवाहन में बाधा उत्पन्न करते हैं।

18.10 प्रभावी सन्देशवाहन निर्मित करने हेतु सुझाव

सभी संगठनों में कम या अधिक मात्रा में प्रभावी संदेशवाहन के मार्ग में बाधाएं उत्पन्न होती हैं। सूचनाओं के विकृत होने, अपूर्ण होने तथा उनके देरी से पहुंचने या न पहुंचने का प्रतिकूल असर निर्णय

की गति व गुणवत्ता के साथ ही साथ इसके प्रभावी क्रियान्वयन पर भी पड़ता है। इससे विविध भ्रान्तियों का जन्म, दूषित मानवीय सम्बन्ध, आपसी विद्वेष, मनोबल में गिरावट, कार्यकुशलता में कमी, निर्णय में विलम्ब, ख्याति पर प्रतिकूल और संगठन की प्रगति में अवरोध पैदा करता है। अतः प्रबन्ध को प्रभावी सन्देशवाहन के लिए सकारात्मक कार्यवाही की रणनीति अपनानी चाहिए, जिसे हम **संदेशवाहन की बाधाओं के निवारण के सुझाव** के रूप में अथवा **प्रभावी संदेशवाहन** की विशेषताओं के रू॰ में प्रस्तुत कर सकते हैं–

(1) **प्रतिपुष्टि का प्रयोग** –संदेशवाहक को यह जानने का प्रयत्न करना चाहिए कि संदेश प्रापक सही संदेश प्राप्त कर रहा है अथवा नहीं। आमने–सामने संदेशवाहन में तत्काल प्रतिपुष्टि सम्भव होती है। चाहे प्रापक अपनी प्रतिक्रिया सम्प्रेषित न भी करे तब भी उसकी शारीरिक भाषा संकेत कर देती है। यदि प्रापक का चेहरा देखने से सामान्य, व्यवस्थित और बोधगम्य लगता है तो इसका अभिप्राय हुआ कि वह संदेश को सही रूप में समझ रहा है। इसके विपरीत, अगर उसकी भौहें तनी हुई हैं, माथे पर सिलवटें पड़ रही हैं, चेहरे पर पसीना आ रहा है तो इसका आशय हुआ कि वह संदेश ग्रहण नहीं कर पा रहा है। आमने–सामने के संदेशवाहन में हां–नहीं अथवा शब्दों को दोहराने से भी प्रतिपुष्टि का संकेत मिलता जाता है। अधिक संख्या में लोगों को सम्बोधित करने के लिए लिखित संदेशवाहन का प्रयोग होने पर सहज प्रतिपुष्टि सम्भव नहीं हो पाती है। अतः प्रबन्धकों को अधीनस्थों का प्रत्यक्ष निरीक्षण करके अथवा सामयिक प्रतिवेतनों और परिणामों का निरीक्षण करके संदेशवाहन की प्रतिपुष्टि प्रतिवेतनों करनी चाहिए। इस तरह के प्रतिपुष्टि तन्त्र के बिना प्रबन्धक को यह अपेक्षा नहीं करनी चाहिए कि वह अपने अधीनस्थों के साथ सफल संदेशवाहन कर पायेगा।

(2) **स्पष्ट भाषा** –भाषा सम्बन्धी बाधाओं को दूर करने के लिए निम्न कदम उठाये जाने चाहिए– (1) संदेशवाहन में ऐसी भाषा का प्रयोग किया जाए जो सरलता से समझ में आ सके। (2) तकनीकी व जटिल शब्दों का प्रयोग न किया जाए जिसे प्राप्तकर्ता समझ ही न सके। (3) बहुअर्थीय और संदेश प्रापक के ज्ञान स्तर के ऊपर के शब्दों का चयन नहीं किया जाना चाहिए।

(3) **प्रभावी श्रवण** –प्रभावी ढंग से सुनना भी एक बहुत बड़ी कला है। संदेशवाहक द्वारा कही गयी बातों का सही तात्पर्य समझने के लिए उसका सावधानी, धैर्य और सतर्कता से सुनना परमावश्यक है जिससे कि छिपे हुए तथ्यों की भी खोज की जा सके। संदेशवाहक को चाहिए कि श्रोता को सुनने और समझने का उपयुक्त अवसर प्रदान करे तथा शंका समाधान करे। साथ ही प्रापक को सहानुभूति पूर्वक और उचित तरीके से सुनना चाहिए। **कीथ डेविस** ने ध्यान से सुनने के लिए दस बातों का उल्लेख किया है– (1) सुनते वक्त बातचीत न की जाए। (2) कहने वाले को खुले मन से अपनी बात कहनी चाहिए। (3) कहने वाले का ध्यान भंग नहीं किया जाना चाहिए। (4) कहने वाले को विश्वास हो कि उसे सुना जायेगा। (5) कहने वाले के साथ सहानुभूति बरती जाये। (6) सुनते समय धैर्य का परिचय दिया जाए। (7) सुनते समय अपनी मनोदशा पर नियंत्रण रखा जाए। (8) तर्क और आलोचनाओं को सहज भाव से लिया जाए। (9) आवश्यकतानुसार प्रश्न पूछे जाए। (10) सुनते वक्त यह भी ध्यान में रहे कि बातचीत न की जाए। सहानुभूतिपूर्वक सुनने के लिए यह जरूरी है कि कहने वाले के मन्तव्य के

सन्दर्भ सुना व समझा जाये। सिर्फ सुनने के लिए कान की जरूरत होती है परन्तु ध्यान से सुनने के लिए दिमाग की भी जरूरत होती है। अगर कार्य स्थल पर ध्वनि प्रदूषण हो तो कर्मचारियों को प्रभावी सुनने हेतु मशीनें प्रदान करना ठीक रहता है।

(4) **कार्य शब्दों से अधिक बुलन्दी से बोलते हैं** –यह पूर्णतया सत्य है कि जितना प्रबन्धक शब्दों से संदेश सम्प्रेषित करता है, उससे ज्यादा वह अपने कार्यों और व्यवहार से करता है। यदि प्रबन्धक की मौखिक घोषणा उसके द्वारा किए गए कार्य से पुष्ट कर दी जाती है तो सन्देशवाहन के तमाम अवरोध स्वतः समाप्त हो जाते हैं। संदेश को प्रभावी बनाने के लिए अति आवश्यक यह है कि प्रबन्धक भी उसी तरह का आचरण स्वयं अवश्व करे। उदाहरणार्थ, अगर प्रबन्धक कर्मचारियों को अनुशासन भंग करने पर बारम्बार निकालने की धमकी तो देता है परन्तु घोर अनुशासन भंग होने की स्थिति में भी निकालता नहीं है तो उसकी धमकी का कोई प्रभाव नहीं रह जायेगा। हम स्वयं कार्यालय में विलम्ब से आवें और अधीनस्थों को सही समय से आने का निर्देश दें तो इसका कोई अर्थ नहीं होता है। प्रबन्धक तो अपने पद के कारण निरीक्षण का केन्द्र बिन्दु होता है और उसके कार्य और व्यवहार बिना संदेश प्रेषण के ही आशय प्रेषित कर देते हैं।

(5) **पारस्परिक सद्विश्वास** –भावनात्मक दृष्टिकोण सम्बन्धी बाधा को दूर करने के लिए यह आवश्यक है कि मधुर सम्बन्धों और पारस्परिक सौहार्द्र भाव का विकास किया जाए। संकुचित दृष्टिकोण के स्थान पर व्यापक दृष्टिकोण अपनाने पर बल दिया जाए। पारस्परिक अविश्वास एक दूसरे को आवश्यक सूचनायें देने, स्वीकार करने और समझने में रोड़े अटकाता है। किसी भी संगठन में पारस्परिक सद्भावना एवं सद्विश्वास की स्थापना का उत्तरदायित्व उच्च अधिकारियों का होता है। उनकी कथनी और करनी में अन्तर नहीं होना चाहिए। पारस्परिक विश्वास में संदेशवाहन सम्बन्धी अनेक औपचारिकताओं की समाप्ति हो जाती है, संवाद का उचित अर्थ लगाया जाता है और संवाद के ही अनुरूप शीघ्रातिशीघ्र कार्य होते हैं।

(6) **पदोन्नति नीति** –पदोन्नति की आकांक्षा से कर्मचारी अपने अधिकारियों के सम्मुख सही और निष्पक्ष बात प्रस्तुत नहीं कर पाते हैं। वे वैसी ही बातें कहते हैं जो उनके अधिकारी को पसन्द हो और वे शीघ्र पदोन्नति प्रदान करें। अतः ऐसी बाधा को दूर करने के लिए सुनियोजित पदोन्नति नीति अपनायी जानी चाहिए जिसमें पदोन्नति का आधार योग्यता, अनुभव, परिश्रम और कर्तव्यनिष्ठा हो। चापलूस, जी–हजूर, खुशामदी और कामचोर व्यक्तियों की पदोन्नति नहीं की जानी चाहिए। एक बार गलत पदोन्नति भविष्य में अनेक बाधाओं को जन्म देती है और कामचोर व्यक्तियों की लाभ–प्राप्ति की लालसा का साधन बन जाती है, फलतः संगठन को नुकसान होता है।

(7) **अन्य** –(1) संदेश प्राप्तकर्ता को यथासमय दिए जाये। समय से पूर्व और बाद में दिए गए सन्देश महत्वहीन होते हैं। (2) संदेशवाहन में प्रत्यक्ष और मौखिक सम्पर्क को अप्रत्यक्ष व लिखित के स्थान पर प्राथमिकता दी जानी चाहिए। (3) संदेशवाहन के प्रकट और बाहरी उद्देश्य समान होने चाहिए। (4) संदेशवाहन करते समय अनावश्यक जल्दीबाजी नहीं करनी चाहिए ताकि अर्थ का अनर्थ न हो

जाए। (5) संदेशवाहन में पूर्वाग्रहों और पूर्व धारणाओं को स्थान नहीं दिया जाना चाहिए। (6) संदेशवाहन की आधुनिक विधियों के प्रयोग पर बल दिया जाना चाहिए। (7) संदेशवाहन में व्यक्तिगत हित की तुलना में संस्था के हित को सर्वोच्च प्राथमिकता दी जानी चाहिए। (8) संगठन में अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों का विकास करके संदेशों का समुचित प्रवाह सुनिश्चित किया जाना चाहिए। (9) अनौपचारिक संदेशवाहन से समूह के सदस्यों को तेजी व कुशलता से सूचना दी जा सकती है। (10) प्रभावी संदेशवाहन हेतु एक ही बात को दो या तीन बार पुनरावृत्ति करके प्रापक तक की प्रतिपुष्टि सुनिश्चित की जानी चाहिए।

18.11 सारांश

सम्प्रेषण समस्त प्रबन्ध यंत्रिका को क्रियान्वित करने का सशक्त अंग है। नियोजन से लेकर निर्णयन तक सभी प्रबन्धकीय कार्यों का निष्पादन संदेशवाहन की संयोजक कड़ी के द्वारा ही सम्भव होता है। सन्देशवाहन दो या दो से अधिक व्यक्तियों के मध्य तथ्यों, विचारों, अनुमानों, सम्मतियों एवं भावनाओं का अदान–प्रदान है। इसका तात्पर्य उस भावाभिव्यक्ति से है जिसके द्वारा एक व्यक्ति का अभिप्राय दूसरा व्यक्ति समझ सके।

एफ.जी. मेयर – ''सन्देशवाहन से आशय एक व्यक्ति के विचारों और सम्मतियों से दूसरे व्यक्तियों को अवगत कराने से है।''

प्रभावी सन्देवाहन एक सतत् प्रक्रिया है जो विचार की सृष्टि से प्रारम्भ होकर उसे संकेतीकरण के रूप में बदलकर उचित माध्यम से प्रापक को भेजी जाती है, जिसे प्रापक संकेतार्थीकरण कर उस पर प्रतिक्रिया जाहिर करता है। प्रेषक द्वारा भेजा गया संदेश प्रापक उसी अर्थ में समझता है तो सन्देश प्रक्रिया पूर्ण हो जाती है वरन् यह प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है, जब तब पूर्ण न हो जाए।

वर्तमान समय में प्रबन्ध और व्यवसाय की आधार शिला और जीवन–शक्ति सन्देशवाहन ही है। **प्रो0 थियो हैमन** के शब्दों में, ''सभी प्रबन्धकीय कार्यों की सफलता सफल सन्देशवाहन पर निर्भर करती है। सन्देशवाहन का सफल व कुशल संचालन हेतु, प्रबन्धकीय कार्यों का आधार में, जनतांत्रिक भावना को बल देने में, भ्रमों के निवारण, बाह्म पक्षों से सम्पर्क आदि में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। सन्देशवाहन के विभिन्न प्रकार/माध्यम/विधियाँ हो सकती है :– (1) मौखिक, (2) लिखित, (3) सांकेतिक, (4) औपचारिक, (5) अनौपचारिक, (6) अधोमुखी, (7) ऊर्ध्वमुखी, एवं (8) समतल।

सन्देशवाहन में बाधाएं – (1) विषम संगठनात्म संरचना, (2) भाषागत अवरोधक, (3) श्रवण बाधा, (4) हम वही सुनते है जो सुनना चहते हैं, (5) छिपे हुए अभिप्राय, (6) भौगोलिक दूरी, (7) भावनात्मक एवं मनोवैज्ञानिक बाधा, (8) पदानुक्रमागत भिन्नता, एवं (9) व्यक्तिगत भिन्नताएं।

प्रभावी सन्देशवाहन निर्मित करने हेतु सुझाव :– (1) प्रतिपुष्टि का प्रयोग, (2) स्पष्ट भाषा, (3) प्रभावी श्रवण, (4) कार्य शब्दों से अधिक बुलन्दी से बोलते हैं, (5) पारस्परिक सद्विश्वास, एवं (6) पदोन्नति नीति।

18.12 महत्वपूर्ण सारांश

- **सन्देशवाहन** – सन्देशवाहन एक सतत् प्रक्रिया है जिसमें दो या अधिक व्यक्ति अपने संदेशों, भावनाओं, विचारों, सम्मतियों तथा तर्कों आदि का पारस्परिक विनिमय करते है।
- **मौखिक सन्देशवाहन** – मौखिक सन्देशवाहन से तात्पर्य संवाददाता द्वारा किसी सूचना या संवाद का मुख से उच्चारण कर संवाद प्राप्तकर्ता को प्रेषित करने से है।
- **लिखित सन्देशवाहन**– लिखित संदेशवाहन में प्रेषक अपने सूचना को लिखकर अभिव्यक्त किया जाता है।
- **सांकेतिक सन्देशवाहन** –यह संदेशवाहन का एक ऐसा साधन है, जिसमें न बोलना पड़ता है और लिखना न पड़ता हैं। इसमें संवादों का सम्प्रेषण संकेतों, हावभावों, इशारों, मूकता, आचरण व व्यवहार आदि द्वारा प्रेषित किया जाता है।
- **औपचारिक संदेशवाहन** –इसका आशय ऐसे सन्देशवाहन से है जो अधिकार और दायित्व के औपचारिक संगठन ढ़ांचे पर आधारित होते हैं। इसमें संदेश का आदान–प्रदान लिखित रूप से अधीनस्थ व पदाधिकारियों की सौपानिक श्रृंखला से होता है।
- **अनौपचारिक अथवा अंगूरीलता संदेशवाहन** –इसमें सूचनाओं व सम्वादों का आदान–प्रदान संगठन की औपचारिक रचना के अनुसार नहीं, बल्कि भिन्न लोगों के मध्य सामाजिक रि”तों व गैर रस्मी आधार पर होता है।

18.13 आवश्यक प्रश्न

प्रश्न 1. प्रबन्ध में संदेशवाहन का क्या अभिप्राय है? इसकी प्रकृति और प्रक्रिया की विवेचना कीजिए।

प्रश्न 2. ''संदेशवाहन एक द्विमार्गीय यातायात के समान है।'' इस कथन की व्याख्या कीजिए और संदेशवाहन`के मार्गदर्शक सिद्धान्तों की विवेचना कीजिए।

प्रश्न 3. ''व्यवसाय के लिए संदेशवाहन का उतना ही महत्व है जितना कि एक व्यक्ति के लिए रक्त संचार का।'' कीथ डेविस के इस कथन की विशद व्याख्या कीजिए।

प्रश्न 4. प्रभावी प्रबन्ध के लिए संदेशवाहन मूलधार कहा जाता है। कैसे? संदेशवाहन के सिद्धान्तों की व्याख्या कीजिए।

प्रश्न 5. व्यावसायिक संदेशवाहन की प्रमुख बाधाएं क्या हैं? इन बाधाओं के निवारणार्थ सुझाव भी दीजिए।

प्रश्न 6. ''सन्देशवाहन कार्य के लिए समझ को बांटना है।'' टिप्पणी कीजिए और सन्देशवाहन के संगठन

और क्षेत्र की व्याख्या कीजिए।

प्रश्न 7. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए :

(अ) मौखिक, लिखित और सांकेतिक संदेशवाहन,

(ब) अधोमुखी, उर्ध्वमुखी और समतल संदेशवाहन।

प्रश्न 8. संदेशवाहन के विभिन्न प्रकारों की व्याख्या कीजिए। औपचारिक और अनौपचारिक संदेशवाहन के सापेक्षिक गुणों और दोषों की विवेचना कीजिए। ये दोनों किस प्रकार भिन्न हैं?

कुछ उपयोगी पुस्तकें

- प्रबन्ध के सिद्धान्त एस के सिंह प्रयाग पुस्तक भवन इलाहाबाद 2006
- व्यावसायिक प्रबन्ध ओ. पी. राय बी. के. सिंह वैभवसम्मी प्रकाषन, वाराणासी, 2012
- औद्योगिक संगठन एवं प्रबन्धन, आर.सी. गुप्ता, साहित्य भवन पब्लिकेषन आगरा, 2003
- व्यवसायिक संगठन, जगदीष प्रकाष, प्रयाग पुस्तक भवन, 2014
- औद्योगिक प्रबन्ध, जे.के. जैन, प्रतीक प्रकाषन आगरा, 2001

इकाई– 19 नियंत्रण

इकाई की रूपरेखा

19.0 उद्देश्य

19.1 प्रस्तावना

19.2 नियंत्रण की परिभाषाएं

19.3 नियंत्रण के लक्षण

19.4 नियंत्रण का क्षेत्र

19.5 कुशल नियंत्रण की आवश्यकताएं

19.6 नियंत्रण का महत्वं

19.7 नियंत्रण की सीमाएं

19.8 नियंत्रण प्रक्रिया के चरण

19.9 सारांश

19.10 महत्वपूर्ण सारांश

19.11 आवश्यक प्रश्न

19.0 उद्देश्य

इस अध्याय के अध्ययन से आप निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर दे पायेंगे।

- ❖ प्रबन्धकीय नियंत्रण के आशय की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए।
- ❖ नियंत्रण की परिसीमाओंा को बताइए।
- ❖ नियंत्रण की प्रमुख विधियों की संक्षिप्त विवेचना कीजिए।
- ❖ प्रबन्धकीय नियंत्रण के क्षेत्र संक्षेप में बताइए।
- ❖ नियंत्रण से हस्तक्षेप कैसे भिन्न है।
- ❖ एक कुशल नियंत्रण के लिए आवश्यक बातें क्या है।
- ❖ नियंत्रण की प्रक्रिया संक्षेप में लिखिए।

19.1 प्रस्तावना

नियोजन के समान ही नियंत्रण प्रबन्धकीय प्रक्रिया का मूलभूत प्रकार्य है। नियंत्रण से आशय यह पता लगाने से है कि समस्त कार्य का निष्पादन पूर्व–निश्चित योजना, निर्देशों, उद्देश्यों और सिद्धान्तों

के अनुरूप हो रहा है कि नहीं। यदि नहीं हुआ है तो उसके क्या कारण है, उसके लिए कौन उत्तरदायी है और उसे सुधारने के लिए क्या करना चाहिए? नियंत्रण व्यवसाय के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए पथ–प्रदर्शन और नियमन का कार्य करना है।

19.2 नियंत्रण की परिभाषाएं

प्रबन्धकीय कार्य के रूप में नियंत्रण वास्तव में कार्य निष्पादन को मापने और आवश्यकतानुसार सुधारात्मक कार्य करने की क्रिया है ताकि इस बात से आश्वस्त हुआ जा सके कि संगठनात्मक लक्ष्यों, योजनाओं व निर्देशों के अनुसार काम काज चल रहा है। नियंत्रण का उद्देश्य प्रमाप और निष्पादन के मध्य के विचलनों का पता लगा करके सुधारात्मक कार्यवाही करना होता है। नियंत्रण की प्रमुख परिभाषाएं अग्रांकित हैं :–

1. **फिलिप कोटलर**–''नियंत्रण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा वास्तविक परिणामों को अपेक्षित परिणाम के अधिकाधिक समीप लाने के प्रयास किए जाते हैं।''
2. **राबर्ट एन्थोनी**–''प्रबन्धकीय नियंत्रण एक ऐसी प्रक्रिया है जो प्रबन्धकों को इस बात का आश्वासन दिलाती है कि संगठन के लक्ष्यों की प्राप्ति के साधनों की उपलब्धि एवं प्रयोग प्रभावशाली रूप में तथा कुशलता से किया जा रहा है।''
3. **मेरी कुशिंग नाइल्स**–''नियंत्रण किसी लक्ष्य या लक्ष्यों के समूह की ओर निर्देशित क्रियाओं के मध्य सन्तुलन बनाए रखना है।''
4. **जी0 आर0 टैरी**–''निंयत्रण का अर्थ यह निर्धारित करना है कि क्या किया जा रहा है अर्थात् निष्पादन का मूल्यांकन करना और यदि आवश्यक हो तो सुधारात्मक कदम उठाना जिससे निष्पादन योजनाओं के अनुसार हो सके।''

इस प्रकार हम कह सकते है कि नियंत्रण प्रबन्ध का वह महत्वपूर्ण कार्य है जो इस बात के निर्धारण से सम्बन्ध रखता है कि कार्य निर्धारित उद्देश्यों, नीतियों, कार्यक्रमों, निर्देशों और नियमों के अनुसार हो रहे हैं कि नहीं और उसके क्या कारण हैं और उन्हें पूरा करने के लिए क्या कदम उठाए जाने चाहिए।

19.3 नियंत्रण के लक्षण

नियंत्रण के प्रमुख लक्षण निम्नांकित हैं–

(1) नियंत्रण एक महत्वपूर्ण प्रबन्धकीय कार्य है –नियंत्रण प्रबन्ध का अन्तिम परन्तु प्रमुख कार्य है जो वह रेखा अधिकारियों के माध्यम से कराता है। रेखा अधिकारी अपने इस कार्य में विशेषज्ञ कर्मचारियों की सहायता से प्रमापों की स्थापना एवं सुधारात्मक कार्यवाही कर सकता हैं।

(2) यह सभी स्तरों पर लागू होता है –नियंत्रण का क्षेत्र अति व्यापक है जो हर चीज, हर

व्यक्ति, हर कार्य, हर प्रक्रिया और हर समय संचालित होता है। प्रबन्ध के प्रत्येक स्तर पर नियंत्रण की प्रक्रिया व्याप्त रहती है। उच्च अधिकारी तो नियंत्रण का ही सूचक होता है। हां इतना जरूर है कि प्रत्येक स्तर पर नियंत्रण की विधि आरै मात्रा अलग–अलग होती है। उच्च स्तर पर नियंत्रण सामयिक और संकेतात्मक अधिक होता है जबकि निम्न स्तर पर यह नियमित और प्रत्यक्ष होता है।

(3) यह एक अति गतिशील और सतत् प्रक्रिया है –नियंत्रण प्रबन्ध की एक गतिशील प्रक्रिया है क्योंकि व्यवसाय की परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार आवश्यक परिवर्तन किए जाते हैं। साथ ही, नियंत्रण कार्य सदा चलते रहने वाला चक्रीय कार्य है और जब तक व्यावसायिक उपक्रम चलता रहेगा, उसके प्रबन्धकों को नियंत्रण कार्य भी करते रहना होगा।

(4) यह पूर्णतः नियोजन पर आधारित है –यह नियोजन पर आधारित है और बिना नियोजन के नियंत्रण सम्भव ही नहीं हो सकता है। नियोजन द्वारा भावी क्रियाओं की रूपरेखा और उनके प्रभाव को निर्धारित किया जाता है जबकि नियंत्रण का कार्य यह देखना होता है कि कार्य उन निर्धारित क्रियाओं एवं प्रभावों के अनुरूप हो रहा है अथवा नहीं।

(5) यह अग्रावलोकी होता है –नियंत्रण के द्वारा प्रबन्धक वास्तविक प्रगति की अपेक्षित प्रगति से तुलना करके दोनों में अन्तर का ज्ञान करके सुधारात्मक कार्यवाही करता है। यह सुधारात्मक कार्यवाही आगे देखने अर्थात् भविष्य के लिए ही होता है। भूतकालीन घटनाओं की समीक्षा और विश्लेषण का कार्य इसीलिए किया जाता है कि भविष्य में उन त्रुटियों की पुनरावृत्ति को रोक करके यथासम्भव सुधार लाया जा सके। एक अच्छी नियंत्रण व्यवस्था वह है जो नकारात्मक विचलनों के घटित होने से पहले ही सूचित कर दे और ऐसे रोकथाम कर दे कि भविष्य में होने वाली बर्बादियां, हानियां, कमियां और अन्तर रुकें तथा निष्पादन श्रेष्ठतर सम्भव हो सके। नियंत्रण सदैव भविष्य के लिए होता है और यह भावी घटनाओं पर अंकुश लगाता है। नियंत्रण का स्वभाव मरणोपरान्त परीक्षण जैसा नहीं हैं।

(6) नियंत्रण हस्तक्षेप से भिन्न है –यह एक मिथ्या धारणा लोगों में होती है कि नियंत्रण हस्तक्षेप है। हस्तक्षेप की प्रकृति नकारात्मक होती है और यह कार्य में बाधा उत्पन्न कर गति को अवरुद्ध करता है। इसके विपरीत, नियंत्रण स्वीकारात्मक एवं सकारात्मक प्रकृति का होता है एवं कार्य में आने वाली बाधाओं को पहचान करके उन्हें दूर करना इसका उद्देश्य होता है जिससे कि कार्य को सुचारू रूप से किया जा सके। नियंत्रण से अधीनस्थों के अधिकारों का हनन नहीं होता है और न ही व्यक्तिगत स्वतन्त्रता में बाधक होता है।

(7) अन्य –(अ) नियंत्रण व्यक्तिगत मान्यताओं व भावनाओं पर आधारित न हो करके तथ्यों और सांख्यिकीय आंकड़ों पर आधारित होता है। (ख) नियंत्रण एक सम्पूर्ण पद्धति है और नियंत्रण स्वतंत्र रूप से प्रयुक्त नहीं हो सकता। बल्कि, इसके लिए नियोजन, संगठन, समन्वय, निर्देशन आदि का होना परमावश्यक है। (स) नियंत्रण का कार्य वैसे तो प्रत्यक्षतः सामग्री, उत्पादन, प्रक्रिया, मशीन और वित्त से सम्बन्धित होता है परन्तु इन सभी का किसी न किसी रूप में मनुष्य से अवश्य सम्बन्ध होता है। अतः नियंत्रण करते वक्त मानवीय पहलू पर अधिक ध्यान देना चाहिए। (द) नियंत्रण के फलस्वरूप नवीन

पद्धतियों के विकास को प्रोत्साहन मिलता है।

19.4 नियंत्रण का क्षेत्र

प्रबन्धकीय नियंत्रण के प्रमुख क्षेत्र निम्नलिखित हैं–

(1) नीतियों पर नियंत्रण –किसी भी व्यवसाय की सफलता मुख्यतः इस बात पर निर्भर करती है कि उसकी आधारभूत नीतियों का कहां तक कार्यान्वित किया जा सकता है। नीतियों पर नियंत्रण के लिए एक नीति पुस्तिका का प्रयोग किया जाता है जो संस्था के उच्चाधिकारी द्वारा तैयार की जाती है। इस नीति पुस्तिका का व्यापक प्रचार एवं प्रसार किया जाता है ताकि हरेक कर्मचारी उससे परिचित हो करके अक्षरशः पालन करे।

(2) संगठन पर नियंत्रण –संस्था की संगठन–संरचना पर नियंत्रण हेतु संगठन चार्ट बनाया जाता है जिसमें संगठन सम्बन्धों का स्पष्ट प्रस्तुतीकरण दिया रहता है। इससे विवेकपूर्ण संगठन योजना के प्रत्येक अंग की स्पष्ट रूपरेखा ज्ञात हो जाती है और समय–समय पर मूल्यांकन करके उनमें आवश्यक परिवर्तन व सकारात्मक संशोधन किए जा सकते हैं।

(3) सेविवर्गीयों पर नियंत्रण –सभी कर्मचारी अपने को सौंपे गए कार्य को योजनाबद्ध रीति से समयानुसार पूरा कर रहे हैं कि नहीं, यह देखना ही कर्मचारी नियंत्रण है। यह कार्य सेविवर्गीय निर्देशक द्वारा किया जाता है जो उपक्रम का एक उच्चाधिकारी होता है, उसकी सहायता के लिए अलग सहायक अधिकारी एवं समितियां भी होती हैं।

(4) मजदूरी व वेतन पर नियंत्रण –नियंत्रण के इस क्षेत्र के अन्तर्गत मजदूरी एवं वेतन प्रशासन, कार्य–मूल्यांकन, विश्लेषण व प्रशिक्षण आदि का समावेश किया जाता है।

(5) लागत नियंत्रण –न्यूनतम लागत पर अधिकतम उत्पादन तो प्रत्येक व्यवसायी का प्रमुख ध्येय होता है और इसकी पूर्ति हेतु लागत नियंत्रक जरूरी होता है। इसके लिए उत्पादन लागतों के प्रमाप निर्धारित किए जाते हैं और फिर प्रमापों की वास्तविक लागत से तुलना करके विचरणों का पता लगाया जाता है। तदुपरान्त प्रतिकूल विचरणों के रोकथाम हेतु आवश्यक कदम उठाये जाते हैं। सम–विच्छेद विश्लेषण, सीमान्त लागत लेखांकन और बजटरी नियंत्रण आदि तकनीकों का प्रयोग करके लागत और कीमत को नियंत्रित किया जा सकता है।

(6) अन्य नियंत्रण –कुछ अन्य नियंत्रण क्षेत्र भी है जैसे– (अ) सामग्री नियंत्रण (कच्ची सामग्री का क्रय, परिवहन, भण्डारण, सामग्री तालिका नियंत्रण, सामग्री उठायाधरी आदि), (ब) पूंजी व्ययों पर नियंत्रण (पूंजी बजट, परियोजना विश्लेषण, पूंजी लागत अनुमान आदि) (स) उत्पादन पर नियंत्रण (मार्ग निर्धारण, अनुसूचीयन, निर्गमन, अनुवर्तन, गुण नियंत्रण, निरीक्षण आदि), (द) शोध एवं विकास पर नियंत्रण (अनुसंधानकर्ताओं का चुनाव व नियुक्ति, शोध बजट का निर्माण, शोध कार्यक्रम आदि), (य) समग्र नियंत्रण (केन्द्रीय समिति द्वारा वृहद योजना की तैयारी, आग्रह, उपयोगी समंक संग्रह आदि)।

19.5 कुशल नियंत्रण की आवश्यकताएं

अच्छी नियंत्रण प्रणाली को विकसित करने के लिए कुछ आधारभूत सिद्धान्तों एवं तत्वों का होना आवश्यक होता है। इस हेतु हैरोल्ड कुण्ट्ज एवं ओ' डोनेल ने निम्नांकित 14 नियंत्रण सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है–

(1) उद्देश्यों के आश्वासन का सिद्धान्त –इस सिद्धान्त के अनुसार नियंत्रण ऐसा होना चाहिए जो निष्पादन में होने वाली त्रुटियों और विचलनों का तत्काल व आसानी से पता लगा करके सुधारात्मक पग उठावे ताकि संगठन के उद्देश्यों की प्राप्त का आश्वासन मिल सके।

(2) नियंत्रण की कार्यकुशलता का सिद्धान्त –इस सिद्धान्त के अनुसार नियंत्रण तभी प्रभावी कहा जा सकता है जबकि वह कुशलतापूर्वक विचलनों को न केवल तुरन्त प्रकाश में लावे बल्कि उनको समाप्त कर दे जिससे कि संस्था पर कम से कम हानिकारक प्रभाव पड़े।

(3) नियंत्रण के उत्तरदायित्व का सिद्धान्त –इस सिद्धान्त के अनुसार नियंत्रण का उत्तरदायित्व वास्तव में उच्च प्रशासनिक अधिकारियों का होता है। भले ही वे आवश्यकतानुसार विशेषज्ञों से परामर्श ले सकते हैं परन्तु उत्तरदायित्व तो उन्हीं का रहेगा। उत्तरदायित्व का हस्तान्तरण विशेषज्ञों या अधीनस्थों को नहीं किया जा सकता है।

(4) प्रत्यक्ष नियंत्रण का सिद्धान्त –जहां तक सम्भव हो नियंत्रण प्रक्रिया में अनेक व्यर्थ के स्थल और संलग्न कार्यकर्ता नहीं होने चाहिए। नियंत्रक तथा नियंत्रित के बीच सीधा सम्बन्ध होना चाहिए। अनावश्यक मध्यवर्ती व्यक्तियों के कारण नियंत्रण में विलम्ब होता है और विलम्ब तो नियंत्रण का सबसे बड़ा दुश्मन है। नियंत्रण की सीधी रेखा लालफीताशाही को रोक करके मितव्ययी और तीव्रगामी को प्रोत्साहित करती है और अनावश्यक शंकाएं नहीं पनपने पाती हैं।

(5) भावी नियंत्रण का सिद्धान्त –नियंत्रण का उद्देश्य केवल वर्तमान विचलनों को ज्ञात करके उन्हें समाप्त करना ही नहीं होता है बल्कि भावी विचलनों का पूर्वाभास करके उनको समाप्त करना भी होना चाहिए।

(6) योजनाओं के प्रतिबिम्ब का सिद्धान्त –इस सिद्धान्त के अनुसार नियंत्रण ऐसी होनी चाहिए जो कि संस्था के वर्तमान विचलनों को दूर करके भावी विचलनों का पूर्वाभास लगाया जाए। यह अग्रावलोकी होता है।

(7) संगठनात्मक उपयुक्तता का सिद्धान्त –नियंत्रण की व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए जो कि संस्था के संगठनात्मक कलेवर की दृष्टि से सर्वाधिक उपयुक्त हो।

(8) नियंत्रणों की वैयक्तिकता का सिद्धान्त –नियंत्रण प्रक्रिया ऐसी होनी चाहिए जो न केवल संगठन के लिए उपयुक्त हो बल्कि प्रबन्धकों की वैयक्तिक आवश्यकताओं को भी सन्तुष्ट कर सके।

(9) अपवाद का सिद्धान्त–प्रभावी नियंत्रण हेतु अपवादात्मक दशाओं में ही प्रबन्धकों का ध्यान

आकर्षित करना चाहिए। छोटी–मोटी समस्याएं तो अधीनस्थों को स्वयं हल कर लेनी चाहिए।

(10) महत्वपूर्ण बिन्दु नियंत्रण का सिद्धान्त –इस सिद्धान्त के अनुसार नियंत्रण प्रक्रिया ऐसी होनी चाहिए जो महत्वपूर्ण बिन्दुओं पर ध्यान दे करके उनको नियंत्रित करे।

(11) प्रमाप का सिद्धान्त –इस सिद्धान्त के अनुसार नियंत्रण की प्रभावी प्रणाली हेतु निश्चित प्रमापों की स्थापना करना आवश्यक है। प्रमाप उद्देश्यात्मक, उपयुक्त और निष्पक्ष होने चाहिए।

(12) नियंत्रण के लोच का सिद्धान्त –नियंत्रण व्यवस्था लोचपूर्ण होनी चाहिए जिससे आवश्यकता पड़ने पर उसमें आसानी से परिवर्तन किया जा सके।

(13) पुनर्विचार का सिद्धान्त–इस सिद्धान्त के अनुसार नियंत्रण प्रणाली का समय–समय पर पुनरावलोकन करके परिस्थितियों के अनुसार यथोचित परिवर्तन किया जाना चाहिए।

(14) कार्यवाही का सिद्धान्त –नियंत्रण की सफलता तो क्रिया में निहित होती है। अतः कुशल नियंत्रण हेतु उचित नियोजन, संगठन, निर्देशन, समन्वय आदि की कार्यवाही करके विचलनों को दूर करने का सतत् प्रयत्न होते रहना चाहिए।

कुण्ट्ज एवं ओ' डोनेल द्वारा बनाए गए उपरोक्त नियंत्रण सिद्धान्तों के अलावा भी कुछ और सिद्धान्त उपयोगी हैं जैसे– (1) बोधगम्यता, (2) मितव्ययिता, (3) समयबद्धता, (4) वस्तुनिष्ठता, (5) मानवीयता, (6) निष्पक्षता, (7) प्रतिपुष्टि, (8) भविष्यदर्शी आदि। निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि श्रेष्ठतम नियंत्रण प्रणाली वह है जिसके द्वारा प्रभावी ढंग से, शीघ्रता से, मितव्ययिता के साथ निष्पादन का मापन किया जा सके और विचलनों को दूर करने हेतु सुधारात्मक कार्यवाही हो सके। परन्तु सर्वाधिक महत्वपूर्ण यह है कि नियंत्रण का दृष्टिकोण सकारात्मक होना चाहिए।

19.6 नियंत्रण का महत्व

सुप्रबन्धन हेतु प्रबन्धकीय नियंत्रण अति आवश्यक है। जिस प्रकार भीड़ वाले सड़क के चौराहे पर दुर्घटना रोकथाम हेतु सड़क संकेत आवश्यक होते हैं, उसी तरह संगठनात्मक लक्ष्यों की सहज प्राप्ति हेतु प्रबन्धकीय नियंत्रण उपकरणों का होना आवश्यक है। नियंत्रण का महत्व अग्रांकित है–

(1) कुशलता में वृद्धि –नियंत्रण के फलस्वरूप कर्मचारी निश्चित अवधि में निर्धारित कार्य को निश्चित विधि से सम्पन्न कर लेता हैं और नियंत्रण से ही उनके कार्यों का सही मूल्यांकन किया जाता है। फलस्वरूप कर्मचारियों की कार्यकुशलता में बढ़ोत्तरी होती है एवं संस्था के प्रगति में यह सहायक होता है।

(2) समन्वय में सहायक –प्रबन्ध का निचोड़ ही समन्वय है। प्रबन्ध का कार्य विभिन्न व्यक्तियों के क्रियाकलापों में समन्वय स्थापित करना है ताकि उपक्रम द्वारा निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति हो सके। समन्वय की सार्थकता कुशल नियंत्रण पर ही आधारित होता है। नियंत्रण द्वारा ही प्रभावपूर्ण समन्वय

स्थापित किया जाता है जिससे कि संस्था सुचारू ढंग से चलती रहती है।

(3) अभिप्रेरण का साधन –नियंत्रण के माध्यम से प्रबन्धक कुशल तथा अकुशल कर्मचारियों की पहचान सफलतापूर्वक कर सकता है। कार्य की मात्रा तथा प्रमाप निर्धारित करके नियंत्रण करने की प्रक्रिया कर्मचारियों को कुशलतापूर्वक काम करने के लिए अभिप्रेरित करती है। सौहार्दपूर्ण वातावरण अच्छे नियंत्रण का ही परिणाम होता है। इसी के कारण संगठन में अच्छे मानवीय सम्बन्ध विकसित होते हैं जो अभिप्रेरणा के लिये मूल मंत्र का काम करता है। नियंत्रण की प्रभावी व्यवस्था कुशल कर्मचारियों को अभिप्रेरित करती रहती है।

(4) प्रतिनिधायन प्रक्रिया में सहायक –नियंत्रण क्रिया के द्वारा प्रबन्धक यह देखते हैं कि उनके अधीनस्थ अपने उत्तरदायित्वों का निर्वाह ठीक प्रकार से कर रहे हैं अथवा नहीं। अतः प्रतिनिधायन प्रक्रिया में नियंत्रण अत्यन्त आवश्यक सिद्ध होता है।

(5) जोखिम से सुरक्षा –नियंत्रण क्रिया के अन्तर्गत प्रत्येक उपक्रिया का पुनरावलोकन किया जाता है तत्पश्चात् सुधारात्मक कार्यवाही की जाती है। इसके माध्यम से प्रबन्धकों को होने वाली जोखिमों से सुरक्षा प्राप्त हो जाती है।

(6) विकेन्द्रीकरण में सहायता –नियंत्रण की सुदृढ़ व्यवस्था प्रबन्ध को अपनी जिम्मेदारी बांटने में सहायता देती है, वह अपने कार्यक्षेत्र में काम अपने अधीनस्थों को ठीक से सौंप देता है। यदि वे अपना काम सफलता के साथ नहीं कर पाते हैं तो उनकी जिम्मेदारी तय की जाती है और आवश्यक सुधारात्मक कार्यवाही की जाती है। उत्तरदायित्व निश्चित करने और सुधारात्मक कार्यवाही के निर्धारण में नियंत्रण की सम्पूर्ण प्रक्रिया शामिल है।

(7) उत्पादन लागत में कमी –नियंत्रण प्रमापों के अनुसार कार्य सम्पन्न करके व्यावसायिक कुशलता प्राप्त की जा सकती है। परिणामस्वरूप उत्पादन लागतों में भी कमी आती है। नियंत्रण का प्रमुख उद्देश्य संस्था की कार्यकुशलता में वृद्धि करना तथा वांछित लक्ष्यों की ओर प्रयासों को सक्रिय करना है।

(8) भविष्य के नियोजन में सहायता –नियंत्रण संस्था की प्रगति तथा योजना की सफलता के बारे में प्रबन्धकों को इतनी महत्वपूर्ण सूचनाएं उपलब्ध कराता है कि वे इसके आधार पर भविष्य में और भी अधिक व्यावहारिक तथा सुदृढ़ योजनाएं बना सकते हैं।

(9) अनुशासन की स्थापना –नियंत्रण की अनुपस्थिति में कर्मचारियों का नैतिक साहस घट जाता है क्योंकि उनको अपने भविष्य का पता नहीं होता। बड़े व्यापार गृहों में कर्मचारियों की हाथ में बड़ी मात्रा में नकदी, कच्चा माल और बहुमूल्य रहस्य रहते हैं। नियंत्रण के अभाव में इस बात की प्रबल सम्भावना होती है कि वे प्रलोभनों में आ जायेंगे और दुरूपयोग हो जायेगा।

19.7 नियंत्रण की सीमाएं

(1) प्रमाप निर्धारण में कठिनाइ –नियंत्रण के लिए प्रमापों का निर्धारण एक पूर्व अनिवार्यता है परन्तु कई परिस्थितियों में प्रमापों का निर्धारण पूर्णतया अव्यावहारिक होता है। परिणामस्वरूप उन मामलों में नियंत्रण नहीं किया जा सकता। बहुधा श्रमिक नियंत्रण प्रक्रिया को इसलिए नहीं स्वीकारते हैं कि प्रमाप ही तार्किक आधार पर तय नहीं किए रहते हैं।

(2) अत्यधिक लागत –नियंत्रण प्रणाली अत्यधिक खर्चीली प्रणाली है। कई बार नियंत्रण तथा विचलनों को ज्ञात करने की प्रक्रिया इतनी व्यय साध्य और कर्मचारी आधारित होती है कि संस्था उतना खर्च करने में असमर्थ होती है। जहां तक आधुनिक नियंत्रण प्रणाली का प्रश्न है कि उन पर किया जाने वाला प्रारम्भिक व्यय इतना अधिक होता है कि एक औसत आकार वाली औद्योगिक अथवा व्यावसायिक इकाई के लिए उसे लागू करना आर्थिक दृष्टि से दुरूह एवं असम्भव जैसा हो जाता है।

(3) अधीनस्थों द्वारा विरोध –प्रायः नियंत्रण प्रणाली का विरोध सबसे ज्यादा अधीनस्थों द्वारा ही किया जाता है, क्योंकि इसके अन्तर्गत मानवीय विचारों एवं कार्यों में हस्तक्षेप किया जाता है, जिसे कर्मचारी सहन नहीं कर पाते। नियंत्रण के कारण जब कर्मचारियों पर कार्यभार अधिक हो जाता है तो उनका मनोबल गिर जाता है, जिससे उनकी कार्यकुशलता एवं उत्पादकता भी कुप्रभावित होती है।

(4) सुधारात्मक कार्यवाही असम्भव –कई बार दोषों एवं विचलनों का पता चल जाने के बावजूद संगठनात्मक कारणों से सुधारना असम्भव हो जाता है क्योंकि उससे असहजता आती है।

(5) व्यक्तिगत उत्तरदायित्व के निर्धारण में कठिनाई –प्रबन्धकीय नियंत्रण की एक मुख्य सीमा यह है कि कभी–कभी विचलनों का ज्ञान हो जाने पर व्यक्तिगत उत्तरदायित्वों को निर्धारित करना बड़ा कठिन होता है। जैसे– हड़ताल की दशा में व्यक्तिगत उत्तरदायित्व के निर्धारण में कठिनाई होती है।

(6) अन्य –नियंत्रण के प्रति विरोधी प्रतिक्रियाओं के अन्य कारण इस प्रकार हैं– (1) वास्तविक निष्पादनों के मूल्यांकन के प्रति विश्वास की कमी, (2) अप्रिय बातों के प्रति अरुचि, (3) अविशेषज्ञों द्वारा अनुचित नियंत्रण, (4) लक्ष्यों के अनुचित होने का विश्वास आदि।

उपरोक्त सीमाओं एवं कठिनाइयों के होते हुए भी नियंत्रण प्रबन्धकों का एक अति उपयोगी साधन है जिसे प्रत्येक जिम्मेदार प्रबन्धक अवश्य प्रयोग करता है। किसी भी उपक्रम में निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु नियंत्रण आवश्यक होता है, भले ही कोई पसन्द करे या न करे। नियंत्रण के विरोध से प्रबन्धक को निराश नहीं होना चाहिए और विरोध के कारणों का पता करके उन्हें यथासम्भव दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। इस सकारात्मकता हेतु निम्न सुझाव दिए जा सकते हैं– (1) उद्देश्यों एवं लक्ष्यों की स्पष्ट व्याख्या, (2) वास्तविक निष्पादन के उचित मूल्यांकन उपरान्त अभिलेखन, (3) मितव्ययिता, (4) लोचशीलता, (5) अपवाद का सिद्धान्त, (6) लक्ष्यों के निर्धारण में अधीनस्थों का सक्रिय सहयोग, (7) अधिकारी नियंत्रण के स्थान पर लक्ष्य नियंत्रण के स्थान पर तथ्य नियंत्रण का प्रयोग, (8) महत्वपूर्ण जाँच बिन्दुओं की स्थापना, (9) संगठन योजना के कमजोर बिन्दुओं को मजबूत बनाना, (10) उचित

स्रोतों द्वारा नियंत्रण, (11) अपवादात्मकता आदि।

19.8 नियंत्रण प्रक्रिया के चरण

नियंत्रण प्रक्रिया में सामान्यतः निम्नलिखित चार तत्वों का समावेश किया जाता है– (1) लक्ष्यों एवं प्रमापों का निर्धारण करना, (2) वास्तविक निष्पादन का मापन करना, (3) निष्पादन की तुलना प्रमापों से करना, और (4) सुधारात्मक कार्यवाही करना।

(1) लक्ष्यों एवं प्रमापों का निर्धारण करना –यह नियंत्रण प्रक्रिया के अंतर्गत उठाया जाने वाला सबसे पहला कदम होता है। इसके अंतर्गत लक्ष्यों, नीतियों, योजनाओं, मान्यताओं या किन्हीं ऐसे प्रमापों का निर्धारण करना है जिनके आधार पर किसी कर्मचारी के कार्य का भविष्य में मापन किया जा सके। ये प्रमाप किसी कार्यकलाप के ऐसे पुर्नानुमानित स्तर होते हैं जिनसे वास्तविक कार्य की तुलना की जाती है। कोई भी कार्य सही ढंग से हो रहा है, या नहीं इस बात की जानकारी उस समय तक नहीं हो सकती जब तक कि प्रमापों को निर्धारित नहीं कर दिया जाता है। **कुण्ट्ज एवं ओ' डोनेल के शब्दों में,** ''प्रमाप निश्चित कसौटी होते हैं जिनके आधार पर वास्तविक कार्य निष्पादन को मापा जा सकता है। ये उपक्रम के विभागों के लक्ष्यों की अभिव्यक्ति को इस प्रकार से प्रदर्शित करते हैं जिससे कि निर्धारित कर्तव्यों की पूर्ति को इन लक्ष्यों से मापा जा सके।'' इस प्रकार वास्तविक निष्पादन के मापने के प्रमाप साधन होते हैं। ये प्रमाप स्पष्ट रूप से निर्धारित किये जाने चाहिए। साथ ही प्रमाप सभी के समझने योग्य एवं सभी को स्वीकार होने चाहिए। जहां तक हो सके प्रमाप परिमाणात्मक रूप में स्पष्ट किया जाना चाहिए ताकि उन्हें सफलतापूर्वक समझा जा सके। परिमाणात्मक प्रमापों का एक लाभ यह भी है कि इससे यह निश्चित करना आसान होता है कि विचलन किस सीमा तक स्वीकार होंगे। प्रमापों के निर्धारण के सम्बन्ध में यह स्पष्ट रूप से उल्लेखनीय है कि प्रमाप बहुत अधिक ऊँचे अथवा बहुत अधिक नीचे नहीं रखे जाने चाहिए।

(2) वास्तविक निष्पादनों का मापन –वास्तविक निष्पादनों का मापन करना नियंत्रण प्रक्रिया का दूसरा महत्वपूर्ण कदम है। प्रमाप अपेक्षित निष्पादन का निर्धारण करते हैं, किन्तु यह आवश्यक नही **कि** अपेक्षित एवं वास्तविक निष्पादन एक ही हों। अतः वास्तविक निष्पादन का सही–सही मूल्यांकन करने के लिए निम्नलिखित विधियों का उपयोग किया जा सकता है–

1. प्रत्यक्ष व्यक्तिगत अवलोकन एवं निरीक्षण द्वारा,
2. नियमित प्रतिवेदनों द्वारा,
3. सर्वेक्षण द्वारा, और
4. सांख्यिकीय एवं गणितीय विधियों द्वारा।

निम्नलिखित बातों को वास्तविक प्रगति का मापन करते समय ध्यान में रखना चाहिए– (1) प्रगति के आंकड़े यथासम्भव पूर्णतया सही होने चाहिए। (2) कार्य–निष्पादन विषयक आंकड़े नियमित

रूप से तथा निरंतर तैयार किये जाने चाहिए। (3) निष्पादन मापन हेतु प्रमाप का मापन पूर्वापेक्षी अर्थात् पहले से यह आभास देने वाला होना चाहिए कि आगे क्या होने जा रहा है जिससे विचलन होने से पहले ही इसका संकेत मिल जाय एवं उनके कारणों को दूर किया जा सके। (5) व्यक्तिगत गुणों का मापन व्यक्तिगत अवलोकन द्वारा सफलता से किया जा सकता है।

(3) निष्पादनों की प्रमापों से तुलना –नियंत्रण प्रक्रिया का तीसरा चरण वास्तविक निष्पादनों की निर्धारित प्रमापों से तुलना करके विचलनों को ज्ञात करना है। **हेनरी फोर्ड** के शब्दों में, ''एक ही तरह की दो मशीनों का एक ही पुर्जा एक ही तरह का नहीं होता।'' अतः विभिन्नता होना प्रकृति का नियम है। देखने की आवश्यकता यह है कि यह विचलन अथवा अन्तर कितना है। यह विचलन महत्वहीन हो सकता है, स्वीकृत सीमा के अंदर हो सकता है, अथवा बाहर भी हो सकता है। यदि विचलन स्वीकृत सीमा के अंदर न हो अर्थात् बाहर हो तो यह प्रमाप का अपवाद माना जाता है और उसे पृथक् कर दिया जाना चाहिए। जो अपवाद सामने आये उनके कारणों की खोज करी चाहिए। विचलन के कारणों की खोज करना इसलिए आवश्यक है क्योंकि कारणों की जानकारी के अभाव में सुधारात्मक कदम उठाना कठिन होता है। परन्तु विचलन के कारणों को ज्ञात करना एक जटिल कार्य है। इसमें इस तथ्य का पता लगाया जाता है कि गलती आखिर योजना बनाने में की गई है अथवा उसे योजना को क्रियान्वित करने में की गई है। जांचकर्ता को इस संदर्भ में निम्न बातों को और ज्ञात करना चाहिए– (1) विचलन का कारण स्थायी है या अस्थायी, विचलन बढ़ रहा है या घट रहा है? (2) विचलन का प्रभाव क्या है? (3) विचलन का आकार क्या है? (4) मूल्यांकन के द्वारा प्रभावों में सुधार किस प्रकार किया जा सकता है?

(4) सुधारात्मक कार्यवाही –नियंत्रण प्रक्रिया का अन्तिम चरण सुधारात्मक कार्य करना है। यदि वास्तविक निष्पादन एवं प्रमापों के मध्य विचलन एक निश्चित सीमा से अधिक हो, तो सुधारात्मक कार्यवाही करना अपरिहार्य हो जाता है, सुधार सम्बन्धी कुछ निर्णय ऐसे हो सकते हैं जो बिगड़े हुए कार्य को सुधार दें। इन्हें 'सुधारात्मक कार्य' की संज्ञा दी जा सकती है, सुधार सम्बन्धी कुछ निर्णय ऐसे हो सकते हैं जो भविष्य के लिए उत्तम हों। नियंत्रण का सारा 'सार' सुधारात्मक कार्यवाही में ही निहित है। **जॉर्ज टेरी** के शब्दों में, ''सुधार के बिना नियंत्रण शून्यवत् है और इसकी कोई उपयोगिता नहीं है।'' सुधारात्मक कार्य ऐसा हो जिसे सम्पूर्ण उपक्रम को प्रभावित किये बिना ही सम्पन्न किया जा सके एंव सुधारा जा सके। किंतु यदि वह नियोजन, संगठन, समन्वय तथा अभिप्रेरण आदि प्रबंधकीय कार्यों को प्रभावित करता है तो ऐसी स्थिति में आपसी विचार–विमर्श के पश्चात् ही सुधारात्मक कार्य किया जाना चाहिए।

19.9 सारांश

नियंत्रण प्रबन्धकीय प्रक्रिया का मूलभूत कार्य है। यह वास्तव में कार्य निष्पादन को मापने और आवश्यकतानुसार सुधारात्मक कार्य करने की क्रिया है ताकि इस बात से आश्वस्त हुआ जा सके कि संगठनात्मक लक्ष्यों, योजनाओं व निर्देशों के अनुसार काम काज चल रहा है।

मेरी कुशिंग नाइल्स–"नियंत्रण किसी लक्ष्य या लक्ष्यों के समूह की ओर निर्देशित क्रियाओं के मध्य सन्तुलन बनाए रखना है।"

नियंत्रण प्रबन्ध का अन्तिम परन्तु प्रमुख कार्य है जो संस्था के सभी स्तरों पर लागू होता है। अच्छी नियंत्रण प्रणाली हेतु हैरोल्ड कुण्ट्ज एवं ओ' डोनेल ने 14 नियंत्रण सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है :– (1) उद्देश्यों के आश्वासन का सिद्धान्त, (2) नियंत्रण की कार्यकुशलता का सिद्धान्त, (3) नियंत्रण के उत्तरदायित्व का सिद्धान्त, (4) प्रत्यक्ष नियंत्रण का सिद्धान्त, (5) भावी नियंत्रण का सिद्धान्त, (6) योजनाओं के प्रतिबिम्ब का सिद्धान्त, (7) संगठनात्मक उपयुक्तता का सिद्धान्त, (8) नियंत्रणों की वैयक्तिकता का सिद्धान्त, (9) अपवाद का सिद्धान्त, (10) महत्वपूर्ण बिन्दु नियंत्रा का सिद्धान्त, (11) प्रमाप का सिद्धान्त, (12) नियंत्रण के लोच का सिद्धान्त, (13) पुनर्विचार का सिद्धान्त, एवं (14) कार्यवाही का सिद्धान्त।

नियंत्रण प्रबन्धकों का एक अति उपयोगी का एक अति उपयोगी साधन है, जो संस्था में कुशलता में वृद्धि, उत्पादन लागत में कमी, जोखिम से सुरक्षा, भविष्य के नियोजन में सहायता, अनुशासन की स्थापना आदि को प्राप्त करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। इसे पूरा करने में प्रबन्धक को कुछ कठिनाईयां भी होती है। जैसे – प्रमाप निर्धारण में कठिनाई, अत्यधिक लागत, अधीनस्थों द्वारा विरोध, सुधारात्मक कार्यवाही असम्भव, व्यक्तिगत उत्तरदायित्व के निर्धारण में कठिनाई आदि।

19.10 महत्वपूर्ण सारांश

- **नियंत्रण** –नियंत्रण प्रबन्ध का वह महत्वपूर्ण कार्य है जो इस बात के निर्धारण से सम्बन्ध रखता है कि कार्य निर्धारित उद्देश्यों, नीतियों, कार्यक्रमों, निर्देशों और नियमों के अनुसार हो रहे हैं कि नहीं और उसके क्या कारण हैं और उन्हें पूरा करने के लिए क्या कदम उठाए जाने चाहिए।
- **लागत नियंत्रण** –न्यूनतम लागत पर अधिकतम उत्पादन तो प्रत्येक व्यवसायी का प्रमुख ध्येय होता है और इसकी पूर्ति हेतु लागत नियंत्रक जरूरी होता है।
- **प्रमाप का सिद्धान्त** – इस सिद्धान्त के अनुसार नियंत्रण की प्रभावी प्रणाली हेतु निश्चित प्रमापों की स्थापना करना आवश्यक है। प्रमाप उद्देश्यात्मक, उपयुक्त और निष्पक्ष होने चाहिए।

19.11 आवश्यक प्रश्न

प्रश्न 1. प्रबन्धकीय नियंत्रण के आशय लक्षण और क्षेत्र की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए।

प्रश्न 2. नियंत्रण प्रक्रिया में मौलिक चरण क्या होते हैं? नियंत्रण की परिसीमाओंा को बताइए।

प्रश्न 3. नियंत्रण की प्रमुख विधियों की संक्षिप्त विवेचना कीजिए।

प्रश्न 4. प्रबन्धकीय नियंत्रण के क्षेत्र, सिद्धान्त और महत्व को संक्षेप में बताइए।

प्रश्न 5. एक कुशल नियंत्रण के लिए आवश्यक बातें क्या है।

प्रश्न 6. नियंत्रण की प्रक्रिया संक्षेप में लिखिए।

प्रश्न 7. नियंत्रण की प्रकृत और क्षेत्र को रेखांकित कीजिए।

कुछ उपयोगी पुस्तकें

- प्रबन्ध के सिद्धान्त एस के सिंह प्रयाग पुस्तक भवन इलाहाबाद 2006
- व्यावसायिक प्रबन्ध ओ. पी. राय बी. के. सिंह वैभवसम्मी प्रकाषन, वाराणासी, 2012
- औद्योगिक संगठन एवं प्रबन्धन, आर.सी. गुप्ता, साहित्य भवन पब्लिकेषन आगरा, 2003
- व्यवसायिक संगठन, जगदीष प्रकाष, प्रयाग पुस्तक भवन, 2014
- औद्योगिक प्रबन्ध, जे.के. जैन, प्रतीक प्रकाषन आगरा, 2001

इकाई– 20 नियंत्रण की तकनीकें

इकाई की रूपरेखा

20.0 उद्देश्य

20.1 प्रस्तावना

20.2 परम्परागत तकनीकें

20.2.1 बजटरी नियंत्रण

20.2.2 मानक लागत

20.3 आधुनिक तकनीकें

20.3.1 सम–विच्छेद विश्लेषण

20.3.2 प्रबन्ध अंकेक्षण

20.3.3 संख्यात्मक नियंत्रण

20.3.4 कार्यक्रम मूल्यांकन तथा पुनरावलोकन तकनीक

20.3.5 संकट मार्ग विधि

20.4 सारांश

20.5 महत्वपूर्ण सारांश

20.6 आवश्यक प्रश्न

20.0 उद्देश्य

इस अध्याय के अध्ययन से आप निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर दे पायेंगे।

- ❖ नियंत्रण की तकनीकेंके आशय की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए।
- ❖ नियंत्रण की आधुनिक तकनीकें की संक्षिप्त विवेचना कीजिए।
- ❖ प्रबन्धकीय नियंत्रण के परम्परागत तकनीकें को संक्षेप में बताइए।
- ❖ नियंत्रण से हस्तक्षेप कैसे भिन्न है।
- ❖ पर्ट एक लघु टिप्पली लिखिए।
- ❖ बजटरी नियंत्रण की क्षेत्र को रेखांकित कीजिए।

20.1 प्रस्तावना

किसी भी उपक्रम में निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु अनेक तकनीकों का प्रयोग करके प्रबंधकीय नियंत्रण किया जाता है। सफलता प्राप्ति आवश्यक होता है और उस हेतु कोई निर्धारित प्रारूप नहीं होता है अतः प्रबंधक परिस्थिति जन्म निर्णय लेता हैं।

20.2 परम्परागत तकनीकें

नियंत्रण की जिन विधियों को औद्योगिक प्रबन्ध की प्रारम्भिक अवस्था में अपनाया गया, उनका आधार यह अवधारणा थी कि बिना अनुशासन के कर्मचारी आलसी व कामचोर हो जाता है तथा उसमें उत्तरदायित्व की भावना का सृजन नहीं होने पाता। इसलिए निष्ठापूर्वक काम को सम्पादित करने एवं उत्तरदायित्व की भावना का विकास करने के लिए नियंत्रण अपरिहार्य है, जो दण्ड, डर व अन्य प्रतिबन्धों के रूप में हो सकता है। अन्य शब्दों में हम कह सकते हैं कि कर्मचारियों की स्वतंत्रता पर अंकुश लगाना ही नियंत्रण माना जाता था। इस विधि के अंतर्गत कर्मचारी अपने विचारों को वरिष्ठ अधिकारियों के सामने रखने से कतराते हैं और चुपचाप उनके ही निर्णयों को ही स्वीकारते हैं। इस विधि के अंतर्गत संदेश एकमार्गीय होता था।

सीमाएं—इस पद्धति की कुछ सीमाएं भी हैं जो कि अग्रलिखित है—

1. कर्मचारियों की स्वयं निर्णय लेने की क्षमता नष्ट हो जाती है।
2. कर्मचारी अपने कार्यों का निष्पादन करते समय भयभीत रहते है।
3. इस पद्धति में द्विमार्गीय संदेशवाहन का अभाव पाया जाता है।
4. कर्मचारियों द्वारा कार्य के न्यूनतम स्तर को प्राप्त करने के लिए ही प्रयास किया जाता है।
5. कर्मचारियो को अपने कार्य की सुरक्षा का खतरा हमेशा लगा रहता है।

20.2.1 बजटरी नियंत्रण

बजटों को नियंत्रण के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण और सबसे अधिक काम में लिये जाने वाले उपकरणों के रूप में देखा जाता है। वास्तव में बजट संगठनात्मक नियंत्रण कार्यक्रमों के आधारभूत अंग होते है। बजट किसी संगठन के उद्देश्य, योजनाओ तथा कार्यक्रमों का परिमाणवाची विवरण होते हैं। ये परिचालनों को मापने और उन्हें समायोजित करने के लिए प्रमाप प्रस्तुत करते हैं। बजटों से उपक्रम की कार्यप्रणाली के समस्त पक्षों का नियमन होता है। प्रत्येक संगठन द्वारा समग्र रूप में बजटों को तैयार किया जाता हैं। इनसे यह पता चलता है कि आगतों पर कितना खर्च किया जायेगा और निर्गतों से क्या प्राप्ति होगी, उपक्रम के विभिन्न कार्यो, विभागों, कार्यक्रमों तथा परियोजनाओं के लिए अनेक सहायक बजटों रोकड, सामाग्री, मानव संसाधन, उत्पादन, पूंजी कार्यक्रम आदि का निर्माण किया जाता हैं।

बजटों के माध्यम से उपक्रम के दिन प्रतिदिन के परिचालनों को नियंत्रित किया जाता है। बजटीय प्रमापों से वास्तविक निष्पादन की तुलना कर विचलनों की पहचान व विश्लेषण किया जाता है और बजटों के अनुरूप परिचालनों को बनाये रखने के लिए सुधारात्मक कार्यवाही की जाती है। बजटों में परिचालनों अथवा बाहरी वातावरण जैसे प्रतियोगिता आदि में परिवर्तन किये जाने पर समायोजन किया जाना चाहिए।

उदाहरण–

फॉरचून लि0, बिलासपुर को 1 जनवरी, 2005 को उत्पादन प्रारम्भ करता है। एक इकाई की मूल लागत 30रु0 सम्भावित है, जिसमें से 18 रू0 सामग्री व 12 रू0 श्रम का है। इसके अतिरिक्त परिवर्तनशील व्यय 6रू0 प्रति इकाई तथा स्थिर व्यय 20,000 रू0 प्रति माह सम्भावित है। 5 प्रतिशत नकद छूट प्राप्त करने के लिए सामग्री नकद खरीदी जाती है। विक्रय का एक–चौथाई भाग नकद होगा और शेष उधार जो बाद के माह से वसूल होगा। व्यय जिस माह में होने है, उसी माह में भुगतान किये जाएँग। विक्रय मूल्य 60रू0 प्रति इकाई निर्धारित है। निर्मित व विक्रय की गई इकाइयाँ निम्न प्रकार सम्भावित हैं :

Fortune Ltd. Bilaspur has to start production on 1st January, 2005. The prime cost of one unit is expected to Rs. 30, out of which Rs. 18 is for materials and Rs. 12 for labour. In addition variable expenses per unit is expected to be Rs. 6 and fixed expensed per month will be Rs. 20,000. Materials are purchased for cash to avail for the cash discount of 5%. One-fourth of sales will be for cash and rest on credit for settlement in the following month. Expenses are payable in the month in which they are incurred. Selling price is fixed at Rs. 60 per unit. The number of units manufactured and sold are expected to be as under :

January	1,000	April	2,000
February	1,400	May	2,300
March	1,700	June	2,400

30 जून, 2005 को समाप्त होने वाले छह माह के लिए, कार्यशील पूँजी की आवश्यकता दर्शाते हुए रोकड़ बजट तैयार कीजिए।

Prepare the Cash Budget indicating the requirements of working capital for six months ending on 30th June, 2005.

Solution **Cash Budget**

(For six months from Jan. to June, 2005)

Particulars	Jan.	Feb.	March	April	May	June
	Rs.	Rs.	Rs.	Rs.	Rs.	Rs.
Receipts :						
Opening Balance	-	40,100	43,240	34,410	18,110	5,660
		Cr.	Cr.	Cr.	Cr.	
Cash Sales	15,00	21,000	2,500	30,000	34,500	36,000
Collection-from						
Debtors	-	45,000	63,000	76,500	90,000	1,03,500
Total Receipts	15,000	25,900	45,260	72,090	1,06,390	1,45,160
Payments :						
Materials						
(Less 5%)	17,100	23,940	29,070	34,200	39,330	41,040
Wages	12,000	16,800	20,400	24,000	27,600	28,800
Variable						
Expenses	6,000	8,400	10,200	12,000	13,800	14,400
Fixed Expenses	20,000	20,000	20,000	20,000	20,000	20,000
Total Payments	55,100	79,670	79,670	90,200	1,00,730	1,04,240
Closing Balance	40,100	34,410	34,410	18,110	55,660	40,920
	Cr.	Cr.	Cr.	Cr.		

20.2.2 मानक लागत

मानक एक पूर्वानुमान हैं जो एक संस्था के दैनिक कार्यो के मार्गदर्शक तत्वों के रूप में काम में लायी जाती हैं। इनके आधार पर भविष्य में क्या करना है, इसका पहले से ही निर्धारण करना सम्भय हो जाता हैं। अतः इन्हें नियंत्रण का एक साधन माना जाता है। इसमें सामग्री, विचरण को ज्ञात करते है।

मानक लागत निर्धारण का एक काल्पनिक उदाहरण नीचे दिया गया है:

Standard Cost Card of Product A

Direct Materials :	**Per Unit Rs.**	**Rs.**
6 kg. of X @ 50 paise per kg.	3.00	
4 kg. of Y @ 60 paise per kg.	2.40	
10	5.40	
1 Normal Loss 10%	-	
9 kg.	5.40	
Scrap Value	0.90	4.50
Direct Labour :		
Process X 2 hours @ 50 paise per hour	1.00	
Process Y 4 hours @ 25 paise per hour	1.00	2.00
Variable Overheads:		
Process X Rs. 2 per unit	2.00	
Process Y Rs. 1.50 per unit	1.50	3.50
Fixed Overheads :		
Production : 50% of Direct Labour	1.00	
Administration : 25% of Direct Labour	0.50	
Selling and Distribution : 50 paise per unit	0.50	2.00
Standard Cost		
Standard Profit		12.00
Standard Selling Price		3.00
		15.00

20.3 आधुनिक तकनीकें

परम्परागत विधियों की कमियों को समाप्त करने एवं संस्था की दीर्घकालीन लाभदायकता में वृद्धि करने के प्रयोजन से नियंत्रण की आधुनिक विधियों का विकास किया गया। यह प्रणाली अपने में परम्परागत विधियों में अन्य समायोजन से क्रियान्वित होती है। परम्परागत और आधुनिक तकनीकें निम्नलिखित होती हैं।

20.3.1 सम–विच्छेद विश्लेषण

यह विधि नियोजन एवं नियंत्रण की एक मूल्यवान तकनीक है। इस तकनीक का आविष्कार **वाल्टर रॉटेन स्ट्रॉच** ने किया था। यह तकनीक लाभ नियोजन, लागत नियंत्रण, उपयुक्त उत्पादन मात्रा एवं विक्रय मात्रा को निर्धारित करने में बहुत उपयोगी है। इस तकनीक को लागत

मात्रा–लाभ–विश्लेषण के नाम से भी पुकारा जाता है।

इस विश्लेषण में सम–विच्छेद बिन्दु पर विक्रय की वह मात्रा प्रदर्शित होती है जहां कुल आगम और कुल लागत दोनों बराबर होती है। इस मात्रा के विक्रय करने से उपक्रम को न लाभ होगा और न हानि। इस बिन्दु से अधिक विक्रय की दशा में लाभ और इससे कम विक्रय करने की दशा में हानि होगी। यह तकनीक तीन मान्यताओं पर आधारित है :– (1) विक्रय की मात्रा चाहे जो हो परन्तु कुछ लागतें स्थिर प्रकृति की होती है जैसे– किराया, बीमा, प्रशासनिक व्यय आदि। (2) कुछ लागतें विक्रय मात्रा के साथ–साथ रेखीय अनुपात में बढ़ती हैं, जैसे श्रम व सामग्री। (3) विक्रय मूल्य स्थिर होता है।

यह तकनीक विभिन्न विक्रय मात्राओं पर होने वाले लाभ की एक रूपरेखा प्रस्तुत करता है। सम–विच्छेद विश्लेषण निर्धारित लाभ–उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए न्यूनतम विक्रय मात्रा की पहचान करने और किसी उत्पाद–रेखा का परित्याग करने अथवा नयी उत्पाद–रेखा को शुरू करने के निर्णय में भी काफी उपयोगी हैं।

20.3.2 प्रबन्ध अंकेक्षण

प्रबन्ध अंकेक्षण के अन्तर्गत वर्तमान व भावी वातावरणों के संदर्भ में प्रबन्ध द्वारा अपनी कार्यप्रणाली व परिचालनों के तमाम पक्षों का स्वयं द्वारा सर्वाधिक रूप से मूल्यांकन किया जाता है। यह नियंत्रण का संर्वाधिक व्यापक और प्रभावी उपकरण है। इसका उद्देश्य समग्र प्रबन्धकीय निष्पादन का मूल्यांकन करना तथा उसे समुन्नत करना होता है। इसके द्वारा यह मूल्यांकित किया जाता है कि उपक्रम के समग्र अल्पकालीन व दीर्घकालीन उद्देश्यों तथा योजनाओं के संदर्भ में वर्तमान स्थिति क्या है। **कुण्ट्ज एवं ओ' डोनेल** के अनुसार ''प्रबन्धकों के गुणों का अलग–अलग विश्लेषण एवं संस्था की प्रबन्ध व्यवस्था पर उसके प्रभाव का मूल्यांकन ही प्रबन्ध अंकेक्षण कहलाता है।'' इस विधि के प्रमुख लाभ है : (1) नीतियों व कार्यविधियों की उपयुक्ता व व्यावहारिता प्रकाश में आती है। (2) प्रबन्धकों में जागरूकता बढ़ती है, तथा उन्हें नवीन प्रणालियों का ज्ञान होता है। (3) प्रबन्धकों के दोषों का ज्ञान हो जाता है, तथा वे अपने कार्य व्यवहार को बदल सकते है। (4) संगठनात्मक संरचना की दुर्बलताओं का पता लगने से उसमें आवश्यक संशोधन किये जा सकते हैं।

20.3.3 संख्यात्मकनियंत्रण

इस तकनीक का उपयोग नवीन योजनाओं का मूल्यांकन करने तथा उन पर नियंत्रण रखने में प्रयोग किया जाता है। जब भी कोई व्यावसायिक उपक्रम किसी नवीन परियोजना का निर्माण करना चाहती है तो विभिन्न आंकडों व सूचनाओं का संग्रहण व विश्लेषण करके उस परियोजना से सम्बन्धित वस्तु की उत्पादन लागत, विक्रय अनुपात, तथा लाभप्रदता की स्थिति का अनुमान संख्यात्मक रूप में लगाया जाता है। इसमें साथ ही परियोजना से सम्बन्धित सामाजिक लाभ व लगातें भी उसके मूल्यांकन में सम्मिलित कर ली जाती हैं। जब ऐसे मूल्यांकन प्रतिवेदन के आधार पर कोई परियोजना क्रियान्वित की जाती है और उत्पाद के विक्रय होने पर वास्तविक परिणामों की तुलना मूल्यांकन रिपोर्ट से की

जाती है, तथा यह पता लगता है कि परिणाम असंतोषजनक है तो परियोजना में आवश्यक संशोधन करने पड़ते हैं। इस प्रकार परियोजना लागतों पर नियंत्रण रखना एवं संसाधनों का श्रेष्ठतम उपयोग करना सम्भव हो जाता है।

20.3.4 कार्यक्रम मूल्यांकन तथा पुनरावलोकन तकनीक

कार्यक्रम मूल्यांकन तथा पुनरावलोकन तकनीक प्रबन्धकीय नियोजन व नियंत्रण की एक विशिष्ट तकनीक है। यह समय, घटना और तन्त्र के विश्लेषण की एक वैज्ञानिक विधि है जिसके अन्तर्गत अमुक क्रियाओं को छोटी–छोटी क्रियाओं में विभक्त करके उनका क्रम निर्धारित किया जाता है। तत्पश्चात् विभिन्न क्रियाओं की पारस्परिक अन्तनिर्भरता को एक मानचित्र द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। इस तकनीक के तीन प्रमुख चरण हैं–

(i) कार्यक्रम के कलेवर की योजना तैयार करना,

(ii) प्रत्येक लघु परियोजना की पूर्णता में लगने वाले समय का निर्धारण करना, और

(iii) कार्यक्रम का संचालन व मूल्यांकन करना।

20.3.5 संकट मार्ग विधि

संकट मार्ग विधि एवं पर्ट के मध्य अत्यधिक निकट का सम्बन्ध होता है, क्योंकि संकट मार्ग का निर्धारण किए बिना परियोजना आगे बढ़ ही नही सकती है। CPMमें भी Net - Work Analysisका उपयोग किया जाता है, किन्तु यह इस मान्यता पर आधारित है कि प्रत्येक क्रिया की अवधि स्थिर है, क्रियाएं दो तरह की हो सकती हैं : महत्वपूर्ण या महत्वहीन। पर्ट में अवधि अनिश्चित मानी जाती है और तीन पूर्वानुमान लगाए जाते है। पर्ट के अन्तर्गत समय एवं घटना पर अधिक बल दिया जाता है, परन्तु सी0 पी. एम0 में क्रिया एवं लागत पर ध्याना केन्द्रित किया जाता है। पर्ट कार्यो के प्रारम्भिक व अंतिम बिन्दुओं से सम्बन्धित है जबकि सी0 पी0 एम0 का सम्बन्ध स्वयं क्रियाओं से ही होता है। इसके अन्तर्गत किसी परियोजना को विभिन्न क्रियाओं में विभक्त करके अन्तर सम्बन्ध मालूम किये जाते हैं। महत्वपूर्ण क्रियाओं को पृथक् करके उन पर विशेष ध्यान दिया जाता है। अन्य शब्दों में, महत्वपूर्ण क्रियाओं पर धन, समय और परिश्रम बेकार नही करना पड़ता है–

उदाहरण–1 : एक परियोजनाा में निम्न विशेषतायें है –

A Project has the following characteristics–

Activity	Most Optimistic Time	Most Pessimistic Time	Most Likely Time
1-2	1	5	1.5

2-3	1	3	2
2-4	1	5	3
3-5	3	5	4
4-5	2	4	3
4-6	3	7	5
5-7	4	6	5
6-7	6	8	7
7-8	2	6	4
7-9	5	8	6
8-10	1	3	2
9-10	3	7	5

पर्ट संरचना बनाइएं प्रत्येक घटना हेतु संकट मार्ग और विचरणा ज्ञात कीजिए।

Construct a PERT network Find path and variance for each event.

Solution : The calculation of expected time and variance for each avtivity in the given problem is shown below:

Activity	Estimated time		Expected Time		Variance
1	2	3	4	5	6
1-2	1	5	6	2	4/9
2-3	1	3	8	2	1/9
2-4	1	5	12	3	4/9
3-5	3	5	16	4	1/9

4-5	2	4	12	3	1/9
4-6	3	7	20	5	4/9
5-7	4	6	20	5	1/9
6-7	6	8	28	7	1/9
7-8	2	6	16	4	4/9
7-9	5	8	24	6-16	1/9
8-10	1	3	8	2	1/9
9-10	3	7	20	5	4/9

Critical Path is 1-2-4-6-7-9-10

The expected time for completing the project will be.

2+3+5+7+6+16+5=28.16 days

Project variance is total of all variane = 77/36=2.14

Standard deviation of the Project = $\sqrt{2.14}$=1.46.

Example 2:

निम्न घटनाओं को पर्ट संरचना में प्रस्तुत कीजिए और निर्धारित कीजिए–

Present the following activites in the form of a PERT network and determine-

(a) the expected time their variance,

(b) the eariliest and latest variance,

(c) the critical path,

(d) the probability of completing the project within scheduled completion of 48 days

Activity	*Completion time*

	Optimistic	*Pessimistic*	*Most likely*
1-2	4	12	8
2-3	1	7	4
2-4	8	16	12
3-5	3	7	5
4-5	0	0	0
4-6	3	9	6
5-7	3	9	6
5-8	4	8	6
7-9	4	12	8
8-9	2	8	5
9-10	4	16	10
6-10	4	8	6

Solution (a) the exected activity time is calculated by using by the formula.

$t_e=(t_0+4t^m+t_p)/16$

The variance is calculated by the formula:

$a^2=(tp - t_a)/16^2$

The expected time and variance are given in thej table.

Activity	Optimistic	Pessimistic	Most likely	Expecte	Variance
	(t_o)	(t_p)	(t_m)	(t_e)	(a^2)
1-2	4	12	8	8	1.78

2-3	1	7	4	4	1.00
2-4	8	16	12	12	1.78
3-5	3	7	5	5	0.44
4-5	0	0	0	0	0.00
4-6	3	9	6	6	1.00
5-7	3	9	6	6	1.00
5-8	4	8	6	6	0.44
7-9	4	12	8	8	1.78
8-9	2	8	5	5	1.00
9-10	4	16	10	10	4.00
6-10	4	8	6	6	0.44

(b) The earliest expected times are:

$E(\mu_1)=0$

$E(\mu_2)=0+8=8$

$E(\mu_3)=8+4=12$

$E(\mu_4)=8+12=20$

$E(\mu_5)=\text{max. } (12+5.20+0)=20$

$E(\mu_6)=20+6=26$

$E(\mu_7)=20+6=26$

$E(\mu_8)=20+6=26$

$E(\mu_9)=\text{max.}(26+8.\ 26+5)=34$

$E(\mu_{10})$=max.(34+10.26+6)=44

The latest expected times are:

$E(L_{10})$=44

$E(L_9)$=44.10=34

$E(L_8)$=34-5=29

$E(L_7)$=34- 8=26

$E(L_6)$=44-6=38

$E(L_5)$=min. (26 - 6. 29 - 6)=20

$E(L_4)$=min. (20 – 0. 36 - 6)=20

$E(L_3)$=20 – 5 =15

$E(L_2)$=min. (15 – 4. 20 - 12)=8

$E(L_1)$=8 – 8 = 0

(c) The eritical path as shown in network is :

1 – 2 – 4 – 5 – 7 – 9 – 10

The expected project completion time is :

8 + 12 + 0 + 6 + 8 + 10 + 44 days

Project variance (Q^2) is :

1.78 + 1.78 + 0 + 1 + 1.78 + 4=10.34

(d) If due date of Project completion is 48 days then :

$Z=\frac{48-44}{3.216}=\frac{4}{3.216}= 1.24$

From the standard normal table, the probability of meeting the due date is 0.3925.

20.4 सारांश

किसी भी उपक्रम में निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु अनेक तकनीकों का प्रयोग करके प्रबंधकीय नियंत्रण किया जाता है। सफलता प्राप्ति आवश्यक होता है और उस हेतु कोई निर्धारित प्रारूप नहीं

होता है। अतः प्रबंधक परिस्थितिजन्य निर्णय लेता है।

नियंत्रण की अनेक तकनीकों को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है – (1) परम्परागत तकनीक एवं (2) आधुनिक तकनीक। परम्परागत तकनीक के अन्तर्गत मुख्य रूप से बजटरी नियंत्रण और मानक नियंत्रण आते हैं, जबकि आधुनिक तकनीक के अन्तर्गत प्रमुख रूप से सम–विच्छेद विश्लेषण, पर्ट, सी0पी0एम0, सांख्यिकीय गुण नियंत्रण एवं प्रबन्ध अंकेक्षण आते हैं।

20.5 महत्वपूर्ण सारांश

- **बजटरी नियंत्रण** –बजट प्रत्येक संगठन द्वारा तैयार किया जाता है।बजटीय प्रमापों से वास्तविक निष्पादन की तुलना कर विचलनों की पहचान व विश्लेषण किया जाता है और बजटों के अनुरूप परिचालनों को बनाये रखने के लिए सुधारात्मक कार्यवाही की जाती है, बजटरी नियंत्रण कहलाता है।
- **म*ानक* नियंत्रण**– मानक एक पूर्वानुमान हैं जो एक संस्था के दैनिक कार्यो के मार्गदर्शक तत्वों के रूप में काम में लायी जाती हैं। इनके आधार पर भविष्य में क्या करना है, इसका पहले से ही निर्धारण करना सम्भय हो जाता हैं।
- **सम–विच्छेद विश्लेषण** – सम–विच्छेद बिन्दु पर विक्रय की वह मात्रा प्रदर्शित होती है जहां कुल आगम और कुल लागत दोनों बराबर होती है। इस मात्रा के विक्रय करने से उपक्रम को न लाभ होगा और न हानि।
- **कार्यक्रम मूल्यांकन तथा पुनरावलोकन (पर्ट)** – कार्यक्रम मूल्यांकन तथा पुनरावलोकन तकनीक प्रबन्धकीय नियोजन व नियंत्रणा की एक वि''ाष्ट तकनीक है। यह समय, घटना और तन्त्र के विश्लेषण की एक वैज्ञानिक विधि है जिसके अन्तर्गत अमुक क्रियाओं को छोटी–छोटी क्रियाओं में विभक्त करके उनका क्रम निर्धारित किया जाता है।

20.6 आवश्यक प्रश्न

प्रश्न 1. प्रबन्धकीय नियंत्रण के आशय लक्षण और क्षेत्र की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए।

प्रश्न 2. नियंत्रण प्रक्रिया में मौलिक चरण क्या होते है? नियंत्रण की परिसीमाओंा को बताइए।

प्रश्न 3. नियंत्रण की आधुनिक तकनीकें की संक्षिप्त विवेचना कीजिए।

प्रश्न 4. प्रबन्धकीय नियंत्रण के परम्परागत और आधुनिक तकनीकें को संक्षेप में बताइए।

प्रश्न 5. नियंत्रण से हस्तक्षेप कैसे भिन्न है।

प्रश्न 6. पर्ट और सी0 पी0 एम0 पर एक लघु टिप्पली लिखिए।

प्रश्न 7. एक कुशल नियंत्रण के लिए आवश्यक बातें क्या है।

प्रश्न 8. नियंत्रण की प्रक्रिया संक्षेप में लिखिए।

प्रश्न 9. बजटरीनियंत्रण की प्रकृित और क्षेत्र को रेखांकित कीजिए।

कुछ उपयोगी पुस्तकें

- प्रबन्ध के सिद्धान्त एस के सिंह प्रयाग पुस्तक भवन इलाहाबाद 2006
- व्यावसायिक प्रबन्ध ओ. पी. राय बी. के. सिंह वैभवसम्मी प्रकाषन, वाराणसी, 2012
- औद्योगिक संगठन एवं प्रबन्धन, आर.सी. गुप्ता, साहित्य भवन पब्लिकेषन आगरा, 2003
- व्यवसायिक संगठन, जगदीष प्रकाष, प्रयाग पुस्तक भवन, 2014
- औद्योगिक प्रबन्ध, जे.के. जैन, प्रतीक प्रकाषन आगरा, 2001